मराठी की प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ

प्रतिनिधि साहित्य माला

मराठी की प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ

सम्पादक

डाक्टर शान्ति स्वरूप गुप्त

स्नातकोत्तर (सांध्य) संस्था
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

1986

आत्माराम एण्ड संस

दिल्ली लखनऊ

प्रकाशक :
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा :
17, अशोक मार्ग, लखनऊ

संस्करण : 1986

मूल्य : पचास रुपये

मुद्रक :
चोपड़ा प्रिंटर्स, मोहन पार्क
नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

MARATHI KI PRATINIDHI HASYA KAHANIAN
(*Representative Humorous Marathi Stories*)
Edited by Dr. SHANTI SWARUP GUPT

सम्पादकीय

भारतीय समाज में हास्य-विनोद के सम्बन्ध में परम्परा से ही एक दूषित पूर्वाग्रह रहा है। इसी पूर्वाग्रह का परिणाम है कि हमारे साहित्य में आदिकाल से ही हास्य रस के प्रति उपेक्षा-भाव रहा है। संस्कृत वाङ्मय में शृंगार, वीर, करुण को प्रधान रस माना गया है। हास्य आदि शेष छः रसों की स्थिति वही रही जो पाण्डवों में नकुल-सहदेव की। भरतमुनि ने हास्य को स्वतन्त्र रस तक स्वीकार नहीं किया। इस पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य-स्वभाव निसर्ग से ही थोड़ा-बहुत विनोदपूर्ण होता है।

संस्कृत साहित्य में हास्य-विनोद निश्चय ही सम्पूर्ण साहित्य का शतांश है, पर उसकी विपुलता को यदि दृष्टि में रखा जाय तो वह शतांश भी कुछ कम नहीं। नाटक, प्रहसन, चंपू, भाण आदि ललित साहित्य की विधाओं में ही नहीं, ऋग्वेद के 'मंडूक सूक्त', अथर्ववेद संहिता, ब्राह्मण ग्रंथों, वेदान्त, न्याय, व्याकरण, मीमांसा जैसे रुक्ष विषयों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में भी बीच-बीच में विनोद के दर्शन होते हैं। व्याकरण-शास्त्र में पारंगत एक तरुणी ने स्वयंवर के समय युवकों से कुछ शब्दों की विभक्तियां पूछीं जो उन्होंने शब्द के बाह्य आकार को देखकर ग़लत बताईं। उनकी मूर्खता बताते हुए वह युवती कहती है—

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च
अहं कथं द्वितीयास्याद् द्वितीया स्यामहं कथम् ?

—अर्थात् जो 'विहस्य' में षष्ठी, 'विहाय' में चतुर्थी, 'अहं' और 'कथं' में द्वितीया विभक्ति बताते हैं, उनकी पत्नी मैं कैसे बन जाऊं ?

मराठी का प्रारम्भिक साहित्य धार्मिक, पौराणिक और आध्यात्मिक है। उन्नीसवीं शताब्दी तक संत कवियों, पंडित कवियों, आख्यानक कवियों और शहीरों का ही बोलबाला रहा है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम आदि संतकवियों, मुक्तेश्वर, श्रीधर, महीपति आदि आख्यानक-कवियों तथा मोरोपंत वामन सरीखे पंडित-कवियों का एकमात्र उद्देश्य संस्कृत के ज्ञान-भंडार को साधारण जनता के सम्मुख उन्हीं की भाषा में प्रस्तुत करना था। उनकी धर्मपरक रचनाओं में हास्य के लिए बहुत कम स्थान था। अतः जो कुछ विनोद है भी, वह वर्णन-प्रवाह में सहज ही आगया है। विनोद के लिए विनोद की सृष्टि नहीं की गई है। हास्य की सृष्टि के लिए वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, उपमा या दृष्टांत

अलंकारों से सहायता ली गई है। संतकवियों में एकनाथ में सर्वाधिक विनोद-बुद्धि थी। उनके 'भोली' नामक भारुड को देखिए :

बाई मैं भोली, बाई री मैं तो भोली
आठ दिन में खाती पूरणपोली
प्याली भर लौनी, घड़ा भर पानी

पंडित-कवियों की रचनाएँ यमक, अनुप्रास, श्लेष आदि के कारण क्लिष्ट हो गई हैं और उनका हास्य चमत्कृति-जन्य है, सहज नहीं।

किसी भी भाषा के आभिजात्य साहित्य की अपेक्षा उसके लोकगीतों, लोक-गाथाओं आदि में हास्य-विनोद अधिक होता है। यही कारण है कि मराठी के शाहीर-कवियों के लावनी-साहित्य में विनोद अधिक मिलता है। यदि एक ओर परशुराम की सुप्रसिद्ध लावनी 'लष्कर चे काय सुख सांगू गे तुज नारी' सर्वथा विनोदपूर्ण है, तो दूसरी ओर रामजोशी की 'छेकापन्हुति' नामक लावनी में निर्मल विनोद की अपेक्षा अश्लीलता अधिक है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन मराठी साहित्य में, जो पद्यप्रधान ही है, हास्य न तो स्वतन्त्र है और न निर्मल; उसमें न तो हास्य के विविध रूप थे और न विविध स्तर।

अन्य भारतीय प्रदेशों के समान महाराष्ट्र में भी अँग्रेजी-सत्ता स्थापित होने के बाद अंग्रेजी वाङ्मय की अनेक विधाओं से प्रेरणा ग्रहण की गई। यूरोप में डिकिन्स, मौलियर तथा अमेरिका में मार्क ट्वेन जैसे उत्कृष्ट हास्य-रचनाकारों की कृतियों से प्रभावित होकर मराठी लेखकों को भी हास्य रचना करने की इच्छा हुई। उधर गद्य के विकास और उसकी सम्पन्नता ने उसका मार्ग प्रशस्त किया, तथापि अपनी वास्तविक समृद्धि के लिए उसे तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक अंग्रेजी साहित्य के प्रकांड पंडित और स्वभाव से विनोदशील विष्णुशास्त्री चिपलूणकर साहित्य-क्षितिज पर प्रकट नहीं हुए। क्रांतिकारी चिपलूणकर को समाज की रूढ़ियों, अंध-परम्पराओं आदि पर आक्रमण करना था, उनके प्रति घृणा-भाव उत्पन्न करना था। इसके लिए उन्होंने वक्रोक्ति का आश्रय लिया जिससे हास्य की सृष्टि हुई। विद्वत्ता एवं विनोद का संगम विरल होता है। फ्रेंच विद्वान सेंटब्रूव्ह के अनुसार "It is not given to everybody to make the mind laugh; and what pleasures can surpass those of the mind ?" पर चिपलूणकर में यह संगम था। इसलिए उन्होंने एक ओर चैन से जीवन बिताने वाले सरकारी कर्मचारियों की खबर ली और दूसरी ओर सुधारक संस्थाओं की विनोदपूर्ण आलोचना की। उनके विनोद में ग्राम्यत्व न होकर विद्वत्ता की चमक है। उसके बाद उनकी परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय आगरकर, गोले तथा वासुदेवराव केलकर को है। आगरकर के 'सुधारक' नामक पत्र के अतिरिक्त 'किर्लोस्कर', 'पुणें वैभव' तथा 'हिन्दू पंच' ने भी महान योग दिया।

पर यह विनोद विनोद के लिए न होकर मत-प्रसार के लिए था।

विनोद जीवन-दर्शन सम्बन्धी एक मनोवृत्ति है। केवल बौद्धिक चमत्कार द्वारा, एक शब्द के अनेक अर्थ कर हास्य-सृष्टि करना वाग्वैदग्ध्य (Wit) कहलाता है। विनोद वाग्वैदग्ध्यसे अधिक व्यापक है। उसकी सार्थकता समाज में छिपे दोषों को विनोद की चिमटी से पकड़ने तथा समाज को उनसे बचाने की प्रेरणा देने में है। जैसे शल्यक्रिया से पूर्व क्लोरोफार्म सुंघाना आवश्यक है, उसी प्रकार समाज के रोगों—दाम्भिकता, जीर्ण रूढ़ि, अन्धविश्वास आदिको दूर करने के हेतु व्यंग्य मीठा उपचार प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस उद्देश्य को अपनाते हुए चिपलूणकर और आगरकर ने भी निबन्ध लिखे थे, पर विनोद का स्वतन्त्र प्रतिपादन श्री कृष्णपाद कोल्हटकर द्वारा ही हुआ। इसीलिए उन्हें 'मराठी का आद्य विनोदाचार्य' कहा जाता है।

समाज सुधार का जो कार्य महाराष्ट्र में आगरकर ने अपने निबंधों, हरिनारायण आपटे ने उपन्यासों तथा केशवसुत ने काव्य द्वारा किया, वही कोल्हटकर ने अपने नाटकों तथा विनोदपूर्ण लेखों द्वारा सम्पन्न किया। होली, श्मशान-यात्रा, परलोक, केशवपन (केश मूंड़ना) आदि कितने ही विषयों में आगरकर एवं कोल्हटकर के विचार समान थे, तथापि यदि प्रथम की लेखनी से रोष और आवेश की चिंगारियां निकली हैं, तो दूसरे की कलम ने वक्रोक्ति, उपहास, व्यंग आदि की रंगबिरंगी फुलझड़ी निर्माण की है। साधारणतः विनोद द्वारा मनोरंजन होता है, पर कोल्हटकर का विनोद मनोरंजन के साथ-साथ जीर्ण विचारों, अन्ध रूढ़ियों तथा कुरीतियों का विध्वंस भी करता है। जैसे भालू गुदगुदा-गुदगुदा कर अपने शत्रु को मारता है, उसी प्रकार कोल्हटकर अपने विरोधियों को विनोद-व्यंग्य द्वारा धराशायी करते थे। उनके ३२ विनोदपूर्ण लेखों का संग्रह 'सुदाम्याचे पोहे' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसमें तीन पात्र हैं—सुदामा, पांडू तात्या और बंडू नाना। इस त्रिकूट की सीधी-साधी, भोली, मूर्खतापूर्ण और सनकी बातों द्वारा एक ओर हास्य की सृष्टि की गई है, तो दूसरी ओर समाज की दूषित रूढ़ियों के प्रति क्षोभ जाग्रत किया गया है। फलित-ज्योतिष, पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध, स्त्रियों पर अत्याचार, जातिभेद, ढोंग आदि की कटु-आलोचना करने के लिए उन्होंने वक्रोक्ति, व्याज-स्तुति, व्याज-निन्दा आदि अस्त्रों का प्रयोग किया है। उनके विनोद में यथार्थ और कल्पना का उत्तम मिश्रण है।

कोल्हटकर के युग में शाब्दिक चमत्कार का बड़ा महत्व था। उन्होंने भी हास्य के लिए श्लेष का आश्रय लिया। 'म्हातारपणचे (बुढ़ापे के) फायदे' में उन्होंने दांत शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोग कर भिन्न-भिन्न अर्थ दिए हैं। "ठोकर लग कर गिरने से दांत टूटने का भय नहीं। बूढ़े पर दरिद्रता का लांछन भी यह कहकर नहीं लगाया जा सकता कि उसके पास दांत कुरेदने को तिनका तक नहीं है।

दूसरों की सम्पत्ति पर दांत रखते या दांतों में तृण धारण कर शरण में जाने के लांछन से भी वह बच जाता है।" उन्होंने शब्दों की नई व्युत्पत्ति कर तथा उन्हें नया अर्थ प्रदान कर भी हास्य उत्पन्न किया है। "भाषा व इतिहास' नामक लेख में हृदय (हृ—हरण करना; दय-करुणा) का अर्थ निर्दय और मस्तक का अर्थ मस्त होने वाला अवयव कर हास्य-सृष्टि की गई है।

अपेक्षा-भंग से सहज ही हास्य उत्पन्न होता है। जब हम किसी बच्चे को बूढ़े की तरह कमर झुकाए, छड़ी की सहायता से चलते देखते हैं अथवा चश्मा लगाकर प्रौढ़ों के समान बातें करते सुनते हैं तो हँसी आए बिना नहीं रहती। कोल्हटकर ने अपेक्षा-भंग के धक्के दे-देकर पाठकों को हँसाया है। विनोद के लिए अतिशयोक्ति की भरमार तो उनके लेखों में सर्वत्र ही मिलती है। इस प्रकार का हास्य स्थूल होता है और सुसंस्कृत रुचि के पाठकों को वह तुष्ट नहीं कर पाता। एक उदाहरण देखिए, "खेलते-खेलते उसमें इतना रम गया कि एक बार मैंने बीड़ी समझ कर ऊंट को ही मुंह में रख कर पीना शुरु कर दिया और पांडूतात्या ने तो हाथी को सुपारी समझकर उसे मुंह में डाल लिया और चूंकि वह दांतों से नहीं टूटा, तो दूसरा हाथी सरोते से काटकर मुंह में डाला।" पर उनकी अतिशयोक्ति सर्वत्र स्थूल नहीं है। रमणीय काव्य-कल्पना और प्रगतिशील, सहानुभूति-प्रवण भावना ने कहीं-कहीं उनकी अतिशयोक्ति को उच्च कोटि का हास्य उत्पन्न करने के योग्य बना दिया है। कल्पना-विलास की दृष्टिसे 'उनके आमचे बैठे खेल' में ताश की बेगम का चित्र देखिए, "उसके नेत्रों में मत्स्य, गति में कूर्म, कटि में नृसिंह, शरीर-रचना में वामन, हृदय में परशुराम का परशु, भौंहों में राम का धनुष, श्यामल केशों में कृष्ण, कण्ठ में विष्णु का शंख एवं जिह्वा में कल्कि की तलवार है। इस प्रकार उसमें सभी अवतारों का अन्तर्भाव हो गया है।"

कोल्हटकर ने उदात्त व हीन कल्पना के विरोध द्वारा भी हास्यसृष्टि की है। 'हजामतीची नीति-मीमांसा' में इसी प्रकार का हास्य है। हजामत की कला में चित्र, नाट्य तथा संगीत का संगम बताते हुए वह लिखते हैं "हाथ में उस्तरा लेकर रक्त से सिर पर चित्रकारी करने वाला नाई किस चित्रकार से कम है..." इसी प्रकार 'माझ्या भीष्मप्रतिज्ञेची विजय' में स्त्रियों के संकुचित जीवन को शास्त्रीय शब्दावली में व्यक्त कर हास्य उत्पन्न किया गया है, 'रसोई, भंडारगृह यही हमारी स्त्रियों का भूगोल है, घर के झगड़े तथा पड़ौसियों की निन्दा ही उनका इतिहास है। व्यंजन बनाना उनका रसायनशास्त्र है और कुंकुम लगाना और गोदना गुदवाना उनकी चित्रकला है।"

विसंगति का प्रयोग लगभग सभी विनोदकारों ने किया है, पर कोल्हटकर की विशेषता है कि वह अतिशयोक्ति, शब्द-चमत्कार और कल्पना-विलास की सहायता से विसंगति को ऐसे कौशल के साथ प्रस्तुत करते हैं कि उससे अभिनव

सौन्दर्य की सृष्टि होती है। नींद में खटमलों तथा उनके छापामार युद्ध का चित्रण तो मजेदार है ही, उनसे तंग आकर बंडूनाना का डूब मरने का निश्चय और असफल प्रयत्न और भी मनोरंजक हैं। "जाड़े के दिन होने के कारण पानी बर्फ की तरह ठंडा था। कूदने से पूर्व उन्होंने हाथ लगा कर पानी देखा तो उनके सम्पूर्ण शरीर में कंपकंपी आ गई। अब उन्होंने आत्महत्या का विचार गर्मियों तक के लिए टाल दिया।" मानव स्वभाव में विस्मृति, बुद्धूपन, सनक आदि दोष विनोद की खान हैं। शास्त्रीय संगीतकार अपने संगीत द्वारा श्रोताओं को कितना कष्ट देते हैं, इस विसंगति को लक्ष्य कर उन्होंने लिखा, 'यदि आवाज जन्म से ही कर्ण-कटु हो, तो बहुत अच्छा है, पर यदि ऐसा नहीं है तो रेंक-रेंक कर उसका अभ्यास करो, क्योंकि आवाज जितनी कर्णकटु होगी, उतनी ही संगीतकला श्रेष्ठ समझी जायगी।" बिल्ली द्वारा रास्ता काटने अथवा सामने विधवा स्त्री दिखाई देने आदि अपशकुनों को मानने वालों की मूर्खता पर भी उन्होंने प्रहार किया है, "पहले तो युद्ध-विभाग के कार्यालय में रसद, तोपखाना, रिसाला, पैदल-सैनिक आदि उपविभागों के साथ ही साथ शकुन-विभाग एवं भविष्यवाणी-विभाग भी खुलना चाहिए और फिर शकुन-विभाग में भी विधवा-विभाग, बिल्ली-विभाग, छींक-विभाग, छिपकली-विभाग बनाकर उनमें कुशल सर्कसवालों या इसी प्रकार के अन्य अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिए। और जिस प्रकार सैनिकों से कवायद कराई जाती है, उसी प्रकार विधवाओं, बिल्लियों तथा छिपकलियों से भी कवायद करानी चाहिये।"

उनके व्यंग्य इतने तीखे होते हैं कि सुननेवाला तिलमिला उठता है। अस्पृश्यता पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने लिखा है, "शूद्र से छूजाने पर जिस प्रकार बंडूनाना सवस्त्र स्नान करते हैं, उसी प्रकार महार-मांग आदि जाति के लोगों के खाते में रकम लिखते समय भी वह लेखनी के निब को पानी में धोकर उसका प्रयोग करते हैं।" इसी प्रकार ब्रिटिश-शासन द्वारा हथियारों पर प्रतिबन्ध की व्यंग्यपूर्ण आलोचना की है, "हथियार-प्रतिबन्ध कानून के अन्तर्गत अंग्रेज सरकार ने उस्तरा तथा नहन्नी न रख कर हम पर कितना भारी उपकार किया है!"

कोल्हटकर के हास्य-विनोद की विशेषता यह है कि वह न कभी अश्लील हुआ है, न ग्राम्य और न असंस्कृत। वह केवल उन्हीं की समझ में आ सकता है जिनका बौद्धिक स्तर ऊंचा है। उनकी निरीक्षण-शक्ति अद्भुत थी, अतः उनके विनोद-पूर्ण लेखों की छोटी-छोटी बातें भी हास्य उत्पन्न करती हैं। पर उनकी शैली सर्वत्र पांडित्यपूर्ण है, विनोद के अनुरूप सहज, सुन्दर, लचकदार और प्रसन्न नहीं। भाषा की क्लिष्टता, पांडित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति, आलंकारिक प्रयोग आदि के कारण पाठक को अर्थ समझने में जो आयास करना पड़ता है, उसके कारण हास्य की निष्पत्ति में व्याघात पहुंचता है। कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पना भी

बाधक सिद्ध हुई है। जैसे "यह चूहा हिमालय के छोटे भाई की संतान होने के कारण गजपति का मामा हो जाता है।" उनकी हास्य-रचनाओं का दूसरा दोष यह है कि सुधार के आवेश में उन्होंने समाज की सभी परम्पराओं पर कटु प्रहार किया है जिसके कारण कटुता आ गई है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा था, "इस लेखन-पद्धति में लेखक का बल अन्वय की अपेक्षा व्यतिरेक पर अधिक रहता है। इससे पाठक पहले कुछ क्रुद्ध और क्षुब्ध भले ही हो, पर अन्ततः चित्त शान्त होने पर उसे उन बातों की सचाई ज्ञात हो जायगी और वह समझ जायगा कि क्रुद्ध होने की बजाय उसे लज्जित होना चाहिये···लेखक उसका शत्रु न होकर अवगुणों का दिग्दर्शन करने वाला मित्र है।"

कोल्हटकर के पट्ट शिष्य तथा उन्हीं की विनोद-परम्परा को चलाने वाले राम गणेश गडकरी कवि, नाटककार और विनोदी-लेखक थे। इन तीनों ही क्षेत्रों में उनका कृतित्व अपने गुरु से अधिक मूल्यवान रहा। इन दोनों के विनोद की तुलना करते हुए हास्यविनोद मीमांसाकार श्री केलकर ने लिखा है, "विनोदी लेखक के रूप में गडकरी की प्रतिभा कोल्हटकर की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण एवं कल्पना-प्रवण है। तथापि कोल्हटकर के लेखों में जो व्यवस्था है, उनकी भाषा में जो संक्षिप्तता एवं सांकेतिकता है, वह गडकरी के लेखों में नहीं। गडकरी के लेखों में अनावश्यक विस्तार है, भाषा भी अधिक कृत्रिम है। अतः उनके लेख चमत्कार होते हुए भी चुने हुए पदार्थों की प्रदर्शनी न होकर संग्रहालय बन गए हैं।"

गडकरी के लेखों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वे जिनमें प्रतिपाद्य विषय की गम्भीरता के कारण विनोद गौण है (२) वे जिनमें उनकी विनोद-बुद्धि चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई है तथा (३) वे जिनमें अतिशयोक्ति के कारण ऊटपटांग बातें आ गई हैं। गडकरी पर मार्क ट्वेन का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हास्य-विनोद के लिए जिन दो विषयों को उन्होंने चुना, वे हैं विवाह तथा नकली कविता। प्रथम को 'रिकामपणाची कामगिरी' तथा दूसरे को 'कवीचा कारखाना' नामक लेख-मालाओं में प्रस्तुत किया गया है। उनके विनोद-सृष्टि के उपकरण हैं—उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति, चरपरी कल्पना तथा प्रतिपक्षी का उपहास और उद्देश्य है मनोरंजन के साथ सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार। कोल्हटकर के समान शाब्दिक चमत्कार द्वारा हास्य उनके लेखों में भी है। 'विवाह द्वारा एक जोड़ा (दम्पति) बनाने से पूर्व एक चमड़े का जोड़ा (जूतों का) फाड़ना पड़ता है।' विरोधाभास का उदाहरण भी देखिए, 'सुन्दर स्त्रियों के द्वारा कविता को उत्कर्ष मिला है तो कविता के द्वारा स्त्रियों को महत्त्व प्राप्त हुआ है। कविता ने यदि कई लोगों को पागल बनाया है, तो कई पागलों ने कविता बनाई है।' रूपक और उपमा के प्रयोग द्वारा भी हास्य-सृष्टि की गई है, 'मुहम्मद गज़नी का धनलोभ उसमें (वर के पिता में) आ जाता

है, नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षा से वह अपने पुत्र की ओर देखता है, नाना फड़नवीस के व्यवहार-कौशल से वह उसकी कीमत ठहराता है, क्षत्रपति शिवाजी के साहस से वह रकम मारता है तथा नादिरशाह की क्रूरता से उसे वसूल करता है। पर सबसे अधिक प्रयोग अतिशयोक्ति का ही हुआ है। एक उदाहरण देखिए, "गल्ती से अष्टकन्या सौभाग्यवती भव' का आशीर्वाद मुंह से निकलते ही स्त्री-मण्डली में रोना-पीटना शुरू हो गया, प्रौढ़ाएं बच्चों को पेटसे चिपटाकर पुचकारने लगीं, उधर पुरुष-मंडली क्रुद्ध हो हमसे लड़ने और मारपीट करने को उद्यत हो गई।" कहीं-कहीं यह अतिशयोक्ति ऊटपटांग भी हो गई है, जैसे 'लग्नच्या मोहिमी ची पूर्वतैयारी' में बालकराम की शल्यक्रिया का वर्णन अथवा उनकी पोशाक का चित्रण। वस्तुतः वह अतिशयोक्ति जो सत्याभास निर्मित नहीं कर सकती, जो मर्यादाहीन है, वह लेखक की कल्पनाशक्ति के सम्बन्ध में कौतूहल भले ही उत्पन्न करे, औचित्यभंग के कारण वितृष्णा जागृत करती है और कला के क्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं। गडकरी का सबसे बड़ा दोष यही है कि उन्होंने अनेक बार प्रसंग के औचित्य को विस्मृत कर हास्य की सृष्टि की है।

शाब्दिक चमत्कार या अलंकार-प्रयोग के अतिरिक्त उन्होंने व्यंग्य और विसंगति द्वारा भी हास्य-सृष्टि की है। ठकी के विवाह-विज्ञापन में 'दो लड़कियों से विवाह करने वाले को एक लड़की मुफ़्त में इनाम' द्वारा विज्ञापनदाताओं की तथा खाडिलकर की पदरचना सम्बन्धी क्लिष्टता, पूना के भोजनालयों एवं एस० एम० रेलवे की जो विडम्बना की गई है, वह वस्तुतः कलात्मक है। "पहले मानापमान नाटक के प्रत्येक पद का अन्वयार्थ लगाने का दंड देता हूं। उसके बाद पूना के भोजनालयों में से किसी एक में भोजन करना पड़ेगा और फिर प्रति सप्ताह 'वीकएंड' टिकिट लेकर सदर्न-मराठा रेलवे के तीसरे दर्जे से मिरज तक यात्रा करनी पड़ेगी।"

विसंगत वस्तुओं के एक साथ मिश्रण से हास्य उत्पन्न करने की कला में भी गडकरी निपुण थे। वसन्त ऋतु के चित्रण में वह एक ओर कोंपलों के फूटने, फूलों के खिलने और कोयलों के कूकने का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर जगह-जगह वक्ताओं के मुख से शब्द फूटने, छातों पर नये कपड़ों के चढ़ने तथा बाजार में गांव वालों की भीड़ का वर्णन करते हैं तथा यह भी बताना नहीं भूलते कि इस समय वरपक्ष वाले बौरा जाते हैं। इस वर्णन को पढ़कर पाठक के ओठों पर सहज ही मुस्कान फूट पड़ती है। मानव-स्वभाव में छिपी विसंगतियों को पहचानकर उन्हें विनोदपूर्ण पद्धति में प्रस्तुत करने में भी वह अत्यंत पटु थे।

उनके लेखों में शुद्ध हास्य के उदाहरणों के अतिरिक्त ऐसे प्रसंग भी हैं जहां हास्य के साथ करुणा का भी सम्मिश्रण हुआ है। ज्योतिषी की भविष्यवाणी के सम्बन्ध में लड़की के पिता का निम्न कथन हास्य से अधिक करुणा उत्पन्न करता

है, "लड़की का विवाह नहीं हो पा रहा था, अतः मैं बड़ा चिंताग्रस्त था। पर अभी थोड़े दिन हुए वह प्लेग से मर गई। यह क्या कम लाभयोग हुआ जिसकी आपने कुछ समय पूर्व भविष्यवाणी की थी।"

प्रसंगनिष्ठ हास्य भी गडकरी की रचनाओं में मिलता है। उदाहरण के लिए यह प्रसंग देखिए। "लड़की के मां नहीं है की अड़चन दूर करने के लिए दूसरा विवाह करते हैं और प्रमाण के लिए जब उसे साथ लेकर वरपक्ष के यहां जाते हैं, तो वे लोग उनकी नवविवाहित पत्नी को ही उनकी पुत्री समझ बैठते हैं।"

सारांश यह कि गडकरी के विनोद-लेखों में जहां हमें एक ओर विद्युत् की तरह तीक्ष्ण कल्पनाशक्ति, अध्ययन और निरीक्षण की सहायता से प्राप्त विविध ज्ञान, व्यक्ति-स्वभाव तथा प्रसंग में छिपे हास्य-विनोद को प्रकट करने की क्षमता मिलती है, वहां दूसरी ओर श्लेष का अतिरेक, कृत्रिमता, क्लिष्टता, अतिशयोक्ति की अतिशयोक्ति, हास्य के आदेश में मर्यादाभंग, अनौचित्य आदि दोष भी मिलते हैं। सहानुभूति के आभाव में धार्मिक भावनाओं का मजाक उड़ाना निश्चय ही अश्लाघ्य है। कहीं-कहीं अश्लीलता भी, जैसे ठकी के विवाह-विज्ञापन में, आ गई है। तथापि उनका विनोद जनसाधारण की समझ में आनेवाला होने के कारण सफल है।

कोल्हटकर-सम्प्रदाय के, पर उनसे कुछ भिन्न, तीसरे मराठी विनोदकार हैं आचार्य अत्रे। सहजसुगम भाषा, प्रत्युत्पन्नमति एवं विसंगतियों को ढूंढ निकालने की सूक्ष्म दृष्टि—इन गुणों के कारण उनके भाषण और लेख सरल होते हैं। उनके विनोद में यदि एक ओर व्यक्ति-निन्दा की धुलेंडी होती है तो दूसरी ओर काव्य-मयता की रंगपंचमी। समाज-सुधार उनका एकमात्र ध्येय नहीं है। 'विनोद के लिए विनोद' उनका सिद्धान्त है। दुखी व्यक्तियों को हँसाना, हँसाते-हँसाते उनका दुख विस्मृत कर देना ही विनोद का सच्चा ध्येय है।

अत्रे के हास्य-विनोद की विशेषता यह है कि वह जिस सफलता से शब्दनिष्ठ विनोद प्रस्तुत कर सकते हैं, उसी सफलता से प्रसंगनिष्ठ विनोद भी। कोल्हटकर-गडकरी की अपेक्षा उनमें शब्दनिष्ठ विनोद कम है, तथापि श्लेष, यमक आदि का प्रयोग हुआ अवश्य है। गांधी जी के विषय में यह उक्ति देखिए, 'स्वतन्त्रता की मुरली बजाकर चालीस करोड़ जनता पर जो मोहिनी डाले वही मोहन है।' विसंगति और विरोध दिखाकर भी उन्होंने हास्य-सृष्टि की है, "पुष्प पर ग्रंथ के ग्रंथ लिखने वाला कवि कदाचित् ही एक पैसे के पुष्प खरीदता हो···मार्ग पर पड़े पत्थर को उठाकर फेंकने का वह कष्ट नहीं करता, बल्कि कल्पना करता है कि किसी कोमलांगी के चरण उससे टकराकर लोहूलुहान हो जाय, तो उसे एक और काव्य-विषय मिल जाय।" उन्होंने अतिशयोक्ति का भी प्रयोग किया है "शंकरा-चार्य सिख होने को तैयार हैं, यह सुनते ही कुछ सिखों के केश साही के केशों की

तरह आनन्दातिरेक से खड़े हो गए, तो कुछ सनातनियों की चोटी ही झड़ गई होगी।"

रम्य विषयों पर विनोदपूर्ण लेख लिखना सहज है, पर रूक्ष विषयों को विनोदपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने के लिए प्रतिभा आवश्यक है। आचार्य अत्रे में यह प्रतिभा प्रचुर मात्रा में है। किरायेदारों के दुःखदर्द की कथा जिस सुन्दर शैली में उन्होंने कही है, वह दृष्टव्य है। "यदि मृत्यु के बाद भगवान ने पूछा, 'बच्चू ! तू इतने दिनों मेरी पृथ्वी पर रहा, फिर भी मकान क्यों नहीं बना पाया ? चिड़िया और कौए तक अपने-अपने घर बना लेते हैं। तू ऐसा क्यों न कर पाया ! ' तो मैं क्या उत्तर दूंगा ! " उनकी विनोद-कथाओं में कथानक तो विरल होता है, पर कथा के अंत में जो रहस्योद्घाटन करते हैं, वह इतना मजेदार होता है कि पाठक हँसे बिना नहीं रहता। 'गुत्यांत नारद' और 'माधुरी' उनकी इसी प्रकार की रचनाएं हैं।

उनके व्यंग्य में तीक्षणता अधिक, सहानुभूति अथवा विनोद कम होता है। 'कावला व रिपोर्टर' में उनका व्यंग देखिए "पवित्र वस्तु को अपने घृणित स्पर्श से अपवित्र एवं अशुद्ध करने वाले इन रिपोर्टरों की काली करतूत कौओं को भी लज्जित कर देगी।" विडम्बन-काव्य (Parody) के जन्मदाता होने, विनोद को जनसाधारण में लाने, सम्पूर्ण विनोदी-नाटक लिखने तथा विनोद-साहित्य के प्रति आस्था उत्पन्न करने के नाते वह सदा अमर रहेंगे।

आचार्य अत्रे के विनोद-साहित्य का विषय मध्यवर्ग ही रहा, परन्तु दत्तू बांदे-कर की विशिष्टता यह रही कि उन्होंने पददलित, उपेक्षित-शोषित वर्ग को अपने हास्यविनोद के लिए चुना, जो अब तक बहुधा दया, करुणा और सहानुभूति का ही पात्र समझा जाता रहा था। उन्होंने गंडेरीवालों, होटल के लड़कों, वेश्या, उनके दलाल, खोमचेवालों, चोर, भिक्षुक आदि पर विनोदपूर्ण रचनाएं लिखीं। इस प्रकार जिनके जीवन पर अब तक करुणा-गंगा प्रवाहित की जाती थी, उस पर अब नुकीली, धारदार, विदारक विनोद की लेखनी चली। उन्होंने बताया कि इन व्यक्तियों के जीवन में भी महत्वाकांक्षा, अभिलाषा, रागद्वेष, मात्सर्य आदि होते हैं। बांदेकर ने पहले इन सबका विनोदपूर्ण चित्रण कर पाठकों को हँसाया और फिर करुणा की प्रभावशाली छाप डालने का सफल प्रयास किया। यही कारण है कि आचार्य अत्रे ने उन्हें 'कारुण्याचा विनोदी शाहीर' कहा है।

जीवंत और प्राणवान साहित्य के तीन लक्षण होते हैं—स्वाभाविकता, स्वयं-पूर्णता तथा रस उत्पन्न करने की क्षमता। कोल्हटकर-सम्प्रदाय की हास्य-विनोद कृतियों में ये तीनों बातें एक साथ नहीं मिलतीं। उनमें प्रायः सहानुभूति का अभाव, कल्पना का अतिरेक, अतिशयोक्ति की अधिकता, बौद्धिक व्यायाम और तज्जन्य क्लिष्टता आदि दोष हैं।

कोल्हटकर-सम्प्रदाय से भिन्न कोटि का सच्चा निर्मल कलात्मक हास्य उत्पन्न करने का श्रेय चिंतामणि विनायक जोशी को है। यद्यपि विनोदी लेख लिखने की प्रेरणा उन्हें कोल्हटकर से ही मिली और प्रारम्भ में उनकी रचनाओं का प्रधान स्वर उपहास ही था, तथापि बाद में वह परिहास की ओर प्रवृत्त हुए। इसका कारण बताते हुए उन्होंने लिखा है, "किसी भी कृति की विडम्बना करने वाला मूल लेखक की अपेक्षा हीन गुणों का समझा जाता है, अतः सदोष कृति का खंडन करने की अपेक्षा उससे भी अधिक सरस कृति रचनी चाहिए।" अपने गुरु प्रो० धर्मानिन्द के इस उपदेश के कारण ही मैंने उपहासपरक लेखन बंद कर सरल कथा लिखना प्रारम्भ किया। अपने विनोद के संबंध में उनका कथन है, "कथानक को प्रधान मानकर यदि संभव हुआ तो एकाध श्लेष, पाठक को न अखरनेवाली व्याजोक्ति, असंभव न लगने वाली अतिशयोक्ति का प्रयोग करता हूं। कथा में अनपेक्षित प्रसंग और स्वभाव की विचित्रता का चटकदार वर्णन करने की भी मेरी आदत है।"

उनके आरम्भिक साहित्य में श्लेष, नवीन क्रियापदों (चौकसले, दिलगिरला), नवीन शब्दों (शेकहण्डी, बीज-दिवटी), हरिदासी श्लेष (रामभाऊ पटवर्धन—बलराम के भाई कृष्ण जिन्होंने द्रोपदी का वस्त्र बढ़ाया), पात्रों के हास्यप्रद नाम, अंग्रेजी-मराठी मिश्रित श्लेष (जैसे Sundry का सुन्दरी जैसा उच्चारण अथवा Soon बहू, शीघ्र) आदि के द्वारा स्थूल हास्य का निर्माण किया गया है, तथापि आगे चल कर जो विनोदी साहित्य उन्होंने लिखा, वह केवल विनोदी ही न रह कर साहित्य भी है। उसमें उन्होंने मध्यम-वर्ग के जीवन का ही चित्र साकार नहीं किया अपितु मध्यम-वर्ग के पात्रों का भी जीवन्त चित्रण है; उसकी दुर्बल नीतिमत्ता, दंभ, लोभ, अहंकार, स्वकार्थपरता, ईर्ष्या, द्वेष आदि का बड़ी सफलतापूर्वक अंकन किया है। चिमणराव, उनकी पत्नी, उनकी मां, बहिन, बहनोई, मित्र गुंड्याभाऊ, नथू सेठा, सुनार, कुलकर्णी दर्जी आदि अनेक पात्रों के सजीव चित्रों द्वारा लेखक ने मध्यवर्गीय जगत् का जिस प्रामाणिकता से निर्माण किया है और विनोद के लोभ में न पड़कर भी जिस मनोरंजक पर सचाईपूर्ण शैली में अंकन किया है, उसके कारण ये कथाएं अमर कलाकृतियां बन गई हैं। विनोद आया अवश्य है, पर सहायक के रूप में ही। उदाहरण के लिये, जब चिमणराव की पत्नी पति की दुखती आंखों के लिये सास के निषेध के बावजूद पानी में पोत के दानों के साथ-साथ चुटकी-भर बोरिक पाउडर भी डाल देती है, तो उसे पढ़ कर हँसी तो आती है, सास-बहू के पारस्पारिक सम्बन्धों का भी यथार्थ परिचय मिल जाता है। जोशी जी व्यक्ति-चरित्र के उसी पक्ष पर प्रकाश नहीं डालते जो हास्योद्रेक में सहायक होता है, वह उसके सभी पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। वह स्वभाव की केवल एक विसंगति दिखाकर विनोद-सृष्टि नहीं करते अपितु छोटे-

छोटे दोषों, आदतों, सनकों, लतों आदि को भी दिखाकर हास्य उत्पन्न करने के साथ-साथ व्यक्ति का सजीव चित्र भी प्रस्तुत करते हैं।

अपनी सजीव कल्पनाशक्ति द्वारा वह न केवल हास्योत्पादक प्रसंगों की अवतारणा करते हैं, अपितु मानव की मनस्थिति के चित्रण द्वारा भी हास्य उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए, जब चिमणराव की मां बहू के अंडे खाने की बात सुनकर नाराज़ होकर कहती है, 'तुम लोग मुर्गी के अंडे तो क्या, गौमाता के अंडे खाओ, मुझे क्या ?' तो उससे हास्य उत्पन्न होने के साथ ही क्रोधाविष्ट व्यक्ति की मनोदशा का भी पता लगता है। मध्यवर्ग के ढोंग तथा आडम्बर पर प्रहार करने के लिए उन्होंने व्यंग का आश्रय लिया है। 'मुफ्त मिल जाय तो सिगरेट पी लेता हूं' के स्थान पर यह कहना 'हां, सदा नहीं, कभी-कभी पी लेता हूं।' इसी प्रकार का व्यंग्य है। यांत्रिक वक्तृत्व, संस्कृत-प्रचुर शब्द-रचना, अलंकारों की भरमार आदि के द्वारा पांडित्य-प्रदर्शन पर, डाक्टरों और वकीलों द्वारा ज्ञान की [illegible] पर, रेलवे-कर्मचारियों की रिश्वतखोरी पर उन्होंने कस कर व्यंग किया है। अतिशयोक्ति तथा शाब्दिक चमत्कार के अतिरिक्त उन्होंने व्यक्तियों के उच्चारण के अनुरूप शब्द लिखकर भी जैसे 'कोण्ण्ण्णाच्चा' या 'चिन्नानचित्' हास्य उत्पन्न किया है।

ऐसा कौन है जो मुद्रण-दोष के कारण परेशानी में न फंसा हो, पर इस दोष रूपी पंक से हास्य-पंकज की सृष्टि करने का श्रेय चि० वि० जोशी को ही है। उन्होंने इस विषय पर एक लघु कथानक ही बना डाला और बताया कि लग्न-समारंभ के स्थान पर 'नग्न-समारंभ' कविवर्य के स्थान पर 'कपिवर्य', भगिनी की जगह 'भंगिनी' और वीरांगना की जगह 'वारांगना' छप जाने से कितनी गड़बड़ हुई। कुल मिलाकर उनका हास्य-विनोद उच्छृंखल, अश्लील अमर्यादित न होकर सौम्य, मर्यादाशील है। उसमें न कटु आलोचना है, न निर्दय उपहास, न अतिशयोक्ति है, न शब्दचमत्कार की बहुलता। सरल प्रसंगों और सीधे-सादे पात्रों की छोटी-मोटी बातों से विनोद उत्पन्न किया गया है। कोल्हटकर से पु० ल० देशपांडे तक सभी ने अनुपयुक्त स्थलों पर अनावश्यक मात्रा में अतिशयोक्ति और चमत्कारपूर्ण कल्पना का प्रयोग कर हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है जिससे वह अस्वाभाविक हो गया है। ऐसे साहित्य में घटना, प्रसंग, चरित्र, भाषा-शैली सभी विनोद रूपी वस्त्र के लिए खूंटीमात्र बन जाते हैं। विनोद के आगे बेचारा साहित्य पिछड़ जाता है। पर जोशी जी का विनोद-साहित्य इस दोष से मुक्त है। उनकी प्रवृत्ति सदा कला के शुद्ध और अभिजात स्वरूप की ओर ही रही है। यही उनकी विशेषता और मराठी साहित्य को महान देन है।

पुरानी पीढ़ी के विनोद-लेखकों में न० चि० केलकर, ना० घो० ताम्हणकर और कैप्टेन लिमये के नाम उल्लेखनीय हैं। केलकर का विनोद संयमित है,

ताम्हणकर के 'दाणी' व 'मामा' अविस्मरणीय हैं और लिमये अपने लेखों में जीवनानुभव, सूक्ष्म निरीक्षण, चटकदार शैली और मनोविश्लेषण के लिए प्रसिद्ध हैं। अपनी कृतियों में उन्होंने अपने डाक्टरी एवं सेना-व्यसाय के अनुभवों से पर्याप्त लाभ उठाया है। अन्य हास्य-लेखकों के समान उन्होंने भी विरोधाभास, अतिशयोक्ति आदि का प्रयोग किया है। 'आमची सायकिलट्रिप' अथवा 'मुंबईतील उद्योगधंदे' इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। उनके संवादों में बुद्धि-चातुर्य, मार्मिकता और तर्क के द्वारा हास्य-सृष्टि की अद्भुत् क्षमता पायी जाती है। 'न्यायाधीशाचे चातुर्य' इसका प्रमाण है। वह इतने सहज ढंग से समाज की आलोचना कर जाते हैं कि वह पाठक को अखरती भी नहीं और लेखक का उद्देश्य भी सफल होता है। 'पुण्यावर हल्ला' में प्लेग के आक्रमण की बात सुनते ही वकील, डाक्टर, पुरोहित आदि उससे बचने की कैसी-कैसी तैयारी करते हैं, इसका विनोदपूर्ण वर्णन करने के साथ-साथ लेखक स्त्री-जाति के पारतन्त्र्य पर भी प्रहार कर जाता है। "टमला काकी को उस आक्रमण से कोई परेशानी नहीं हुई, क्योंकि बचपन में सास के, होश संभालने पर विधवा ननद के और बड़े होने पर अड़ौसी-पड़ौसियों के न मालूम कितने आक्रमणों से उन्होंने टक्कर ली थी।" इस प्रकार लिमये के विनोद-लेखों में शाब्दिक चमत्कार अथवा अलंकारों की सहायता कम ली गई है। उनकी दृष्टि प्रधानतः मानव-स्वभाव एवं परिस्थितियों में छिपे दोषों को विनोद द्वारा प्रकट करने पर ही रही है। इसी पीढ़ी के अन्तर्गत श्यामराव ओक तथा वि० मा० दी० पटवर्धन भी आते हैं। यद्यपि ये दोनों आज भी कभी-कभी विनोद-रचना प्रकाशित करते हैं, तथापि उनका युग पिछली पीढ़ी के ही अन्तर्गत आएगा। इन दोनों का विनोद सुसंस्कृत और उत्कृष्ट है और वे विनोद की सच्ची आत्मा से परिचित हैं। इनके अरिरिक्त वि० स० खाण्डेकर, य० गो० जोशी, ना० सी० फडके आदि ने भी विनोदी कथाएं लिखी हैं। पर वे मुख्यतः विनोदी-लेखक नहीं हैं।

सन् १९४० के बाद के विनोदी-लेखकों को हम वर्तमान पीढ़ी के लेखक कह सकते हैं। इनमें अ० वा० वर्टी, गंगाधर गाडगील, पु० ल० देशपांडे, वसन्त सबनीस, पद्माकर डावरे, वि० आ० बुवा, अनंत अंतरकर, म० ना० अदवंत, बा० वा० फाटक, व्यंकटेश माडगूलकर, द० मा० मिरासदार, शंकर पाटील, कमला फडके, सदाशिव आठवले, भा० रा० भागवत, दि० वा० मोकाशी, मधु मंगेश कर्णिक, द० पां० खांबोटे, उमाकांत ठोमरे, रामकृष्ण जोशी, रमेश मन्त्री, शरच्चन्द्र गुणे के नाम उल्लेखनीय हैं। इस पीढ़ी के लेखकों की प्रवृत्ति शब्द-चमत्कार से उत्पन्न हास्य की ओर कम है। ये प्रसंगनिष्ठ अथवा स्वभावनिष्ठ विनोद को ही प्रधानता देते हैं। विनोद के लिए इन्होंने नये क्षेत्रों की खोज की है, नये विषय चुने हैं। उदाहरण के लिए, व्यंकटेश माडगूलकर, मिरासदार, शंकर पाटील और मधुसूदन अकलूणकर ने विनोद के लिए ग्रामीण क्षेत्र चुना है। इनसे पूर्व ग्रामीण जनता का

सम्बन्ध में यह धरणा थी कि वे लोग सीधे-सादे, भोले और ईमानदार होते हैं। माडगूलकर ने पहली बार यह दिखाया कि सभी गांव वाले ऐसे नहीं होते, उनमें भी अनेक तोतेचश्म, अवसरवादी और धूर्त होते हैं। माडगूलकर प्रधानतः विनोदी-लेखक नहीं हैं, पर अपनी शैली के कारण उनके चरित्र विनोद-सृष्टि करने में पूर्ण सफल हुए हैं। द० भा० मिरासदार मूलतः विनोदी-लेखक हैं, अतः उनकी रचनाओं में हमें ग्रामीण व्यक्तियों तथा उनसे सम्बन्धित पुलिस-कर्मचारियों, पटवारी, वकील, आदि का विनोदपूर्ण चित्रण मिलता है। ग्रामीण भाषा, ग्रामीण वातावरण, ग्रामीण सनक और लत, ग्रामीण गालियां और गांववालों के दांवपेंच आदि का प्रयोग कर जो विनोदपूर्ण कथा-साहित्य उन्होंने दिया है, वह न केवल नवीन है अपितु हास्य की दृष्टि से भी प्रशंसनीय है। मधु मंगेश कर्णिक ने कोंकण को कथा का विषय बनाकर ग्रामीण विनोद-साहित्य को सम्पन्न बनाया है।

वर्तमान पीढ़ी के अन्य मराठी विनोदकारों ने मध्य-वर्ग के जीवन से ही प्रसंग चुनकर विनोद सृष्टि की है। निजी शैली अथवा दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ही उनमें वैविध्य पाया जाता है। यदि अ० वा० वर्टी की शैली चटकदार है और उनकी कहानियों के अन्त में कथा को नया मोड़ देने, रहस्योद्घाटन के द्वारा चमत्कृत करने की प्रवृत्ति है, तो वि० वि० बोकील ने अपने लिए अध्यापकों या क्लर्कों के जीवन को चुना है। यदि गंगाधर गाडगील ने अपने अमर चरित्र बंडू के माध्यम से एक निराले प्रकार का विनोद मराठी पाठकों को प्रदान किया (क्योंकि बंडू सदा अवास्तविक और अतर्क्य व्यवहार कर भी मनोरंजन प्रदान करता है) तो बाल गाडगील साहित्यिक प्रवृत्तियों पर विनोदी लेख लिखते हैं। विनोद-साहित्य में पु० ल० देश पांडे का अद्वितीय स्थान है। उनकी विलक्षण निरीक्षण-शक्ति, लोकोत्तर शैली तथा असीम अनुभव उनके विनोद को प्रभावशाली बनाते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी शैली से अन्य मराठी लेखकों को भी प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, बाल गाडगील और बसन्त सबनीस की रचनाओं पर अनेक बार हमें पु० ल० देशपांडे की छाप दिखाई देती है। पद्माकर डावरे का लक्ष्य यदि अपने विनोद को सामान्य जनता तक पहुंचाना और समझाना है, तो द० प० खांबोटे ने स्त्रियों, विशेषतः पत्नी को अपने विनोद का लक्ष्य बनाया है। अतः उनका विनोद कौटुम्बिक स्वरूप का है।

सारांश यह है कि मराठी विनोद-साहित्य में हमें सभी प्रकार का हास्य-विनोद उपलब्ध होता है। उसमें यदि आरम्भ में शाब्दिक चमत्कार के द्वारा हास्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति है, तो आधुनिक काल में उत्कृष्ट कोटि का प्रसंगनिष्ठ और स्वभावनिष्ठ विनोद ही अधिक है। यदि कोल्हटकर-गडकरी का विनोद दीवानखाने तक सीमित था, यदि अत्रे तथा चि० वि० जोशी ने उसका क्षेत्र कुछ और विस्तृत कर मध्यवर्ग को अपनाया, यदि दत्तू बांदेकर ने पददलित

और शोषित वर्ग को विनोद क्षेत्र में समाविष्ट किया, तो माडगूलकर आदि ने उसमें ग्रामीण जीवन का भी अन्तर्भाव कर लिया। हमें वहां ऐसा विनोद भी मिलता है जो केवल विद्वानों की समझ में आ सके और ऐसा भी जो सर्वसाधारण की पहुंच के बाहर न हो। यहां हास्य के लिए हास्य है, तो समाज-सुधार के लिए भी, इसमें निर्मल हास्य के साथ-साथ व्यंगोक्तियों की बौछार है, तो हास्य के साथ-साथ करुणा-भाव जाग्रत करने का प्रयास भी। विषय-विविधता की दृष्टि से वह अनुपमेय है। विनोद के सभी साहित्यिक प्रकार—गूढ़ोक्ति (Irony) विडम्बना (Parody) व्यंगचित्र (Satire) शब्दनिष्ठ विनोद (Wit) तथा स्वभावनिष्ठ विनोद (Humour) हमें मराठी में मिलते हैं।

मैं उन सब मराठी लेखकों का आभारी हूं जिन्होंने अपनी कृतियाँ इस पुस्तक में संकलित करने की अनुमति प्रदान की। दिल्ली विश्वविद्यालय के डा० करन्दीकर जिन्होंने समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव दिये विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। अनुवाद का सारा कार्य मैंने ही किया है, यदि कहीं त्रुटियाँ रह गयी हों तो उनका उत्तरदायित्व मुझपर ही है।

'आत्माराम एण्ड संस' के संचालक श्री रामलाल पुरी ने विविध भाषाओं के प्रतिनिधि-साहित्य के प्रकाशन का जो कठिन पर भावात्मक-एकता के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया है, वह सचमुच प्रशंसनीय है।

—शान्तिस्वरूप गुप्त

विषय-सूची

अरे मुझे पकड़ो

—गो० गं० लिमये

विगत अर्ध शताब्दी से साहित्य-सेवा में रत कैप्टेन लिमये पुरानी पीढ़ी के विनोदकारों में से हैं। व्यवसाय से डाक्टर होते हुए भी आपने निरन्तर अपनी साहित्यिक रचनाओं से मराठी वाङ्मय को सम्पन्न बनाया है। विनोदपूर्ण लेख, लघुकथा, नाटक और संस्मरण लिखने के अतिरिक्त आपने डाक्टरी व्यवसाय पर मौलिक पुस्तकें लिखी हैं तथा कुछ के अनुवाद भी किये हैं। उनका विनोद कोल्हट्कर-गडकरी-अत्रे के विनोद से भिन्न तथा चि० वि० जोशी के विनोद से मिलता-जुलता है। यद्यपि उन्होंने भी सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार किया है, तथापि उनकी रचनाओं में हमें प्रसन्न, मुक्त हास्य के दर्शन ही अधिक होते हैं। उनकी विनोद-पुस्तकों में 'विनोद सागर' 'जुना बाजार', 'गोपाल काला' तथा 'तुमच्याकरतां' प्रसिद्ध हैं।

अपराधी भी अन्ततः मनुष्य होता है। अन्याय के कारण ही वह अपराधी बनता है। वह सुधर सकता है। उत्तर-प्रदेश सरकार ने लखनऊ सेण्ट्रल जेल में जो सुधार अल्पकाल में किए हैं, यदि उनका अनुकरण अन्य प्रदेश भी करें तो आज के बन्दीगृह, बन्दीगृह न रहकर आदर्श कारागार बन जाएंगे। जिन बन्दियों का आचरण ठीक होता है, उन्हीं को इन कारागृहों में स्थान मिलता है—लोक-सत्ता, रविवार, ता० ६-७-१९५२

उपर्युक्त समाचार पढ़कर मेरे मन में आशा की किरण उत्पन्न हो गई। यदि ये आदर्श बंदीगृह मेरे पेट की समस्या हल कर दें, तो कैसा बढ़िया रहे। मैं ७५ वर्ष का हो गया था और सरकार ने मेरी पेंशन निर्धारित की थी केवल साढ़े सात रुपये। इन मंहगाई के दिनों में भला साढ़े सात रुपये में कैसे गुजर होती? भूखों मरने की नौबत आ गई थी। अतः मैंने इन विलासी बंदीगृहों का लाभ उठाने का निर्णय किया।

परन्तु बिना अपराध किए बंदीगृह में प्रवेश कैसे हो सकता था? जिस प्रकार

बंदी कारागार से भाग जाते हैं, क्या उसी प्रकार मैं स्वत: 'स्मगल' कर (बेकायदा घुसकर) अन्दर पहुंच जाऊं ? यदि प्रयत्न सफल हो गया तो ठीक ही है और यदि असफल रहा—किसी ने पहचान लिया कि यह बंदी नहीं है, जबरदस्ती कारागार में घुस आया है, तो भी 'ट्रेसपास' (अतिक्रमण) के अपराध में बंदीगृह में भेज ही दिया जाऊंगा। परन्तु मेरी यह योजना पूर्णत: असफल रही। हुआ यह कि बंदियों की एक टुकड़ी बाग में फूल तोड़ने आई हुई थी। वहां पहुंचकर मैंने धीरे से एक बंदी से कहा, "अरे तुझे यदि भागना हो तो दे मुझे अपनी डलिया और भाग जा। मैं तेरे स्थान पर बंदी बनकर कारागार में रह लूंगा।" पोशाक का प्रश्न ही न था, क्योंकि 'कैदियों की पोशाक पहनकर छाती पर नम्बर लटकाना स्वाभिमान के विरुद्ध और हीन-भाव उत्पन्न करने वाला' समझे जाने के परिणाम-स्वरूप बंदियों को अपने ही वस्त्रों में घूमने दिया जाता था। परन्तु वह बंदी मेरे श्वेत केशों की ओर देखकर मुस्कराया और अपने साथी से बोला, "इस बूढ़े पर बुढ़ापे की सनक सवार हो गई दिखती है।" उसका साथी बोला, "पता है यह महाशय यहां कैसे आए थे ? इसके भाई पर मुकदमा चल रहा था और वह जमानत पर छूटा हुआ था। तभी उसकी मृत्यु हो गई। उसी समय कारागारों में सुधार होने की सूचना इसे मिली। बस फिर क्या था, यह अपने मृत भाई की जगह न्यायालय में आ उपस्थित हुआ। किसी ने इसे पहचाना नहीं। अतः अब भाई की जगह दंड भुगतने के नाम पर यहां मज़े कर रहा है।" इस सुखद मज़ेदार 'नौकरी' को छोड़कर उसे क्या अब भीख मांगनी थी ? अतः बंदीगृह में बेकायदा घुसने की मेरी आशा समूल नष्ट हो गई।

अपराध किए बिना कोई मुझे बंदीगृह में लेने को तैयार न था। पर सत्तर वर्ष का बूढ़ा भला क्या अपराध कर सकता था ? फिर भी मैंने एक सरल युक्ति सोच निकाली। वर्षा हो रही थी। मैंने एक होटल में जाकर चाय पी और बिना पैसे दिए बाहर आने लगा। मेरा अनुमान था कि चाय देने वाला लड़का चिल्लाकर काउंटर पर बैठे मालिक को पुकारेगा और वह मुझे पकड़कर पुलिस के हवाले कर देगा। पर नहीं। भीड़ के कारण किसी का ध्यान मेरी ओर न गया। मैं द्वार पर कुछ देर तक मंडराता रहा कि कदाचित् अब भी लड़के का ध्यान मेरी ओर जाय, पर व्यर्थ। मानों मैं मनुष्य न होकर बिल्ली था। द्वार पर वर्षा के कारण भीगी छतरियों को रखने के लिए एक मिट्टी के तेल का खाली कनस्तर रख दिया गया था। उसे देखकर मुझे एक नई तरकीब सूझी। उसमें से एक छत्री उठाई और पुन: वहीं मंडराने लगा। कदाचित् इस बार ईश्वर ने मेरी प्रार्थना सुन ली। चाय पीते एक मवाली ने मुझे रोकते हुए कहा, 'काकाजी ! यह छत्री तो मेरी है।' मैं अकड़ गया। होटल-मैनेजर ने बीच बचाव किया। उसने उस मवाली के रूखे खड़े बालों को देखा, उसकी छींट की बुशशर्ट पर निगाह डाली, एक बार उस

छतरी की ओर और फिर मेरे दुपट्टे की ओर देखा और निर्णय दे डाला, 'यह छत्री इसी सभ्य सज्जन की है।' मवाली क्रोध में बड़बड़ाता हुआ चला गया। मैं बाहर आकर फुटपाथ पर रेंगने लगा। मेरा विश्वास था कि वह चौराहे पर खड़े सिपाही को लेकर आएगा। अतः मैं कल्पना-राज्य में विचरण करने लगा— पुलिस मुझे पकड़ ले जायगी, न्यायालय मुझे दंड देगा और मुझे आदर्श कारागार के नंदनवन में रहने का अवसर मिलेगा। पर न मवाली का पता था और न पुलिस का। तब मुझे लगा कि शायद मवाली ने भी वह छत्री कहीं से उठाई होगी, इसीलिए उसमें पुलिस के पास जाने का साहस न था।

अब क्या करना चाहिए? अनेक युक्तियां एक के बाद एक मन में आने लगीं। यदि स्वयं पुलिस-स्टेशन पर जाकर छतरी चुराने की सूचना दूं तो? यही ठीक है। मैं निकट के थाने में गया और हवलदार को अपने अपराध के सम्बन्ध में बताया, "देखो भाई, यह छतरी मैंने चुराई है···"

हवलदार ने पूछा, "कहां से उड़ाई है?"

"बुलबुल सिनेमा' के सामने 'तोता-मैना' होटल में। उड़ाई नहीं है, चुराई, चु—रा—ई है। पर उधर ध्यान न देता हुआ वह लापरवाही से बोला, "तोता-मैना होटल हमारे क्षेत्र में नहीं है। गांजा-मारुति के पास वाले थाने पर जाकर रिपोर्ट करो।" और वह निर्विकार भाव से सामने की पान की दूकान की ओर चल दिया। "पर मैं रहता तो तुम्हारे ही क्षेत्र में हूं?" इस स्पष्टीकरण को सुनने के लिए वह वहां था ही नहीं।

अजीब उलझन थी। वह चुराई छतरी रखना मेरे लिए असम्भव था। एक बार मन में आया कि बीच बाजार में फुटपाथ पर खड़े होकर चिल्लाऊं, "चोरी का माल आठ आना, आठ रुपये की छत्री का दाम सिर्फ आठ आना।" तब तो पुलिस पकड़ ही लेगी। पर चोरी का माल कहने से लोग खरीदने में हिचकिचाएंगे। और शायद चोरी के माल को इस तरह बेचना भी न्यायदृष्टि से अपराध नहीं है। चोरी का माल रखने के अपराध में यदि पुलिस ने पकड़ भी लिया तो भी मैंने चोरी की है, यह कैसे प्रमाणित करूंगा? आजकल पुलिस की प्रवृत्ति न पकड़ने की ओर है, अतः प्रमाण भी मुझे ही देना पड़ेगा। और फिर यदि पकड़ भी लें, तो भी कोई न कोई नुकता निकालकर छोड़ देने का स्वभाव उनका बन गया है क्योंकि कारागारों में स्थान नहीं है। अतः यह विचार त्याग मैं गांजा-मारुति थाने की ओर मुड़ा और अन्दर जाकर बोला, "इंस्पैक्टर साहब। मैं एक अपराध स्वीकार करने आया हूं। यह छत्री मैंने चुराई है।"

इंस्पैक्टर कुछ मुस्कराते हुए बोले, "आपने? और यह छतरी चुराई है? असम्भव। गुरुजी! आप भले ही मुझे न पहिचानें, पर मैं आपको पहचानता हूं। कोतवाली के पास वाले स्कूल में दूसरी कक्षा में बैठकर जब मैं कमीज की बांह से

नाक पौंछा करता था, तब आप ही तो शिक्षक थे। और पांचवीं कक्षा में एक दिन जब मैं चोरी-चोरी बीड़ी पी रहा था तब आपने ही तो चांटा मारा था। हवलदार, छतरी का हुलिया लिख लो—मास्टर साहब मजाक कर रहे हैं? आपको यह छतरी मिली कहां?"

"मिली नहीं भाई, आज ही चु—रा—ई है।" मैं गम्भीरतापूर्वक बोला।

"यह कैसे हो सकता है?" इंसपैक्टर बोला, "बैठिए, मैं अभी समझाता हूं। चोर दो प्रकार के होते हैं। एक सीधे-सादे गिरहकट और दूसरे जैंटिलमैन-डाकू। सीधा-सादा चोर जीने के नीचे सोता है, फुटपाथ या होटल में रहता है और गर्दन मरोड़कर अपना काम करता है। दूसरा, भोलेपन का ढोंग करने वाला डाकू मैरीन-ड्राइव के बंगले में रहता है, अधुनातन पोशाक पहनकर रोल्स-रॉयस में घूमता है। अपने को अलग रख बैंक में डाका डलवाना और स्त्रियों का अपहरण कराना ही उसका व्यवसाय है। आप जैसे दुपट्टाधारी डाकू अभी तक तो मेरी दृष्टि में आए नहीं हैं। ऐसा डाकू भले ही गलत हिसाब-किताब लिखकर अथवा झूठी रसीदें देकर रुपया कमाए, पर छत्री या युवती चुराना उसके वश का नहीं है। अच्छा बताइए, यह छतरी आपको मिली कहां?"

मैंने कहा, "पर मैं शपथपूर्वक कहता हूं कि···"

इतने में हवलदार ने छतरी का पूर्ण परीक्षण कर लिया था। वह बोला, "हिरन-छाप, पोली डण्डी, मुड़ी हुई मूठ, और कपड़े पर ह० म० प० अक्षर।"

इंसपैक्टर हुलिया लिख रहे थे। 'ह० म० प०' अक्षर सुनते ही वे आश्चर्य-युक्त स्वर में बोले, "अरे यही वह छतरी है जिसकी चोरी की सूचना पन्द्रह दिन पूर्व हरी भगवान पवार ने दी थी। मैंने ही तो उस छतरी की हुलिया लिखी थी। अब बताइये गुरुजी। पन्द्रह दिन पूर्व चुराई गई छतरी का आज चुराया जाना कैसे सम्भव है। ठीक है, मुझे तो जरा पहचान-परेड में जाना है। हवलदार, तुम जरा हमारे गुरुजी का पान-इलायची से सत्कार करना।" यह कह इंसपैक्टर उठे और टोपी पहनते हुए बोले, "आप हवलदार को बता दीजिए कि यह आपको कहां और कैसे मिली।"

यहां भी वार खाली गया, मानो सभी पुलिसवालों ने मुझे छोड़ देने का कुचक्र रच रखा था। पहले केवल संशय मात्र पर ये लोगों को व्यर्थ पकड़ कर, झूठे प्रमाण खड़े कर, जेल में बन्द कर देते थे और आज सच्चे चोर को भी कान पकड़कर निकाल बाहर करते हैं। अतः मुझे स्पष्ट हो गया कि यदि जेल में बन्द होना है, तो अहिंसात्मक उपायों से काम न चलेगा, बिना मारधाड़ किए सफलता कठिन है। उधर इंसपैक्टर ने जेब से सिगरेट निकाली और उसे सुलगाने लगा। मेरा रोष उफन रहा था क्योंकि बिना ठोक-पीट, मारधाड़ के जेल में जाना असम्भव प्रतीत हो रहा था। अतः मैंने सड़ाक से उसके तमाचा मारा। यही एक

रामबाण उपाय था। 'एसाल्ट' के अपराध में दीर्घ सपरिश्रम कारावास का विधान है और साथ ही जुर्माना, तथा जुर्माना न चुकाने पर उसके बदले अधिक दिन का कारावास भोगना (मेरे लिए उपभोगना) पड़ता है। मेरा विश्वास था कि चांटा लगते ही इंसपैक्टर मेरे हाथों में हथकड़ी डाल देगा। पर खिसियाकर वह मेरे चरण स्पर्श करता हुआ बोला, (सिगरेट तो कभी की अलग जा पड़ी थी) "भूल हुई सर, मैंने आजीवन सिगरेट न पीने की शपथ आपके चरणों को स्पर्श करते हुए ली थी। हवलदार, गुरुजी के हाथ में शायद चोट लग गई हो, जरा तेल तो मल दो भाई। क्षमा कीजिए, गुरुदेव। मुझे विलम्ब हो रहा है। अच्छा, नमस्कार।" और इंसपैक्टर गाल सहलाता हुआ निकल गया। उसे क्या पता कि मैंने जेल जाने के लिए उस पर आक्रमण किया था। उस बेचारे ने तो सोचा कि वयोवृद्ध गुरुजी के सम्मुख धूम्रपान का प्रसाद मिला है। शिष्यादिच्छेत पराजयम्। दैव प्रतिकूल हुआ तो इंसपैक्टर भी बदल गया।

जहां देखिए वहीं चोरी और मारधाड़ का बाजार गर्म था। अपने अपराधों की स्वतः सूचना देने वालों की क्यू थानों में लगी हुई थी। उन्हें पकड़ने के स्थान पर पुलिस उन्हें लाठी मार-मार कर वहां से भगा रही थी। 'आदर्श जेल' में जाने के लिए लोगों में होड़ लगी हुई थी। वास्तविक चोर अब छिपने की जगह बढ़ी दाढ़ी-मूंछों को साफकर सार्वजनिक स्थानों पर घूमते थे जिससे पुलिस उन्हें पहिचान कर बन्दी बना ले। झूठे चोर हाथ में 'मुझे पकड़ो' की तख्ती लिए पुलिस कमिश्नर की अदालत को घेरे रहते। परिचितों की घड़ी चुराते, उनसे अदालत में चोरी का मुकदमा चलवाते, स्वयं झूठे गवाह लाते जिससे कारावास का दण्ड मिले, पर पुलिस थी कि किसी की तरफ आंख उठाकर भी न देखती थी। अधिक हुआ तो मुकदमा चलाया, (वह भी अपराधी के आग्रह पर) और 'अपराधी पश्चातापदग्ध है' न्यायालय से कहकर मुकदमा खारिज करा दिया। आदर्श जेलों में अपराधियों की संख्या बढ़ रही थी और सरकार को उनका खर्च चलाना निरन्तर कठिन होता जाता था। न्यायाधीशों की प्रवृत्ति कारावास का दण्ड देने की बजाय जुर्माना करने की होने लगी थी, पर अपराधी जुर्माना देने की बजाय कारावास में रहना पसन्द करते थे। पुलिस प्रॉसीक्यूटर अपराध सिद्ध करने के स्थान पर अपराध सिद्ध नहीं होता, यह दिखाने का प्रयास करने लगे। अपराधी के वकील झूठे गवाह लाकर इस बात का प्रयत्न करते कि उनके मवक्किल को दण्ड मिले। सारांश यह कि अपराधी के वकील पुलिस की ओर के वकील लगते थे और पब्लिक प्रॉसीक्यूटर डिफैन्स के वकील के समान मुकदमे की पैरवी करते दिखते थे। 'पहचान-परेड' के समय प्रार्थी अपराधी को नहीं पहचान पाया, अतः उसे छोड़ दिया जाय, इस बात पर आग्रह किया जाता था।

कितना क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया था। पहले अदालत द्वारा छोड़ दिए

जाने पर न्यायालय में ही अपराधी पर अन्य आरोप लगाकर उसे पकड़ने की चेष्टा की जाती थी और अब न्यायालय द्वारा निर्दोष घोषित कर दिए जाने पर अपराधी वहीं एक और अपराध करने लगे थे तथा पुलिस ऐसा प्रकट करती थी कि जैसे उन्हें उससे कोई मतलब ही नहीं। इधर जजसाहब अपराधी को छोड़ देने की आज्ञा सुनाते, उधर न्यायालय का अनादर कर दण्ड पाने के हेतु वह जोर से चिल्लाता, 'यह न्यायालय है कि मज़ाक !' इस पर उसे दण्ड भी मिलता तो बस न्यायालय के उठने तक वहीं बैठे रहने तक का। बन्दी व्यक्तियों के पास पुलिस की ओर से नोटिस जाने लगा, "कारण बताइए, आपको पुलिस क्यों न छोड़ दे ?" और इस पर हाईकोर्ट में अर्जियाँ आने लगीं, "हमने चोरी की है फिर भी हमें क्यों नहीं पकड़ा गया है, यह बताने के लिए पुलिस को नोटिस दिया जाय।" सड़कों और चौराहों पर जगह-जगह लिखा दिखाई देने लगा, 'अपराधी छोड़ना हराम है, आदर्श जेल ज़िन्दाबाद !"

सीधे मार्ग से (अर्थात् चोरी, मारधाड़ द्वारा) कारागार में जाने की आशा अब नहीं दिखती थी। अतः मैंने अन्त में एक अत्यन्त निन्दनीय उपाय का आश्रय लिया। एक नाज़ुक नखरैल-कुमारी को भर-सड़क पर धक्का देकर मैं आगे बढ़ गया। अब मेरा दृढ़ विश्वास था कि आसपास के लोग मुझे पकड़ कर जेल में ठूस देंगे। परन्तु उस कुमारी ने मेरा पीछा किया और अपनी पुस्तक से मेरी कमर की अच्छी सिकाई कर दी। कानून स्वयं हाथ में लेना उसकी गलती थी। लोग उस युवती की ओर तनिक विस्मय से देखने लगे। उनका विचार था कि कब्र में लटकाए पैर वाला यह बूढ़ा युवती को धक्का नहीं दे सकता। अतः उन्होंने मेरा ही पक्ष लिया और मैं अब भी जेल के दर्शन न कर सका। इसके अतिरिक्त उनके मत में युवती द्वारा दिया हुआ दण्ड ही मेरे लिए पर्याप्त था।

अब नियम के प्रतिकूल अर्थात् पुलिस की सहायता के बिना ही मैंने जेल जाने की एक तरकीब लड़ाई। पन्द्रह दिन तक दाढ़ी बढ़ाई, एक फटा हुआ पजामा और मैला कुर्ता लेकर बन्दी का वेष बनाया और कारागार के निकट की झाड़ियों में छिप रहा। उधर से जब बन्दियों का एक समूह 'सांस्कृतिक चित्रपट' देखकर लौट रहा था, मैं उसमें मिल गया और जेल की ओर चलने लगा। बन्दी एक-एक कर अन्दर जाने लगे, मेरी बारी भी आयी पर तुरन्त पहरेदार ने मुझे रोक दिया क्योंकि शेष बन्दी चिकनी दाढ़ी बनाए, स्वच्छ सफेद कुर्ता और जांघिया तथा सिर पर धोबी की धुली गांधी टोपी पहने हुए थे। इनमें खूनी, डाकू, व्यभिचारी और बलात्कार करने वाले थे। उन्हें वह प्रहरी खुशी से उस नन्दनवन में जाने दे रहा था, पर मुझे उसने भयंकर अपराधी समझकर भीतर जाने से रोक दिया। वस्तुतः ऐसे बन्दीगृह में प्रहरी की कोई आवश्यकता नहीं थी। पर यहां वह इसलिए न था कि बन्दियों को भागने से रोके। उसका कार्य तो यह था कि यदि कोई

अनधिकृत डाकू घुसने का प्रयत्न करे, तो वह उसे रोक दे।

इस प्रकार तंग आकर मैंने अन्तिम प्रयास करने का निश्चय किया। मैंने एक तख्ती तैयार की और उस पर लिखा 'अपराधियों को छोड़नेवाली सरकार तोड़ दो', एक बोतल में सेंहुड़ की कलियों का ताम्रवर्णी रस भर उस पर स्कॉच व्हिस्की नं० १ की चिट लगाली। एक हाथ में वह बोतल तथा भगवा झंडा तथा दूसरे में वह तख्ती ले रास्ते में नशेबाज की तरह लड़खड़ाता हुआ चलने लगा। 'सरकार तोड़ दो' का नारा महान् अपराध था, उसके लिए जन्मभर कारावास का दण्ड निर्धारित था। कहीं उसे बुढ़भस की सनक मानकर मुझे न छोड़ दें, अतः मैंने शराब की बोतल ले ली थी। फिर भी सरकारी वकील ने मेरा पक्ष लेते हुए कहा, 'वस्तुतः सरकार उलटने का इसका उद्देश्य न था, यह तो केवल शराब के नशे में ऐसा बड़बड़ाता था। अतः मैं दण्ड देने के लिए अदालत से आग्रह नहीं करता।"

मजिस्ट्रेट ने मुझे 'निर्दोष' कहकर छोड़ दिया। बोतल में शराब नहीं है, यह पुलिस को ज्ञात था। सरकारी वकील ने भी कहा कि वह शराब न होकर सेंहुड़ की कलियों का रस है। इससे यह सिद्ध होता था कि मैं नशे में नहीं बोल रहा था और मैंने सरकार को उलटने का अपराध किया था। पर इस सम्बन्ध में सरकारी वकील साहब बिल्कुल चुप्पी साध गए।

यद्यपि अदालत ने फैसला दे दिया था, तथापि मैं हठ पकड़े हुए था। कठघरे में खड़ा होकर चिल्लाने लगा, "पर शराब के नशे में बेहोश होना भी तो अपराध है।" शराब के नशे में यह कुछ बड़बड़ा रहा है, यह कहकर मेरा बचाव करना अब सरकारी वकील के लिए भी सम्भव न था। कोर्ट को मेरी बात सत्य प्रतीत हुई, पर तभी सरकारी वकील ने कहा, "पर उसका यहां कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत आरोप केवल १४४ दफा के अन्तर्गत है। शराबबन्दी की दफा का नहीं है। अतः आपका पहला निर्णय ही लागू होगा। शराब पीने के अपराध में दूसरा मुकदमा चलाया जाएगा" इस पर भी मजिस्ट्रेट मुझसे ही सहमत रहे। कानून की बाल की खाल निकालते हुए उन्होंने निर्णय दिया, ' शराब के नशे में नहीं, शराब पीकर सरकार को उलटने के प्रचार करने के बदले मैं अपराधी को दोषी ठहराता हूं और···"

तभी मैं एक देशभक्त की तरह बोला, "मैंने जान-बूझकर अपराध किया है, मुझे अधिकाधिक दण्ड मिलना चाहिए।" पर सरकारी वकील ने पुनः आपत्ति की और बोले, "अपराधी का यह पहला अपराध है, अतः उसकी उम्र को देखते हुए मैं कठिन दण्ड का आग्रह नहीं करता···"

मैं बीच ही में बोल उठा, "प्रथम अपराध ? छतरी चुराने से लेकर अब तक सत्रह अपराध कर चुका हूं, जनाब।"

सरकारी वकील बोला, "अपराधी की स्वीकृति मात्र पूर्ण प्रमाण नहीं हो सकती" तथापि न्यायाधीश ने मुझे दो सप्ताह की सपरिश्रम कारावास की सज़ा दी। मेरा लक्ष्य कुछ-कुछ पूरा हुआ।

कारागार में पहुंचने पर मुझे कुछ आघात-सा लगा। मुझे अशिक्षित बन्दियों को शिक्षा देने का कार्य दिया गया और उसके बदले वेतन भी। बन्दीगृह के बाहर मुझे केवल ७।।) पेन्शन मिलती थी, पर यहां खाने-पीने के बाद भी ६०)वेतन के रूप में मिलते थे और ऊपर से रहना, सिनेमा और वाचनालय मुफ्त।

इस बन्दीगृह का सुपरिन्टेन्डेंट बड़ा दक्ष व्यक्ति था। एक बार बंदीगृह की दीवार की मरम्मत के लिए बाहर एक सीढ़ी लगाई गई थी, पर जब उस पर चढ़कर नकली चोर बंदीगृह में आने लगे, तो उसने काम समाप्त होते ही वह सीढ़ी अन्दर दीवार के सहारे खड़ी करवा दी। उसका उद्देश्य था कि उसका लाभ उठाकर बन्दी रात्रि में भाग जायं। पर उसकी यह योजना सफल न हुई। किसी ने उसे आड़ी करके रख दिया, कोई भी बंदी बाहर नहीं गया। उन्हें कोई बाहर जाकर भीख थोड़े ही मांगनी थी? एक बार बंदियों को बाहर भाग जाने की सुविधा देने के लिए चहारदीवारी के दो छड़ निकाल कर वहां एक दरार कर दी गई थी, पर अगले दिन अन्दर के बन्दियों की संख्या कम होने के स्थान पर दो और बढ़ गई थी क्योंकि भागा तो कोई था नहीं, उल्टे दो अनधिकारी व्यक्ति अन्दर अवश्य घुस आए थे। तीसरे दिन बन्दियों ने ईंट और गारे से वह दरार बंद कर दी क्योंकि उन्हें और अधिक भीड़ नहीं चाहिए थी।

बंदीगृह के औषधालय में विष की बोतल ऐसे रखी थी कि कोई भी उनका उपयोग कर सकता था। एक पर लिखा था, 'जालिम विष! मृत्यु के लिए केवल डेढ़ रत्ती।' पर वह एक रत्ती भी कम नहीं हुआ। अधिकारियों को जब यह ज्ञात हुआ कि बंदी छूटने से पहली रात उसका प्रयोग करने वाले हैं, तो ताबड़तोड़ उन्होंने बोतल हटा दी। फांसी लगाने के लिए भी जो रस्सी के टुकड़े पड़े थे, उन्हें भी बंदियों ने सम्भाल कर रख दिया था। उस दक्ष अधिकारी को असली अपराधी चाहिए थे, पेट भरने के लिए आने वाले नकली भुक्खड़ चोर नहीं।

इस जेल में आने वाले व्यक्ति हड्डियों के ढांचे होते, पर जाते समय गामा की तरह पहलवान बनकर जाते। कितने ही पुराने रोगी इस आदर्श बंदीगृह में आते ही स्वस्थ हो जाते क्योंकि यहां औषधि, पथ्य की पूर्ण व्यवस्था थी। डाक्टर, वैद्य भी वायु-परिवर्तन की जगह इसी बन्दीगृह की सिफारिश करने लगे। जब उन्हें किसी को वायुपरिवर्तन के लिये भेजना होता, तो 'अमुक व्यक्ति ने मेरी फीस नहीं दी है,' कहकर उसपर मुकदमा चलाकर वह उसे यहां भेज देते।'

अन्त में जैसे-जैसे मेरी मुक्ति के दिन निकट आने लगे, तैसे-तैसे मेरा हृदय कम्पित होने लगा। और उधर दुर्दैव से अच्छे आचरण के कारण दो दिन की

छूट मिल गई थी। इस विशाल जगत में दो दिन पूर्व मुक्त होकर मैं क्या करता ? मुझे पहले से यह सूझा ही नहीं, वर्ना शुरू से ही बन्दीगृह के नियम तोड़ने लगता और 'आचरण बुरा' की चिट पा लेता।

अन्ततः मुक्ति का वह दुर्दिन उदय हुआ। मैंने सोचा बंदीगृह के बाहर जाकर अपराध करने से तो यही अच्छा है कि यहीं मारपीट की जाय जिससे मुआफी में छूटे हुए दिन तो वापिस ले ही लिए जायं, साथ ही कुछ और दिन का दण्ड भी मिले। बंदियों के लिए वहां एक तालाब था। उसी में मैंने छलांग लगाई। चूंकि आत्महत्या का यह प्रयास सुपरिन्टेन्डेंट के सामने किया था, अतः अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता भी न थी। मेरा अनुभव था कि गवाहों के अभाव में अपराधी प्रमाणित होना बड़ा कठिन हो जाता है। पर इतने में स्वयं सुपरिन्टेन्डेंट ने कूदकर मुझे बाहर निकाला और बोले, "अरे काकाजी ! आप कूदकर क्यों मर रहे थे ? आज तो आपके छूटने का दिन है।"

'मरता नहीं था' मैं शांत स्वर में बोला, "केवल आत्महत्या का प्रयत्न कर रहा था, क्योंकि इस अपराध में भी तो कत्ल करने के बराबर दण्ड मिलता है न ?"

सुपरिन्टेन्डेंट ने सोचा कि मैं बड़ा विनोदशील हूं। हंः हंः करते हुए बोले, "लगता है आपका पैर फिसल गया था। आपको एक दिन और पहले छोड़ने का मुझे अधिकार है। अतः मैं तुम्हें आज ही छोड़ता हूं। सार्जेन्ट, आज के डिस्चार्ज में इनका नाम लिख देना।"

अब मैं बन्दीगृह के बाहर हूं। आजकल के सरकारी कर्मचारियों को वेतन के अतिरिक्त घर-भत्ता, मंहगाई, बम्बई-भत्ता, मोटर-भत्ता, क्लीनर-भत्ता, क्लीनर के डस्टर के लिए भत्ता, इत्यादि के नाम पर पैसे मिलते हैं। युद्ध के समय सेना के यूरोपियन सैनिकों को भी इसी प्रकार के मजेदार भत्ते मिलते थे, जैसे विवाहित होने पर विवाह भत्ता और लड़ाई में जाने पर विरह-भत्ता। और बीस वर्ष पूर्व मेरे लिये पेन्शन की जो साढ़े सात रुपये की रकम निश्चित की गई थी, उसमें एक दमड़ी भी महंगाई के युग में नहीं बढ़ाई गई थी। इसके विपरीत अब जेल-बर्ड होने के कारण वे साढ़े सात भी सरकार ने बन्द कर दिए। गए थे चौबेजी छब्बे होने, रह गए दुब्बे ही।

स्पष्टवक्तापन का प्रयोग

चिंतामणी वि० जोशी

कोल्हटकर-सम्प्रदाय से भिन्न कोटि का सच्चा, निर्मल, कलापूर्ण हास्य उत्पन्न करने वाले चिं० वि० जोशी ने यद्यपि पुरातन हास्य उपकरणों—अतिशयोक्ति, अनपेक्षित प्रसंग-योजना, श्लेष, विरोधाभास का प्रयोग किया है तथापि उनके विनोदपूर्ण साहित्य की सर्वाधिक विशेषता यह है कि उनका विनोदी साहित्य केवल विनोदी न होकर साहित्यिक भी है। उसमें यदि एक ओर विनोद-सृष्टि की गई है तो दूसरी ओर मध्यम वर्ग के जीवन का यथार्थ चित्रण भी प्रस्तुत किया गया है। कोल्हटकर, गडकरी के समान उनके पात्रों-चिमणराव व गुंड्याभाऊ की जोड़ी भी अमर है। उनका विनोद उच्छृंखल, अश्लील, अमर्यादित न होकर सौम्य व सभ्य है। उसमें न कटु आलोचना है, न निर्दय उपहास। उसमें न अतिशयोक्ति का अतिरेक है न शब्दचमत्कार की अधिकता। सरल प्रसंगों एवं सीधे-साधे पात्रों की छोटी-छोटी बातों से विनोद निर्माण करने की उनकी क्षमता अद्वितीय है। अब तक उनके प्रकाशित विनोदपूर्ण कथा-लेखों में सर्वाधिक प्रसिद्ध संग्रह है, 'चिमणरावचें चर्हाट'- 'हास्य-चिन्तामणि' 'एरण्डाचे…'

'आजकल जिधर देखिए, उधर ढोंग दिखाई देता है। धर्म में साधुत्व का ढकोसला, राजनीति में चारसौ-बीसी, सामाजिक व्यवहार में खोखला नीत्युपदेश, जहां देखिए वहां ढोंग और बनावट। ये वृद्ध लोग हम तरुण-तरुणियों को एक साथ घूमते देखकर सदा…"

व्याख्यान देने वाली स्त्री ३५-३६ वर्ष की अविवाहिता थी। अविवाहित होने के कारण पचास वर्ष की आयु तक भी तरुणी कहलाने का अधिकार उसे प्राप्त था और मैं उसी वय में बाल बच्चेदार होने के कारण वृद्ध कहा जाने लगा था। छिः! छिः! उस महिला का व्याख्यान सुनना छोड़कर स्वगत-भाषण करने के लिए मुझ से किसने कहा है?

"जब देखो तब नीति की बातें कहकर हमें दबाना चाहते हैं। पर वृद्धो! तुमने यौवन में क्या-क्या रंगरेलियां की थीं, इससे हम अपरिचित हैं, ऐसा मत समझो। तुम्हारा अंतरंग जीवन हमें पूर्णतः ज्ञात है। हम तुम्हारी ईर्ष्याग्नि से पूर्ण परिचित हैं। तुम्हारी नीति उसी ईर्ष्याग्नि को छिपाने के लिए रखी गई निर्जीव राख है। हम तरुण अपनी भावनाओं को मन ही मन मार कर कुढ़ने वाले नहीं हैं। सत्य ही हमारा मित्र है, हम अपने मन की बातें स्पष्ट कहेंगे। आज के अपने श्रोताओं से भी मेरा यही आग्रह है कि आप लोग स्पष्टवक्ता बनो, बोलचाल में तथा कर्म में किसी प्रकार का छिपाव मत करो। कदाचित् रुढ़िग्रस्त, नीति के नशे में चूर, सनातनी बूढ़े तुम पर रोष प्रकट करेंगे, परन्तु समाज के स्थायी हित की दृष्टि से स्पष्ट बोलना, स्पष्ट लिखना और स्पष्ट व्यवहार बहुत आवश्यक है। सबसे पहले स्पष्ट विचार करने की शक्ति जाग्रत करनी चाहिए।"

व्याख्यान देने वाली स्त्री की बात मुझे सोलह आना सच प्रतीत हुई। गोल-मोल बात करने के कारण जितनी व्यक्तिगत हानि मुझे आज तक उठानी पड़ी थी, उसका स्मरण हो आया। संकोचशील स्वभाव के कारण मेरे जीवन में अनेक झंझटें खड़ी हो चुकी थीं। पड़ौस के कुलकर्णी के कटखने कुत्ते को, उनके गांव जाने पर, एक माह तक रखने के कारण मुझे मुहल्ले भर की गालियां खानी पड़ी थीं। घर की खराब नाली, टूटी छत और बिगड़े हुए नल के विरुद्ध मैंने मकान मालिक से कभी झगड़ा नहीं किया। दफतर में मेरा पद एस० आय० आर० ऐय्यर ने छीन लिया, तब भी अपनी कायरता के कारण मैंने उसे पाने की चेष्टा नहीं की। कितनों के ही उधार मांगने पर स्पष्ट नकार न करने के कारण कितनी ही बार मुफलिस साहूकार बनने की बारी आचुकी थी।

उक्त महिला का व्याख्यान समाप्त होते ही मंच पर चढ़कर मैंने उनकी पीठ ठोकी। बेचारी महिला लज्जा से लाल हो उठी, पर मैं उन्हें धैर्य बंधाता हुआ बोला, "बहिन। शाबाश। आज तुमने मुझे दिव्य सन्देश दिया है, मेरे जीवन को एक नया मोड़ प्रदान किया। इससे पूर्व यदि मेरी आपकी भेंट हो गई होती तो···।"

मेरे उस आचरण की श्रोताओं ने टीका की। उनको लगा जैसे मैंने कोई बड़ा अनुचित कार्य किया है। अतः अध्यक्ष, मंत्री और स्वयंसेवकों ने मुझे घेर कर तथा कुत्तों की तरह भूंक कर सभामंडप से शीघ्रतिशीघ्र निकाल बाहर किया। पर मुझे विश्वास है कि मुझे भगा देने के बाद उन्होंने भी मेरा ही अनुकरण किया होगा। वहां से पहले मैं डा० भुंगे के औषधालय में गया क्योंकि मेरे छोटे साले शंकर काशीनाथ किडमिडे को क्षयग्रस्त होने के कारण उसके सम्बन्धियों ने उपचार के लिए वहीं रख रखा था। वहां जाकर मैंने उसके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछा, "कहिए डाक्टर साहब, शंकर के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में आपको कितनी

आशा है ?"

"हम क्षुद्र मानव क्या कर सकते हैं ? कर्ताधर्ता तो परमेश्वर है।" दीर्घ श्वास लेते हुए डाक्टर बोले।

"डाक्टर साहब, गोलमोल बात मत करिए। स्पष्ट अपना मत बताइये। अभी मैं···कुमारी जी के व्याख्यान में गया था। हमारे समाज को जो संदिग्ध, अर्धसत्य, 'नरो वा कुंजरो वा' पद्धति की द्व्यर्थी बात कहने की आदत पड़ी हुई है, उसकी उन्होंने भरपूर निन्दा की। अतः जो कुछ कहना है, स्पष्ट कहिए।"

"ठीक है, साफ-साफ बतलाता हूं। पर आपको धैर्य रखना रड़ेगा।" बीड़ी का कश लगाते और एक बीड़ी मुझे देते हुए डाक्टर बोले, "सच तो यह है कि शंकर के जीवन के केवल दो मास शेष हैं।"

मेरे हाथ से बीड़ी गिर गई। रूमाल से आंखें पोंछते हुए मैं तत्काल उठा। मुझे विश्वास हो गया था कि डाक्टर का कथन कठोर होते हुए भी सत्य था। प्रतिदिन संध्या समय किडमिडे के पास जाते समय एकाध संतरा, कुछ सुगन्धित फूल और अफवाहों से भरे अखबार का ताजा अंक ले जाता था। आज सुगन्धित पुष्पों के स्थान पर पूजा के फूल और अफवाहों से भरे अखबार की जगह 'मुमुक्षु' का अंक मैंने खरीदा। शंकर की खाट के पास बैठते ही उसने क्षीण आवाज़ में पूछा, "जीजा ! 'निर्लज्ज' पत्र का ताजा अंक लाए हैं क्या ? देखूं, आज उसमें किसे-किसे गालियां दी गई हैं ?"

"शंकर भाई, 'निर्लज्ज' पत्र पढ़ने की रुचि तुममें अभी भी बनी है, इससे स्पष्ट है कि तुम अपनी वास्तविक दशा से नितान्त अनभिज्ञ हो" मैं गम्भीर मुद्रा में बोला "अब वाहियात अखबार पढ़ने के दिन नहीं रहे। अतः मैं तेरे लिए 'मुमुक्षु' का अंक लाया हूं जिसमें साधु-संतों के बचन हैं। इसे पढ़ और परमार्थ-चिंतन कर।"

शंकर के पैताने की तरफ उसके पिता, मेरे श्वसुर काका साहेब शान पर कुछ घिसते हुए बैठे थे। मेरा कथन उन्हें कुछ विचित्र लगा। अतः वे मुस्कराते हुए बोले, "क्यों भाई। आज साले से मज़ाक करने का यह नवीन मार्ग निकाला है क्या ? ठीक है, तुम शंकर को सुनाने के लिए नया उपन्यास लाने वाले थे न ? प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा पढ़कर सुनाने से उसका मनोरंजन हो जाएगा।"

"काकासाहब" वीर रस प्रधान गद्य-नाटक के नायक के समान हुँकारते हुए मैंने कहा "अब कैसा उपन्यास और कैसा नाटक ! इस बिचारे शंकर का जीवन ही शोकान्त उपन्यास होने वाला है। इसे अब उपन्यास सुनाने की अपेक्षा गरूड़-पुराण अथवा महाभारत का 'स्वर्गारोहण पर्व' सुनाना अधिक उपयुक्त होगा, कदाचित् परलोक-प्राप्ति में उससे लाभ हो जाए।"

मेरे यह विचार सुन काकासाहेब के तन-बदन में मानों आग लग गई और

शंकर ने सिर पर चादर ओढ़ ली। मुझे उनका यह ढोंग अच्छा नहीं लगा। वे दोनों भविष्य की मृगतृष्णा में फंसे हुए थे। उनकी इस दुर्बलता पर उन्हें फटकारने के लिए मैं कुछ कहने वाला ही था कि काकी साहिबा चीनी की प्याली में लपसी लेकर आ गईं और हाथ की प्याली-तश्तरी नीचे रखती हुई शंकर से बोलीं, "उठ बच्चे, थोड़ी खीर खा ले, अब भूख लगने लगी है न ? नियमित औषधि-सेवन तथा खाने-पीने में परहेज से तू एक महीने में ही अच्छा हो जायगा। (मेरी ओर मुड़कर) क्यों न अप्पासाहब ?"

यदि मैंने आज उन तरुण कुमारी जी का व्याख्यान न सुना होता, तो एकदम हां हां कहकर उनका समर्थन किया होता, रोगी को झूठा धीरज बंधाने का पाप किया होता, पर अब तो मैंने स्पष्टवक्ता होने का व्रत ले लिया था। डाक्टर के शब्द मुझे पूर्णतः स्मरण थे। अतः मैं बोला, "काकी, तुम्हारी आशा व्यर्थ है।" मेरे इस विचित्र उत्तर से काकी स्तब्ध रह गईं। उधर काका भी सान रखने का काम बन्द कर आश्चर्य से मेरी ओर देखते रहे। काकी आंखों में आंसू भर भरे गले से बोलीं, "अप्पा साहब, यह मज़ाक का समय नहीं है। व्यर्थ में रोगी को घबराना ठीक नहीं।" "मैं मज़ाक कहां कर रहा हूं ? अभी-अभी डाक्टर भुंगे ने कहा है।" मेरे इस कथन को बीच में ही रोकते हुए काका साहब बोले, "तुम्हें कोई बुला रहा प्रतीत होता है, जरा दरवाजे पर देखो तो।"

मैंने पहले आहट ली, फिर द्वार तक देख आया, मुझे किसी ने नहीं पुकारा था। मुझे बोलने से रोकने की काका साहब की वह युक्ति थी, यह मैं तुरन्त समझ गया। मैं लौटकर रोगी की शैय्या के पास खड़ा हो गया। काका साहब ने विषयान्तर करने के लिए इधर-उधर की गप्प मारना आरम्भ किया, पर मुझ पूना-निवासी के सम्मुख सतारे के उस भोले-भाले वृद्ध की क्या चलती ? अपनी जगह पर बैठते हुए मैंने कहा, "हां, तो हम लोग किस विषय पर बात कर रहे थे, काका साहब ?"

"बिजली का लैम्प अच्छा होता है या मिट्टी के तेल का ?"

"छिः, यह नहीं।"

"तो फिर कदाचित् विषय था कि कुलीन स्त्रियों को नाटक में काम करना चाहिए अथवा नहीं।"

"छिः, यह भी नहीं।"

"तो फिर यह होगा कि खादी से स्वराज्य मिलेगा अथवा नहीं ?"

"वह भी नहीं। व्यर्थ में असली बात को क्यों उड़ा रहे हैं ? डा० भुंगे ने शंकर के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में क्या कहा है, यह विषय चल रहा था।" आग्रह पूर्वक मैं बोला।

"डाक्टर ने क्या कहा है, अप्पा साहब ! मुझे भी बताइये, डाक्टर ने क्या

कहा है ?" चादर में से रोगी की क्षीण आवाज़ सुनाई दी। थोड़ी-सी दुःखपूर्ण प्रस्तावना के साथ मैंने डा० भुंगे का कथन उसे ज्यों का त्यों बता दिया, "शंकर भाई ! सच तो यह है कि अब तुम्हारे जीवन के केवल दो मास शेष हैं।"

यह सुनते ही शंकर ने "अरे बाप रे !" कहते हुए चादर में अपना सिर छिपा लिया। काका साहब ने 'श्रीराम श्रीराम' कहते हुए पास की कुर्सी पर अपना सिर टिका दिया और काकी 'अरे मेरे बच्चे' कहती हुई तथा शंकर से लिपटती हुई ज़ोर-ज़ोर से रोने लगीं। वह अनपेक्षित दृश्य देखकर मैं वहां से चुपके से खिसक आया।

घर आकर कपड़े उतारकर खाने के लिए बैठने वाला ही था कि हमारी नौकरानी गजी आई और मुझसे बोली, "बाई की औषधि मेज़ की दराज में रखी है।" यह सुनकर मां बोली, "गजी, कैसी दवा ?" यह प्रश्न सुन गजी तो केवल मुस्करा दी पर स्पष्टवक्ता का व्रत धारण करने के कारण मुझसे न रहा गया।" "वह मु०···।" गजी ने व्युत्पन्नमति प्रदर्शित करते हुए कहा, "हां, मूली की सब्ज़ी लाई हूं बाई के लिए।" "पर उसके लिए गजी की क्या ज़रूरत थी ? मैं स्वयं न बना देती वह ?" "मां" श्रीमती जी मुझे चुप रहने का संकेत कर रही थीं, पर उधर ध्यान न देते हुए मैं बोला, "मूली की सब्ज़ी नहीं, मुर्गी का अंडा। डाक्टर ने दुर्बलता दूर करने लिए एक अंडा प्रतिदिन खाने के लिए कहा है।"

मां बहुत नाराज़ हुई और चीखते हुए बोलीं, "छिः, छिः, यह निकृष्ट पदार्थ और ब्राह्मण के घर में ? हम क्या कभी बीमार नहीं पड़ीं ? पर हमें तो कभी अभक्ष्य खाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। कमज़ोरी है तो गोंद के लड्डू खाओ, बादाम की लौज खाओ जिसमें 'गृहवैद्यक' में बताई हुई चौबीस औषधि पड़ी हों। पर यह क्या ? जो अभक्ष्य है, वही खाया जाए।" "अरे मां जी, अप्पा तो आपसे मज़ाक कर रहे हैं। भला, मैं ब्राह्मण के घर में अभक्ष्य कैसे ला सकती हूं ? मुर्गी का अण्डा नहीं है, चोकर का लड्डू है, आप स्वयं देख लीजिए।" गजी मां का समाधान करने के लिए बोली।

हम इस प्रकार बातें कर ही रहे थे कि पत्नी ने कागज़ में लिपटे हुए अंडे को मेज़ की दराज से निकाला और आंचल में छिपाकर पाकशाला की तरफ जाने लगी। गजी के उत्तर से मां के भोले अंतःकरण को हुआ सन्तोष उनके मुख पर स्पष्ट प्रकट हो रहा था। पर इस अज्ञानमूलक आनन्द का उपभोग वह करें, यह मुझे उचित प्रतीत नहीं हुआ। मैंने पत्नी के हाथ से वह अंडा छीन लिया और मां के सामने रख दिया। अब क्या था ? मां की क्रोधाग्नि भड़क उठी और देर तक उनकी फुलझड़ी चलती रही। विवाह में जिस प्रकार बैंड के बंद हो जाने पर शह-नाई की पिरपिर चालू होती है, उसी प्रकार मां की बड़बड़ बंद होने पर पत्नी की पिरपिर शुरू हुई। वह अभी कुछ देर पहले ही शंकर के स्वास्थ्य के बारे में अप-

ताल से पूछ कर आई थी और वहां, मैं जो बवंडर खड़ा कर आया था, उसके लिए मुझे फटकार रही थी। उसी समय मेरे मित्र नाथू सेठ आए और रात की भजन-मंडली के लिए मेरा हारमोनियम मांगने लगे।

हारमोनियम सरीखे पदार्थ दूसरों को न देना चाहिए, यह मेरा अनुभवसिद्ध मत था। परन्तु अपनी संकोचशीलता के कारण मैंने कभी उसे प्रकट नहीं किया, मांगने आने वाले को टालने के लिए सदा बहाने बनाता रहा—धौंकनी टूट गई है, स्वर बिगड़े हुए हैं, अमुक संगीतमंडली के लिए उधार ले गया है, आदि, आदि और इस प्रकार हारमोनियम न देकर भी किसी का क्रोधभाजन नहीं बना।

पर आज तो स्पष्टोक्ति का मेरे अंग-प्रत्यंग में संचार हो रहा था, "नाथू सेठ", मैं बोला, "आज तक अनेक बहाने बनाकर मैंने तुम्हें टाला है।"

"और आज हारमोनियम दे रहे हो न ?" प्रफुल्लित मुद्रा से सेठ जी बोले।

"नहीं, नहीं। बाजा तो आज भी नहीं दे रहा, पर हां उसके लिए बहाना नहीं बनाऊंगा। आज तुम्हें साफ कहता हूं कि आज ही नहीं भविष्य में भी कभी अपना बाजा तुम्हें न दूंगा चाहे वह ठीक हो और चाहे बिगड़ा हुआ हो।"

मेरी यह दो टूक बात सुनकर नाथू सेठ को अपने कानों पर विश्वास न हुआ मुझ जैसे संकोचशील के मुख से ये निर्भीक शब्द निकलना उतना ही आश्चर्य-पूर्ण था जितना केले के पत्ते की बनी पीपनी से तुरही जैसा गम्भीर नाद निकलना, उन्होंने सोचा होगा कि अवश्य आज इसने नशा कर रखा है।

इस प्रकार मेरे नवीन व्रत का आरम्भ कुछ अच्छी तरह नहीं हुआ। पर इस प्रकार के व्रत दूसरों के समाधान के हेतु न होकर आत्मपरितोष के लिए होते हैं, यह सोचकर मैं सुख की नींद सोने लगा।

दूसरे दिन प्रातः मुझे विवाह-सम्बन्ध जोड़ने के लिए जाना था; अपने मित्र सखाराम पंत के भाई बालकराम का विवाह कराना था। कन्या अहमदनगर के सर्राफ रा० शिंडे की थी। कन्या पसन्द आ गई थी; अतः अन्तिम बातचीत करने के लिए मैं सखाराम के साथ शिंडे के घर के लिए चल पड़ा। साथ में बालकराम भी था। औपचारिक प्रश्नोत्तर के उपरान्त शिंडे ने बालकराम की बौद्धिक तथा साम्पत्तिक स्थिति जानने के लिए प्रथम प्रश्न किया, "आप कहां तक पढ़े हैं ?"

सखाराम ने उत्तर दिया, "यह पढ़े तो हैं, पर ग्रेजुएट नहीं हैं।" इस उत्तर से सभी का अनुमान यह होता कि बालकराम माध्यमिक परीक्षा तो पास कर चुका है पर स्नातक होना अभी शेष है। पर वस्तुतः बालकराम ने विद्यालय की देहली भी नहीं लांघी थी। यद्यपि मैं वरपक्ष की ओर से गया था और 'उत्सवे व्यसने चैव विवाहे प्राणसंकटे' असत्य बोलना क्षम्य है, तथापि उस आदेश का उल्लंघन कर सत्य बोलने का मैंने निश्चय किया, "अरे शिंडे महाराज, हमारे बालकराम ग्रेजुएट तो हैं ही नहीं, मैट्रिक भी नहीं हैं।" वर तथा उसके भाई को

यह आशा न थी कि उन्हीं के पक्ष से उनपर यह प्रहार होगा, अतः वे एकदम स्तब्ध रह गए।

"कोई बात नहीं, आजकल ग्रेजुएट होकर ही क्या मिलता है? परसों हमारे यहां पचास रुपये की जगह पर एक फर्स्ट क्लास एम० ए० की नियुक्ति हुई है। पर घर तो है न?" शिंडे ने प्रश्न किया?

सखारामपंत—"हां, घर है।"

"भाड़े का—"मैंने वाक्य पूरा किया।

पुनः दोनों भाइयों को बिजली का सा आघात लगा। शिंडे कुछ मुस्कराए और बोले, "ठीक, पर दस-बीस हज़ार के परमेश्वरी नोट तो होंगे ही?"

सखाराम पन्त ने स्वीकृति में सिर हिलाया पर शिंडे को भ्रम न हो, अतः मैं बोला "हैं, पर इन्होंने वे अपने साहूकार को गिरवी रख दिए हैं।"

शिंडे ने बालकराम की उम्र पूछी। सखाराम ने चिकोटी काटकर तथा बालकराम ने नेत्रों के संकेत द्वारा मुझे चुप रहने को कहा, "तेईसवां समाप्त होकर चौबीसवां लगा है विगत फाल्गुनी पूर्णिमा से, ठीक है न बालकराम?" सखाराम पन्त बोले। "ठीक है" बालकराम।

इस असत्य भाषण से मैं एकदम भड़क उठा और क्रोधपूर्वक बोला "वाह! वाह, सखाराम पन्त, उम्र का चक्र कब से उल्टा चलने लगा है? व्यर्थ में आंखें निकालकर मुझे डराओ मत। इसका तो सत्ताइसवां वर्ष है। तीन वर्ष कम कैसे हो गए?"

रा० शिंडे को इस रहस्योद्घाटन से बड़ा मनोरंजन हुआ, वह बोले, "अरे सिकन्दर ने ३२७ ईसवीं पूर्व भारत पर आक्रमण किया था और वह मरा था ३२३ वर्ष में। यह कैसे हुआ? यह मैंने स्वयं अपनी आंखों से ऐतिहासिक ग्रन्थों में पढ़ा है। उसी प्रकार तीन वर्ष पूर्व बालकराम २७ वर्ष के थे और अब चौबीसवां चल रहा है। हाः हाः...।"

अब दोनों भाइयों को अपमान असह्य हो उठा और वे उठ खड़े हुए। मैं भी उनके पीछे-पीछे दौड़कर उनके पास पहुंचा और उनके साथ-साथ चलने का प्रयत्न करने लगा पर मुझे झिड़कते हुए सखाराम बोला, "जोग! तू इतना नीच होगा, यह मुझे पता न था।"

"इसमें नीचता की क्या बात है? कल से मैंने यह निश्चय किया है कि स्पष्ट और सत्य बोलूंगा, फिर चाहे किसी को भला लगे या बुरा, मुझे इसकी पर्वाह नहीं।" मैंने धीट उत्तर दिया।

"तो हमें भी तेरी मित्रता की कौड़ी-भर पर्वाह नहीं।" यह कहकर वे दोनों भाई, जहां से रास्ता अलग होता था, मुड़ गए।

स्पष्ट कथन की संसार में कितनी थोड़ी कीमत है, इस पर खेद करते हुए मैं

ज्योंही घर पहुंचा, त्योंही देखा कि द्वार पर एक तांगा खड़ा है, उसमें धोती में ंधी दो-तीन गठरियां, एक ढक्कनदार लोटा तथा कंबल में लिपटा हुआ बिस्तर रखा हुआ है।

'कौन मेहमान आया है, यह कहता हुआ मैं ज्योंही घर में घुसा कि मुझे चादर ओढ़े हुए मां दिखाई दीं। मुझे देखते ही वह बोलीं "जिस घर में खुल्लम-खुल्ला अंडे खाए जाते हों, वहां मैं नहीं रहूंगी और अब नासिक त्रिंबकमामा के यहां जा रही हूं।"

मैंने उसे समझाते हुए कहा कि जिस अंडे बेचने वाले से मैंने अंडे लिए हैं वह ब्राह्मण है। मैंने पांच-सात ऐसे ब्राह्मणों के नाम भी बताए जिनके यहां अंडे खाए जाते हैं।

"मरे, पर वे लोग ऐसे अभक्ष्य अपने बड़े-बूढ़ों के सामने तो नहीं लाते। अलग छिपाकर खाएं तो उसमें दोष नहीं ? दृष्टि की आड़ में सृष्टि।"

"तो तुम्हारी आपत्ति खुलमखुल्ला खाने पर है। छिपकर किए पाप को तू दोष नहीं मानती।" मैं बोला।

मां रुष्ट होकर बोली, "अरे खुल्लमखुल्ला क्या कम पाप चल रहे हैं ? बहू की सहेली वह गुलाब दिघे ठीक चूल्हे तक घूमती है, उस पर मैं ध्यान देती हूँ पर दिन-प्रतिदिन तुम्हारी उच्छृंखलता बढ़ती ही जाती है। मैं निकली जाती हूं। अब तुम मुर्गी के क्या, गोमाता के अंडे खाओ, मुझे क्या। चल रे, तांगा हांक।" अन्तिम वाक्य तांगे वाले से कहा गया था।

मां का और मेरा यह पहला झगड़ा न था। अब घर में बालबच्चा होने की संभावना न होने के कारण वह भारस्वरूप लगने लगी थीं। अतः वह अनायास ही मामा के घर जाने को तैयार हो गईं, तो मुझे लगा यह मेरे नवीन व्रत का ही लाभ हुआ है।

हमारे सुपरवाइज़र मि० टर्नबुल की सिकंदराबाद को बदली हो रही थी। अतः चार बजे कार्यालय की ओर से उन्हें विदाई दी जाने वाली थी। कार्यालय में अच्छे वक्ताओं में मेरी गणना होती थी क्योंकि भाषण-कला पर लिखित एक अंग्रेजी पुस्तक से मैंने कितने ही भाषण रट रखे थे। नवीन अधिकारियों की नियुक्ति, पुरानों की बदली, कर्मचारियों में से किसी की वेतनवृद्धि, साहब-वर्ग में से किसी के यहां सन्तानोत्पति, विवाह, आदि मंगल अवसरों पर, वृद्धा की मृत्यु पर, कोई भी विषय हो—मेरी जिह्वा रेस की घोड़ी के समान सरपट दौड़ने लगती थी। पर आज मैंने रा० देशपांडे से कहा कि आज मुझसे भाषण न दिलाया जाय क्योंकि मैंने स्पष्ट-वक्ता होने की शपथ ले ली है। आज मैं भाटों की तरह स्तुति-पाठ न कर सकूंगा, परन्तु उसने मेरी बात न मानी और मुझे बोलना पड़ा। अब उसके कारण पानी में गिरे मिट्टी के ढेले की तरह सबकी स्थिति हो गई, तो मेरा

दोष ? दो-तीन व्यक्तियों के स्तुतिपूर्ण भाषण हो जाने के उपरान्त साहब तथा कर्मचारियों के आग्रह के कारण—उनके द्वारा वस्तुतः ढकेले जाने पर—मैं बोलने के लिए उठा और अपने तथा सहकर्मचारियों के भावों को न छिपाते हुए बोलने लगा।

"पूज्य—नहीं माननीय अधिकारी वर्ग और प्रिय बन्धुओ ! यहां हम क्यों एकत्र हुए हैं, यह मुझसे पहले के तीन वक्ताओं ने बता ही दिया है। अतः वह बताना अनावश्यक है। हेडक्लर्क रा० आयंगर द्वारा हममें से प्रत्येक के वेतन में से एक-एक रुपया चन्दा काटे जाने के कारण आज का उत्सव मनाया जा रहा है। (इसे विनोद समझकर अधिकारी-वर्ग हँसा और मूर्खता समझकर कर्मचारीगण घबरा गए।) हमारे कार्यालय के मि० टर्नबुल यहां से बदलकर सिकन्दराबाद जा रहे हैं, उस सम्बन्ध में अपना आनन्द व्यक्त करने के लिए हम यहां एकत्र हुए हैं।

"आनन्द नहीं, दुख" मि० विलियम्स हँसते हुए बोले।

"दुख कैसा ? आनन्द जी। इसे आप मेरी गलती मत समझिए। यह साहब जा रहे हैं, अतः हमें व्यर्थ ही आनन्द नहीं हो रहा है। हम लोगों की तनिक-सी भी चूक होते ही यह अपने नाम के अनुरूप सींग निकालकर हम पर दौड़ पड़ते थे। हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त और कोई बुद्धि न होने के कारण यह सदा हेडक्लर्क के हाथों कठपुतली बने रहे जिसके कारण गर्वोद्धत हेडक्लर्क हम गरीब कर्मचारियों को छलता रहा। यह सच है कि हमारा यह आनन्द बिल्कुल शुद्ध नहीं है। हम तो इस अयोग्य परन्तु उद्धत साहब के शिकजे से मुक्त हो गए पर बेचारे सिकन्दराबाद केकर्मचारियों पर हमें दया आती है। 'परदुख शीतलम्' सच्ची उक्ति है। इन साहब के कार्य-काल में हम कर्मनिष्ठ नौकर कामचोर ठहराये गए और यह पैसे-खाऊ आयंगर योग्य समझा गया। ऐसा होते हुए भी हमने यह विदाई-समारम्भ क्यों किया ?" इस प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा श्रोताओं से करते हुए मैंने उनकी ओर देखा।

साहब लोग क्रोध से लाल-पीले और कर्मचारीगण घबराहट के कारण विवर्ण हो रहे थे। सब लोग मुझे बैठ जाने का संकेत कर रहे थे पर स्पष्ट-वक्तापन की मदिरा पीए हुए मैं किसी की पर्वाह करने वाला थोड़े ही था ? मुझसे रुका न गया, "उसका कारण यह है कि सिकन्दराबाद से पुनः यहां पूना लौटने की संभावना तो है ही। अतः उन्हें प्रसन्न रखने में ही भलाई है। यदि वे सेवा-निवृत्त होकर विलायत जा रहे होते, तो किसी ने उन्हें पान-तम्बाखू के लिए भी न पूछा होता। मि० टर्नबुल के दो गुण हमें अच्छे लगते थे—वे प्रति-दिन एक घंटे विलम्ब से कार्यालय में आते थे और उसकी पूर्ति एक घंटे पहले जाकर करते थे। (मि० विलियम्स को यह कथन-वक्रता अत्यन्त रुचिकर लगी और उन्होंने मुर्गे की तरह

हास्य ध्वनि की) अपनी उपस्थिति के चार घंटों में से तीन घंटे वह आराम कुर्सी पर सोते थे। अतः उनके कारण होने वाला त्रास हमें केवल एक घंटे सहना पड़ता था। ऐसे गुणवान अफसर यहां से जा रहे हैं, सरकार के इस उपकार को हम कभी नहीं भूलेंगे। भाषण समाप्त करने से पूर्व बस भगवान से यही प्रार्थना है कि हे दया निधान ! टर्नबुल साहब की बदली रद्द करने की बुद्धि तू सरकार को न देना।"

भाषण के बाद मैं टर्नबुल साहब से हाथ मिलाने के लिए उनके सामने खड़ा रहा, पर उनका चेहरा उतरा हुआ था। उनका अनुमान था कि सब कर्मचारियों ने मिलकर यह उद्धत भाषण कराया है। विलियम्स चिल्लाए, "इससे बाहर जाने को कहो (किक हिम आउट)" मैंने अपमान के भय से स्वयं सम्भ्रान्त व्यक्ति के समान वहाँ से वाक-आउट किया और कार्यालय में अपनी कुर्सी पर आकर बैठ गया।

थोड़ी देर में आयंगर आया और बोला, "जोग, गधे की तरह क्या अनाप-शनाप बक गया? विलियम्स तो कह रहा था 'आइल शूट डाउन दि अैस।' (मैं उस पर अत्यन्त रुष्ट हूं)। वह तेरे प्राण ले लेगा, इतना ही नहीं तुझे नौकरी से निकाल देगा। अब तू अस्वस्थ होने का स्वांग भर और मैं यह कहता हूं कि उसने जो कुछ कहा है, वह वायुप्रकोप को बड़बड़ाहट थी।"

आयंगर के मद्रासी उपदेश को मानने का अवसर तुरन्त उपस्थित हो गया क्योंकि विलियम्स और टर्नबुल दोनों अंग्रेज़ी में गाली देते हुए हाथ में पिस्तौल लिए मेरी मेज़ की तरफ बढ़े चले आ रहे थे। उन्हें देखते ही मैंने कमीज़ उतार फेंकी और स्याही की दवात आयंगर पर फेंकते हुए बकने लगा, "अहा हा ! मैं वायसराय हूं, कमांडर-इन-चीफ हूं, बादशाह हूं। टर्नबुल को मैं कर्नल करूंगा, नहीं तो मेजर अवश्य बना दूंगा। ट्रा-ला-ला।" मेरे उस रूप को देखकर दोनों साहबों को विश्वास हो गया कि मुझ पर वायु का प्रकोप हुआ है और वे सहानुभूतिपूर्ण शब्द बोलते हुए निकल गए। आयंगार का कोट अवश्य खराब हो गया और उसके बदले मुझे धुलाई के चार पैसे देने पड़े।

सायंकाल को हमारे मुहल्ले में दास-नवमी उत्सव के उपलक्ष में देश भक्त धनाजीराव वाचाल की अध्यक्षता में कुमारी तरुणीबाई का 'विवाहितों की दूसरी पत्नी' विषय पर व्याख्यान के बाद श्री बांदरलाल पोपट की नकल का खेल होने वाला था। उत्सव का मंत्री होने के कारण सभा-मंडप झाड़ने, फर्श बिछाने, वक्ता का परिचय देने आदि का काम मेरे सुपुर्द था।

व्याख्यान देने वाली महिला आईं। वह तो मेरे गुरु के बराबर थीं ही। सौ-सवा-सौ (अखबारों की भाषा में हज़ार) श्रोता जमा हुए। निर्धारित समय से दस मिनिट बाद अध्यक्ष महोदय मोटर से आए। मैं अध्यक्ष पद की सूचना देने

के लिए उठा और बोला, "भाइयों और बहिनों। आज सुप्रसिद्ध स्पष्टवक्ता तरुणी बाई का 'विवाहित पुरुष और उनकी दूसरी पत्नी' नामक मार्मिक विषय पर व्याख्यान होने वाला है। स्त्रियों को वक्तृत्वकला प्रदान कर सरस्वती देवी ने स्त्री-जाति के प्रति पक्षपात किया है (वक्ता—गणेश जी ने लड्डू खाने का खाऊ-पना पुरुषों को देकर पुरुष-जाति के प्रति पक्षपात नहीं किया है क्या ?) कालि-दास ने भी स्त्रियों के इस गुण को 'अशिक्षितं-पाटवम्' अर्थात् अशिक्षितों की जिह्वा-अमानत ऐसा नाम दिया है (हँसी) ऐसे अवसर पर देशभक्त वाचाल सरीखे अध्यक्ष हमारे मत्थे पड़े, यह शोचनीय बात है। ऊनी कश्मीरी शाल में कंबल का पेबन्द, इसी प्रकार तरुणी बाई के धाराप्रवाह तथा सुन्दर भाषण के लिए ऊब उत्पन्न करने वाले अध्यक्ष की प्रस्तावना का संयोग हुआ है। (प्रचंड हास्यध्वनि) फिर भी ऐसे रद्दी अध्यक्ष को क्यों बुलाया गया, यह प्रश्न आप करेंगे। इसका उत्तर यह है कि देशभक्त ने हमारे इस उत्सव के लिए सबसे अधिक चंदा दिया है और मंडप में लटकने वाला यह सुन्दर झाड़-फानूस भी उन्हीं के घर से मांगा गया है। अतः अध्यक्ष पद का सम्मान उन्हें देना आवश्यक था (मेरे कुर्ते में झटका) अध्यक्षपद के लिए वह बिल्कुल योग्य नहीं है, पर इस स्वार्थपूर्ण संसार में योग्यता के स्थान पर व्यवहार को अधिक देखना पड़ता है। अतः आज की यह योजना सबको स्वीकार करनी पड़ी। (क्या कहने हैं सैक्रेटरी साहब के, तालियां, हँसी) अब अध्यक्ष तथा वक्ता दोनों से इतनी प्रार्थना है कि यहां जो श्रोता एकत्र हुए हैं, वे आपका व्याख्यान सुनने के लिए एकत्र न होकर, व्याख्यान के बाद जो नकल का कार्यक्रम है, उसे देखने के लिए जुटे हैं। अतः आप अपना भाषण लम्बा न कर, थोड़े में ही समाप्त कर दें।"

मेरे बोलते समय व्याख्यात्री हँसी में लोट-पोट हो रही थीं और अध्यक्ष रोष से लाल-पीले हो मेरा कुर्ता खींच रहे थे, यह मुझे बाद में ज्ञात हुआ। अध्यक्ष मेरा भाषण समाप्त होने से पूर्व ही उठ खड़े हुए और चिल्लाए, 'बस, बस करिए सैक्रे-टरी महोदय ! अपनी व्यर्थ की बकवास बन्द करो, यह मेरा अपमान है। यदि मैं अध्यक्ष पद के योग्य न था, तो क्या मुझे यहां झख मारने के लिए बुलाया था ?"

"दादा साहब, हम आपको बुलाने कब गए थे ? आप ही व्यवस्थापक-मंडली के पीछे पड़े हुए थे कि तरुणबाई के व्याख्यान में मुझे अध्यक्ष बनाना।" मेरे यह शब्द सुनते ही देशभक्त साहब का लाल मुख काला पड़ गया। उन्होंने अपने नौकर को तुरन्त बुलाकर झाड़ फानूस उतरवा लिया और अपना फर्श मांगने लगे। पर श्रोता भी बड़े ढीठ थे। वे फर्श पर से नहीं उठे; अंत में अध्यक्ष महोदय क्रोध में उबलते अपनी पत्नी के साथ निकल गए।

तरुणीबाई ने बिना अध्यक्ष के ही अपना भाषण पूरा किया और अंत में बोलीं, "आप लोगों को मेरा भाषण अत्यन्त अप्रिय लगा होगा। दास-नवमी का

उत्सव सनातनी, गंदे, सड़े विचारों की अभिव्यक्ति का स्थान न होकर, राष्ट्र में नवचेतना संचार करने का दिन है, यह आप जानते ही होंगे, ऐसा मेरा विचार है। आपने मुझे निमंत्रित कर जो सम्मान मुझे प्रदान किया है, उसके लिए आभार मानती हुई मैं आपसे विदा मांगती हूं। आज बोलने का समय न होकर काम करने का समय है। शब्द, शब्द, शब्द। जैसा "हैम्लेट" में कथन है, वैसी हमारी स्थिति हो गई है। कार्य, कार्य, कार्य—यह स्थिति होनी चाहिए। अस्तु, मुझे इससे अधिक आपका समय नहीं लेना है क्योंकि आज रात को ही दूसरी जगह व्याख्यान देकर कल प्रातः शोलापुर व्याख्यान देने जाना है।"

व्याख्याता के प्रति आभार प्रदर्शन करते हुए मैं बोला, "अभी वक्ता महोदया ने कहा कि हमने उनका सम्मान किया है। पर ऐसा समझने का कोई कारण नहीं। हमारे पास जो चन्दा एकत्र हुआ था, उससे कथा-कीर्तन अथवा गायन का प्रबन्ध नहीं हो सकता था। पहले हमने सुप्रसिद्ध वक्ता—केलकर, पोतदार, आल्तेकर आदि को निमंत्रण भेजा, पर उन सबके अस्वीकार करने पर हमने आज के वक्ता को बुलाया। अतः उसके लिए आभार मानने का कोई कारण नहीं। वे यहां व्याख्यान देने आईं, इसके लिए हम भी उनके आभारी नहीं हैं क्योंकि वह जिन तीन स्थानों पर भाषण देने आई हैं, उन तीनों जगहों से उन्होंने अलग-अलग रेलगाड़ी का किराया वसूल किया है—" "बिल्कुल झूठ। बिल्कुल झूठ।" व्याख्याता क्रोध पूर्ण स्वर में बोलीं।

"बिल्कुल झूठ नहीं" मैं बोला, "हमारा उत्सव, गायकवाड वाडी का उत्सव, और श्रीमती नाथीबाई दामोदरदास विट्ठलदास ठाकरसी कन्या-पाठशाला का उत्सव, इन तीन स्थानों से आज के व्याख्याता को अकोला से पूना तक का किराया मिला है। उनमें से उन्हें दो का किराया बचेगा। अब रहा श्रोताओं के प्रति आभार की बात। वह मानने का भी कोई कारण नहीं। आप लोग भी इस व्याख्यान के लिए न आकर स्वांग देखने के लिए आए हैं। वह अब प्रारंभ होगा।"

व्याख्यान समाप्त करते ही तरुणीबाई चीखीं, "अरे सैक्रेटरी।" मैं उनकी ओर मुड़ा, "क्या है ?" "तुम कुछ शिष्टाचार समझते हो कि नहीं ?" उसने प्रश्न किया।

"यहां शिष्टाचार की क्या बात है, बहिन जी ? कल आपने ही तो अपने व्याख्यान में कहा था कि स्पष्टवक्ता बनो, मन में कुछ भी न छिपाकर स्पष्ट बातें करो ? मेरा स्पष्ट भाषण सुनकर क्या आपको इस बात का हर्ष नहीं हुआ कि आपको एक योग्य शिष्य मिला है—"

"नानसेन्स। व्याख्यान में कही बात कभी सच होती है क्या ? व्याख्यान और प्रचार-पत्र की बातें तो एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकालने की होती हैं। तुमने मेरा भयंकर अपमान किया है और उसके बदले तुम्हें पाठ पढ़ाने का

मेरा विचार है—" यह कहती हुई व्याख्याता से मैंने दूध पीने की प्रार्थना की। अन्य श्रोताओं ने मेरे विचित्र भाषण के लिए मुझे फटकारते हुए मुझसे कहा कि मैं तरुणीवाई से क्षमा याचना करूं। क्षमा मांगने की अपेक्षा मैंने सैक्रेटरी पद से त्याग-पत्र देने की बात स्वीकार की और क्रोध में घर लौट आया।

द्वार पर ही पत्नी संताप और दुख से लाल-पीली होती हुई मुझे दिखाई दीं। "कमाल हो गया तुम्हारी अक़ल को, क्या हो गया, यह क्यों पूँछते हो ? कल बेचारे शंकर को अनाप शनाप कहकर डरा आए। उसकी दांती भिच गई है। तुरन्त काका के यहां जाकर उसे धीरज बंधाओ। कहना कि कल जो कुछ बोले थे, वह स्वस्थ मानसिक स्थिति में नहीं बोले थे, तभी संभव है वह लड़का ठीक हो जाए।"

"स्वस्थ मानसिक स्थिति ? इसका क्या अर्थ ? मैंने क्या शराब के नशे में बातें कही थीं ?" मेरा वाक्य पूरा होने के पूर्व ही उसने मुझे घसीटते हुए ढ़केला और मुझे काका साहब के घर जाना पड़ा। उस लड़के को धीरज बंधाने के लिए मुझे झूठ बोलना पड़ा कि जो कुछ कल मैंने कहा था वह अस्वस्थ मानसिक स्थिति में कहा था और जो व्यसन मुझे न था, वह भी मुझे स्वीकार करना पड़ा।

मां के रुष्ट होकर नासिक चले जाने के कारण रसोई का कार्य उनकी पुत्र-वधू पर आ पड़ा था। अतः छोटे सालू को संभालने का भार मेरे ऊपर आ पड़ा। रात को भोलू को बिच्छू ने डंक मार दिया तो नाथू सेठ के पास औषधि मांगने गया "औषधि नहीं है भाई !" सेठ बोला।

"क्यों, समाप्त हो गई क्या ?" मैंने पूछा।

"समाप्त नहीं हुई। स्पष्ट बात यह है कि तुम्हारा स्पष्ट वक्तापन का सिद्धान्त मुझे भी बड़ा अच्छा लगा है। अतः कोई भी वस्तु तुम्हें न देने का मैंने निश्चय कर लिया है।" इस प्रकार का दो-टूक उत्तर देकर नाथू सेठ ने द्वार बंद कर लिया।

उस दिन से स्पष्ट वक्तापन से मुझे इतनी घृणा हो गई है कि अब भूलकर भी मेरे मुख से सत्य प्रस्फुटित नहीं होता। स्पष्ट वक्ता मनुष्य लुच्चे मनुष्य से भी भयानक होता है, ऐसा मुझे लगने लगा है। आजकल मेरी बातें कितनी चक्करदार होती हैं, उसका नमूना देखिए। चिरंजीव भोलू के यज्ञोपवीत पर रा० पवार को निमंत्रण देना मैं भूल गया। पवार जब मुझे मिले तो वह रोष पूर्वक बोले, "क्यों रे जोग, लड़के के यज्ञोपवीत में मुझे नहीं बुलाया ? भूल गया सारी मित्रता ?"

मैं—"क्या मतलब, क्या तू यहीं था उन दिनों ? मुझे तो बताया गया था कि तू बाहर गया हुआ है, अतः मैंने निमंत्रण नहीं भेजा।"

पवार—"तभी तो, मैं सोचता था कि मुझे कैसे विस्मृत कर देगा, मुझे लगा, तू जानता था कि मैं यहां हूं, अतः तुझ पर क्रोध किया।"

मैं—"अरे इस बारे में मुझे बड़ा दुख है। तू यहां है, यह मुझे ज्ञात ही न था, यह बात तुझे पता नहीं है, यह भी मुझे मालूम न था" आदि-आदि। अब तो यदि कोई पूर्व का मार्ग पूछता है, तो मैं तुरन्त पश्चिम का मार्ग बता देता हूं, ऐसी आदत पड़ गई है।

मामा मास्टर

ना० धों० ताम्हनकर

दिवंगत ताम्हनकर ने यद्यपि नाटक, बाल-कथा तथा स्फुट निबन्ध भी लिखे हैं, परन्तु वह प्रधानतः अपने विनोद-साहित्य अर्थात् विनोद कथा और विनोदपूर्ण लेखों के लिए ही विख्यात हैं। 'दाजी' 'निवाडे' और 'मामा' उनके प्रसिद्ध हास्य ग्रंथ हैं। 'दाजी' की कथाओं का विनोद स्वाभावनिष्ठ है जिसमें उन्होंने दाजी के बोलने, बैठने तथा अन्य रूढ़ि विरुद्धआचरण द्वारा हास्य उत्पन्न किया है! प्रसंगनिष्ठ हास्य भी उसमें पर्याप्त मात्रा में है। 'निवाडे' का हास्य सूक्ष्म तथा व्यंग-जन्य है! 'मामा' में गांव के एक तेजस्वी पर समय-सेवी मास्टर के मजेदार अनुभव हैं जिनके द्वारा समाज के दूषित वातावरण तथा विकृतियों पर व्यंग कसा गया है।

मामा मास्टर के उपकार मैं इस जन्म में तो कभी भूल नहीं सकता। आज मुझे और मेरे बाल-बच्चों को जो रुखी-सूखी रोटी मिलती है, उसका वास्तविक श्रेय उन्हीं को है। अन्न के दानों के लिये भटकने का प्रसंग उन्हीं की कृपा अथवा चातुर्य से टला था। अपनी अयोग्यता के कारण नहीं, अपितु अधिकारारूढ़ एक नालायक की दुष्टता के कारण मेरी नौकरी चली गई थी, परन्तु मछली द्वारा सटका हुआ वह माणिक्य मुझे मास्टर जी ने ही वापिस दिलाया था।

वह प्रसंग बड़ा मज़ेदार है, पर उसे बताने से पूर्व मामा का थोड़ा-सा पूर्वेतिहास बताना आवश्यक है। वह इतिहास भी आपका पर्याप्त मनोरंजन कर सकेगा तथा साथ ही दुनियां में जो गड़बड़-घोटाला हो रहा है, उस पर प्रकाश डालेगा।

"मैं एक फुटबॉल हूं···" बातें करते-करते एक बार मामा ने कहा। उनके वाक्य इसी प्रकार गूढ़ हुआ करते है।

"आपका क्या मतलब है?" मैंने पूछा।

"अरे मतलब, तुमने फुटबॉल का खेल तो देखा ही होगा। भरपूर हवा भरने

के बाद सब लोग उसमें लात मारते हैं, पर हवा भरे रहने के कारण उसे तनिक भी कष्ट नहीं होता बल्कि लात जितनी ज़ोर की लगती है, उतनी ही वह ऊंची उछलती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति उसे दूसरे की ओर ढकेलने की चेष्टा करता है। वही जीवन-भर हमारी स्थिति रही, समझे न ?"

"अभी भी ठीक से नहीं समझ पाया।" मामा के मुख से उनकी कहानी सुनने की जिज्ञासा के कारण मैं बोला। मामा तनिक मुस्कराये और कहने लगे :

मुझमें काम करने की अपार शक्ति होने के फलस्वरूप दुष्ट एवं गंवार लोगों ने मुझे लात मारने की चेष्टा की, पर वे मुझे पराभूत न कर सके। इसके विपरीत अनभ्यस्त खिलाड़ी जिस प्रकार फुटबॉल को ज़ोर से मारने के प्रयत्न में स्वयं औंधा गिर पड़ता है, उसी प्रकार वे अयोग्य व्यक्ति मुंह के बल औंधे गिरकर हास्यास्पद ही बने। अपनी हँसी उड़ाने वाला व्यक्ति भला किसी को क्यों अच्छा लगने लगा ? उसके प्रति तो यही भावना होती है कि इस बला को टालो, भले ही ऐसा करने में कुछ लेना-देना पड़ जाए। मुझे अपने जीवन-काल में दो रियासतों तथा दो ज़िलों में इसी कारण जाना पड़ा और प्रत्येक स्थान से अप्रिय होकर भी बढ़े हुए वेतन पर निकाला गया। प्रत्येक व्यक्ति ने इस फुटबॉल को दूसरे की ओर ढकेल कर चैन की सांस ली।

"आपकी बात बड़ी अद्भुत प्रतीत होती है, मामा ! अप्रिय होते हुए भी बढ़े हुए वेतन पर नियुक्ति कुछ ऐसी ही आश्चर्यजनक लगती है जैसे बिच्छु के काटने पर हँसने लगना। और मामा, यह तो बताइये कि आपने अपनी पन्द्रह-बीस वर्ष की नौकरी में इतनी अदला-बदली की, उससे आपको असुविधा नहीं हुई क्या ? व्यक्ति को तो जीवन में स्थायित्व रुचता है न ?"

"और वैचित्र्य भी तो रुचिकर होता है भाई ! एक स्थान पर रहते-रहते वहाँ से ऊब जाने की अपेक्षा बीच-बीच में उसमें परिवर्तन होना कुछ बुरा थोड़े ही लगता है। मुझे तो भाई वह अच्छा ही लगता है। स्टेशन मास्टर के समान मास्टर की भी यदि समय-समय पर बदली होती रहे, तो मुझे तो उसमें भी कोई आपत्ति नहीं। और फिर, घर छूटा तो जैसा चिमणापुर वैसा ही काकपुर।"

"यह तो ठीक है, पर यह तो बताइये कि आपको भिन्न-भिन्न स्थानों से अपना डेरा-तम्बू उखाड़ना क्यों पड़ गया ?"

मेरा तथा मेरे साथियों का ज़बर्दस्त आग्रह मामा से नहीं टाला गया और उन्होंने निम्न शब्दों में अपनी गाथा सुनाई।

ट्रेनिंग के तीसरे वर्ष का सर्टिफिकेट लेकर मामा पोपटवाड़ी में स्कूल-मास्टर हो गए। वह हज़ार-डेढ़ हज़ार की आबादी का गांव था। वहां की पाठशाला थी चौथी कक्षा तक और लड़के होंगे लगभग चालीस-पचास। एक सह-अध्यापक भी थे। चूंकि उनके पास दूसरी तथा तीसरी कक्षाएं थीं, अतः मामा के हिस्से में पहली

तथा चौथी कक्षाएं आईं। सह-अध्यापक पोपट वाडी के ही रहने वाले थे। अतः गांव के सैंकड़ों झमेलों के कारण पाठशाला की ओर उनका ध्यान ही न था। दिन-भर में वे घंटे दो घंटे को पाठशाला में आते और उस समय भी रामा माली या भिका कोली जैसे लोग उन्हें घेरे रहते।

मामा मास्टर से यह सहन न हुआ। वरिष्ठ होने के नाते उन्होंने सह-अध्यापक को वक्त की पाबन्दी, कार्य-कुशलता आदि के विषय में दो-चार बार सावधान किया, पर सह-अध्यापक तो ऐसे अनेक मास्टरों को मज़ा चखा चुके थे। भला वह इन बातों की पर्वाह क्यों करने लगे! उन्होंने कहा, "देखो मास्टर! तुम मेरी कक्षाओं के विषय में पूर्ण निश्चिन्त रहो। मैं पढ़ाऊं या मंत्र के द्वारा शिक्षा दूं। देख लेना, परीक्षा में मेरे सब छात्र उत्तीर्ण हो जाएंगे।"

मामा मास्टर को मंत्रतंत्र पर विश्वास न था और न उन्हें बिना पढ़ाए बालकों को उत्तीर्ण कराने का ही नुस्खा पता था। कालेज में तीन वर्ष पढ़े तथा अपने सरीखे अध्यापन-पटु मास्टर को जो अदभुत उपाय ज्ञात न था, वह कोई भी परीक्षा नापास उस गांव के पंडित जी को ज्ञात हो, इस पर मामा को आश्चर्य भी हुआ और कुछ बुरा भी लगा।

अतः उनके आश्वासन पर विश्वास न कर जब मामा अपने सह-अध्यापक को अनुशासन में रखने की चेष्टा करने लगे, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया, "हमारा रवैया तो यही रहेगा। यदि तुम्हें इस प्रकार काम लेना हो तो लो वर्ना···"

क्रोधावेश में मामा ने सह-अध्यापक की रिपोर्ट डिप्टी से कर दी। बहुत दिन तक तो जवाब ही नहीं आया। उसके बाद एक बार जब मामा जिले की राजधानी गए हुए थे, तो उन्होंने डिप्टी साहब से भेंट की। उन्होंने कहा, "तुम अभी नए और अननुभवी हो। अपने नीचे काम करने वालों की तनिक-तनिक सी बातों की शिकायत करने की आदत मत डालो। सह-अध्यापक सम्बन्धी तुम्हारी रिपोर्ट को हमने फाइल कर दिया है।"

इस रहस्य का भेद मामा को बहुत दिन तक न लगा। पर एक दिन पोपटवाडी के चौधरी ने उस रहस्य का उद्घाटन किया। सह-अध्यापक प्रत्येक डिप्टी को खुश रखने में कितने चतुर हैं, गांव में पैदा होने वाली मौसमी चीज़ें अर्थात् सब्जियाँ, ईख, चने, मूंगफली आदि वरिष्ठ अधिकारियों के पास वह कैसे पहुंचाते हैं, डिप्टी साहब के लड़के के जनेऊ के अवसर पर साग-भाजी ही नहीं बल्कि दूध, केले और पान कैसे भिजवाते हैं, इत्यादि बातों का वर्णन करने के उपरान्त चौधरी साहब बोले, "आजकल का ज़माना ही ऐसा है, मामा। तुम्हारे इस ट्रेनिंग-सर्टिफिकेट को लेकर क्या चाटें?"

मामा इस बात को सुनकर स्तब्ध रह गए, पर क्षण-भर को ही। उन्होंने अपना सिर खुजाया और वह सिर अपने स्वामी को संकट-मुक्त करने में इतना

कुशल था कि उसे तुरन्त एक युक्ति सूझ गई।

"इस युक्ति ने मेरा काम सोलह आने बना दिया और पोपटवाडी सरीखे गांव का सीधा-साधा स्कूल-मास्टर चिमणपुर जैसी रियासत के ए० वी० स्कूल के हेडमास्टर की कुर्सी पर जा बैठा। वेतन भी उसका दुगना हो गया" यह कहकर मामा मास्टर मेरी ओर विजय-भाव से देखने लगे।

"पर मामा, तुम्हारे वेतन में वृद्धि कराने वाली वह युक्ति कौन-सी थी? तनिक बताइए तो?"

"अरे युक्ति कैसी! यदि एक न्यायालय अपनी बात नहीं सुनता, तो बड़े न्यायालय में न्याय के लिये पुकार करनी होती है, यह बात तो निरा बुद्धू भी जानता है।"

"तो क्या आप डिप्टी से ऊपर के अधिकारी एज्यूकेशन ऑफिसर से मिले थे?"

"छिः, अरे मुझे पता था कि ये कोर्ट मेरी बात नहीं सुनेंगे। मुझे विश्वास था कि जिसने भेंट आदि से डिप्टी को वश में किया है, उसने एज्यूकेशन-आफिसर को तो क्या स्वयं डायरेक्टर साहब को भी वश में कर लिया होगा। अतः मैंने बड़े से बड़े कोर्ट का सहारा लिया।"

"वह कौनसा कोर्ट है?"

"अब भी नहीं समझे? मैंने तो सोचा था कि अब तक समझ गये होगे। अरे, डिप्टी मास्टरों पर भले ही रौब जमा ले, पर शतप्रतिशत यह बात सत्य है कि घर में वह भीगी बिल्ली बना रहता है। ज्योंही मेरे मन में यह बात आई, मैं एक दिन चल पड़ा। सोचा, ज़रा इस युक्ति को भी आज़मा कर देख लूं।"

"अच्छा तो क्या आप रायसाहबनी के पास गए थे? पर मामा, वहां जाने का बहाना आपने क्या बनाया?"

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में मामा ने एक लम्बी-चौड़ी गाथा सुनाते हुए जो कुछ कहा उसका सारांश यह था कि श्रावण में सोमवार के दिन, जब राय साहब घर में न थे, वह केवड़े की कनी लेकर किस प्रकार गए, दूसरे दिन मंगल-गौरी के पर्व पर डलिया भर फूल कैसे पहुंचवाए, रायसाहबनी के बुद्धू और पागल बसन्त को 'बाळा साहब' कहकर कैसे गोदी में उठा लिया, उनकी पुत्री इंदुताई के रूप तथा आभूषणों की कैसी प्रशंसा की, और अंत में 'सारे गांव में चारों ओर बाईसाहब की चतुराई की प्रशंसा सुनाई देती है···यह गप्प कैसे मारी। यह सब बताकर मामा बोले, "और उस पहिली भेंट में ही 'तुम्हारे समान मास्टर बहुत कम हैं।" का सर्टिफिकेट बाई साहब से प्राप्त कर लिया।"

वेश साधारण पर अनेक गुण सम्पन्न व्यक्तित्व, ऐसे व्यक्तियों की कोटि में मामा मास्टर की गणना सहज ही की जा सकती है। उन्होंने बाई साहब की

इच्छाएं इस खूबी के साथ पूरी कीं कि स्वयं डिप्टी साहब को भी इस बात का पता न चला। पोपटवाडी में पैंठ गुरुवार को लगने के कारण पाठशाला की छुट्टी दोपहर को ही हो जाती थी। उस समय डिप्टी साहब तो दफ्तर के कार्य में उलझे रहते थे। बस उसी समय मामा बाई साहब से मिलने जाते। खाली हाथ न जाने की सावधानी उन्होंने हमेशा बरती। डेढ़ पैसे की तोरई अथवा ककड़ी ले जाते और 'घर के खेत की पहिली सब्जी' कहकर भेंट देते। उनके इस भोले भाव को देखकर बाई साहब का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था। मामा कहते हैं, "पत्थर के देवता तक जब नैवेद्य से प्रसन्न हो जाते हैं, तो फिर जीते-जागते मनुष्य की तो बात ही क्या ?"

मामा की आदर-बुद्धि तथा नित्य नवीन भेटों से सन्तुष्ट रायसाहबनी कभी-कभी मामा का मुंह मीठा करा देतीं। कम से कम मामा दूसरों से यही कहा करते थे। यद्यपि बाई साहब ने लड्डू-बर्फी का टुकड़ा मामा को कभी नहीं दिया, तो भी बे-पकी नमकीन रोटी का बासी टुकड़ा, पतीली की बची-खुची दाल और इसी प्रकार की कोई निकृष्ट खाद्य वस्तु वह मामा के सामने रखती और मामा उसे बड़ा स्वाद ले-लेकर खाते और उस वस्तु के स्वादिष्ट होने की इतनी प्रशंसा करते कि बाई साहब को लगता जैसे सारी दुनिया में उन सरीखी सुग्रहिणी अन्य कोई नहीं।

एक दिन बाई साहब ने मामा को चिउड़ा दिया। आज इतना बढ़िया माल अपने को कैसे मिला, इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ। पर पहिला गस्सा खाते ही वह दूर हो गया। जली हुई मूंगफली, बेहद मिर्च, बहुत दिन का होने के कारण उसमें से आने वाली दुर्गन्ध, इन सब के कारण उसे खाना मनुष्य के लिए संभव न था। अतः वह अभी तक बचा था, यह मामा पहिचान गए। साथ ही वह यह भी समझ गए कि अपने को वह निगल जाना ही चाहिए। इस घटना का वर्णन करते हुए मामा बोले, "विष पचाने के कारण शंकर भगवान को यदि महादेवत्व प्राप्त हुआ, तो उस चिउड़े को खाने से ही मुझे हेडमास्टरी मिली।"

उस समय मामा ने पूछा था, "यह चिउड़ा आपने बनाया है या इंदुताई ने ?"

"क्यों ? कैसा बना है ? तुम्हें अच्छा लगा ?"

"अरे क्या पूछती हैं ? परसों उस पुंडे वकील के यहां भी चिउड़ा बना था, मुझसे तो एक गस्सा भी नहीं खाया गया। इसमें कुछ और ही स्वाद है। किसी-किसी के हाथ में ही भोजन को स्वादिष्ट बनाने का जादू होता है, बाई साहब !"

मामा की यह स्तुति हुक्म के इक्के की तरह अमोघ थी। पुंडे वकील की पत्नी तथा डिप्टानी का वैमनस्य मामा ने सुन रखा था। अतः पुंडे के घर की सीढ़ियों पर न चढ़ कर भी उन्होंने उसके घर के चिउड़े के अस्वादु होने की

निन्दा बढ़ा-चढ़ा कर की थी। मामा की उस स्तुति से अत्यधिक प्रसन्न हो बाई-साहब ने अपने चिउड़े की निंदा करने वाले घर के एक-एक व्यक्ति को उनकी रुचि के लिए खूब बुरा-भला कहा और मामा की मार्मिक रुचि तथा भोलेपन की प्रशंसा करते हुए एक बार पुनः उनकी तश्तरी चिउड़े से भर दी। "झूठ बोलने के कारण उस समय मुझे जीते जी यम-यातना सहन करनी पड़ी" मामा बोले।

इधर मामा की यह कार्रवाई जारी थी उधर असिस्टेंट मास्टर भी चुपचाप नहीं बैठे थे। उन्होंने डिप्टी के कान भरकर मामा के विरुद्ध सुरंग लगा दी और उसके विस्फोट के साथ-साथ मामा का चकनाचूर कब होता है, इसकी उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे।

इतने में ही एक दिन हुक्म आया कि असिस्टेंट मास्टर को चार्ज देकर चार दिन के भीतर-भीतर मामा हिवरगांव की पाठशाला में हाज़िर हों।

इस बदली के कारण मामा को आर्थिक हानि तो होती ही, साथ ही अन्य चिंताएं भी सतातीं। पोपटवाडी में जो दस रुपये उन्हें अपने पद के कारण मिलते थे, हिवरगांव में उन्हें उनसे हाथ धोना पड़ता दूसरे वह गाँव चूँकि मलेरिया का अड्डा था, अतः नया आदमी वहां जाने से घबराता था। जूड़ी-बुख़ार के कारण ही उस गांव का नाम हिवरगांव पड़ा था। डिप्टी की ओर से आए इस आदेश के कारण मामा को मानसिक कष्ट हुआ, पर उन्होंने उसे अपने चेहरे से प्रकट नहीं होने दिया जिससे मामा की दीन मुद्रा देखकर आनन्द मनाने की असिस्टेंट मास्टर की अभिलाषा अपूर्ण ही रह गई।

जैसे कोई विशेष बात हुई ही न हो, इस भाव से मामा मन ही मन अपना व्यूह रचने लगे। बदली का हुक्म आए दो दिन हो चुके थे, पर मामा ने न तो अपना सामान ही समेटा और न दफ्तर का चार्ज लेने के लिये ही कहा। यह देख असिस्टैंट मास्टर को बड़ा आश्चर्य हुआ। मानों इसी आश्चर्य को और अधिक बढ़ाने के उद्देश्य से ही मामा गुरुवार को सामान खरीदने के लिए तालुक़े के गांव भी गए।

पर वहां जाकर उन्होंने क्या किया?

चार पैसे का एक नारियल तथा एक पैसे की कुंकुम भी पुड़िया खरीदी। महादेव अथवा मारुति के मन्दिर में जाकर थोड़ा-सा प्रसाद लिया और दुपट्टे के कोने में उस प्रसाद को बांधकर वह डिप्टानी के सामने जा खड़े हुए।

"इंदुताई कहां हैं?"

"क्यों मास्टर? आज इंदु से क्या काम निकल आया?"

"उन्हें बुला दो तो पता चला जायगा।"

माँ की पुकार सुनते ही इंदु बाहर आई।

इंदुताई के आंचल में मामा ने वह श्रीफल और सौभाग्यवती होने का वह

प्रसाद डाल दिया।

"अरे मास्टर, आखिर बात क्या है?"

इंदुताई के गर्भ से चार-छ: दिन में आविर्भूत होने वाले भगवद् अवतार का यह प्रसाद है बाईसाहब, मेरे परिचय के एक साधु-महात्मा हैं, त्रिकालज्ञ। उनसे मैंने कहा था "आप ऐसा आशीर्वाद इंदुताई को दें जिससे उनके पुत्र हो।" इस पर उन्होंने यह नारियल और कुंकुम दिया, वही मैंने इंदुताई के आंचल में डाला है। अच्छा बाईसाहब, इस गरीब मास्टर की एक विनती है। नामकरण के दिन मुझे निमंत्रण अवश्य भेजियेगा। पोपटवाडी के पते से नहीं, हिंवरगांव के पते पर भेजिएगा—हिंवरगांव, वही मलेरिया का गांव है न, वहीं मेरी बदली हो गई है अब! वहीं निमंत्रण भेज दीजिएगा। बुखार भी हुआ तो भी आए बिना न रहूंगा।"

"क्या मतलब? तुम्हारी बदली कैसे हो गई?"

"आपके ही तो साहब ने की है, बाईसाहब।"

"किस आदमी को कहां भेजा जाना चाहिए, इतना तक उन्हें पता नहीं है।"

बाईसाहब के इस उद्‌गार से मामा ने ताड़ लिया कि उनकी युक्ति सफल होकर रहेगी और उन्होंने घर का रास्ता पकड़ा। दूसरे दिन पोपटवाडी में मामा का अन्तिम दिन था और उन्होंने असिस्टैंट मास्टर को चार्ज देना भी शुरू कर दिया था। इतने में ही डिप्टी के दफ्तर से एक चपरासी लिफाफा लेकर आया। उस पर 'स्कूल मास्टर पोपटवाडी' लिखा हुआ था और बांए कोने में लाल स्याही से 'आवश्यक' अक्षर लिखे हुए थे।

चपरासी ने ज्योंही लिफाफा मामा के आगे बढ़ाया, वह बोले, "इन मास्टर साहब को दो, अब वही यहां के मास्टर हैं।"

इस सम्मान को पाकर असिस्टैंट मास्टर फूल कर कुप्पा हो उठे और उन्होंने डाक-डायरी पर हस्ताक्षर कर लिफाफा ले लिया। अपने कार्य-काल में आए पहिले लिफाफे को उन्होंने बड़ी उत्सुकता से खोला, पर यह क्या?

"प्रस्तुत आदेश द्वारा तुम्हारी हिंवरगांव पाठशाला में हुई नियुक्ति तुरन्त स्थगित की जाती है। अगले आदेश तक तुम ही पोपटवाडी शाला में हेडमास्टर के पद पर काम करो।"

इस अनपेक्षित आदेश को देखकर असिस्टैंट मास्टर का चेहरा कैसा हो गया, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। पर मामा का चेहरा निर्विकार था।

और भी दो-तीन दिन बीत गए। पाठशाला की छुट्टी का समय होने वाला था। इतने में ही एक व्यक्ति जल्दी-जल्दी शाला में आकर पूछने लगा, "यहां का मास्टर कौन है?"

"क्यों रे, क्या काम है तुझे उनसे?" असिस्टैंट मास्टर आगे बढ़कर बोले।

"बाईसाहब ने उनके लिए पेड़े दिए हैं। उनकी लड़की के पुत्र हुआ है—!"

अब मामा के आगे बढ़ने की बारी थी। उन्होंने पेड़ों की पुड़िया और स्वयं बाईसाहब द्वारा लिखा पत्र ले लिया। साधु महात्मा का प्रसाद सफल होने के लिए उन्होंने उन्हें तो धन्यवाद दिया ही था, मामा के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट की थी। साथ ही उन साधुमहात्मा की भेंट के लिए एक रुपया भी भिजवाया था। मामा मन ही मन बोले, "साधु कहलाने वाले ढोंगी लोग भले ही भलों को धोखा देते हों, पर यह काल्पनिक साधु मेरे लिए तो अत्यन्त हितकर सिद्ध हुआ। पांच पैसे की फूल-सुपारी के बदले दोना-भर कर पेड़े तथा नकद रुपया कुछ कम लाभ नहीं है।"

मामा को पेड़े भेजने वाली यह बाईसाहब कौन हैं, यह पहेली असिस्टैंट मास्टर से न सुलझी। मामा के द्वारा दिए दो पेड़े भी उनके पेट में पहुंच गए, पर पहेली उतनी ही उलझी रही। मामा ने जानबूझकर उसे उलझाए रखा।

बाद में नामकरण का निमंत्रण भी मामा को मिला, यह बताने की आवश्यकता नहीं। वे गए भी। मामा को देखकर डिप्टी साहब को कोई प्रसन्नता नहीं हुई, यह स्पष्ट था।

भोजन के समय रायसाहबनी बोली, "मामा, नाम रखने तक रुकिएगा, जाइए मत।"

मामा ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

दुपहर के समय बाईसाहब पति के कमरे में आईं और उन्होंने मामा को भी वहीं बुलवा लिया।

"हमें इन मास्टर साहब की कृपा से ही नाती मिला है।"

"यह तो संयोग की बात होती है।"

"इनकी वह हिवरगांव की बदली रद्द होनी चाहिए—।"

"हमें तो सरकार की सुविधा-असुविधा देखनी पड़ती है।"

"मुझे सब पता है सरकारी कायदे-कानून की। उस रांडके मास्टर की बदली कैसे रद्द कर दी थी आपने? प्रांत-अधिकारी की सिफारिश कैसे सुन ली थी तब? अब इस सज्जन पुरुष के विषय में कहा, तो माथे पर सौ बल पड़ गए! मैं कुछ नहीं सुनने की। मामा की बदली करनी ही होगी, पर हिवरगांव के लिए नहीं, यहां के लिए। यहां वह पिंगे मास्टर बड़ा दुष्ट है। परसों ही मेरे बच्चे को बैंच पर खड़ा कर दिया था। उसी मरे को हिवरगांव भेज दो और उसकी जगह मामा को यहां बुलवा लो। मैं बताए देती हूं, समझे—"

"अरे, पर—"

"पर-वर कुछ नहीं। मास्टर जब हमारे लिए इतना करते हैं, तो हमें भी उनके लिए कुछ न कुछ करना चाहिए न?"

ऐसे जोरदार आदेश की अवज्ञा करना रायसाहब के बूते की बात नहीं थी। अतः उन्हें असुविधापूर्ण जगह तबादला करने का विचार छोड़ना पड़ा, इतना ही नहीं उन्हें अपने पास बुलाना पड़ा! यह वस्तुतः एक कठिन समस्या थी। डिप्टी साहब अच्छी तरह जानते थे कि जो व्यक्ति इतनी दूर रहकर तरह-तरह की कारस्तानी कर सकता है, पास आकर न मालूम क्या-क्या उपद्रव करेगा। पर उन्हें नियंत्रण में रखना उनकी शक्ति के बाहर था। उन्होंने निश्चय कर लिया कि घर में घुसकर उपद्रव मचाने वाले इस बाघ के आगे कुछ डाल-डूलकर उसे बाहर ही बाहर टरका देना चाहिए। इसीलिए मामा को चिमणपुर भिजवा दिया गया।

चिमणपुर रियासत के दीवान डिप्टीसाहब के मित्र थे और उन्होंने रियासत की पाठशाला के लिये एक अच्छे-से मास्टर की मांग की थी। डिप्टी साहब का विचार अपने किसी कृपापात्र को वहां भेजने का था, पर अब वह विचार बदलकर उन्होंने अपने ऊपर आई हुई मामा रूपी आफत को दूसरे के क्षेत्र में भेजने का निश्चय किया। कृपापात्र बेचारा जहां का तहां रह गया। साहब का मामा से पिंड ज़रूर छूट गया।

यह सम्पूर्ण प्रसंग सुनकर मैं मामा से बोला, "मामा, आपकी यह उन्नति यदि अध्यापन-कौशल के कारण हुई होती, तो मैं आपका अभिनन्दन करता, पर वह अध्ययन की बजाय छल-कपट द्वारा हुई है।"

"तुम्हारा कथन सत्य है।" मामा बोले, "पर यह तो बताओ कि तुम्हें यह किसने बताया कि हमारे शिक्षा-विभाग का उद्देश्य अध्यापन या विद्यादान है? यदि उस विषय में तुम्हारी यह कल्पना है, तो जितना शीघ्र उसे त्याग दो उतना ही अच्छा होगा। सरकार शालाएं इसीलिए नहीं खुलवाती है कि बच्चे पढ़-लिख कर चतुर बनें। सरकार का उद्देश्य तो केवल यह दिखाना है कि वह वसूल किए कर के बदले में प्रजाहित के लिए कुछ न कुछ करती है। साथ ही वह अपने कृपा-पात्रों की भी इस तरह नौकरी लगा देती है। इस विभाग के अधिकारी अपने आचरण से यही तो सिद्ध करते हैं न? ऐसी स्थिति में हमारे सदृश सामान्य व्यक्तियों का लक्ष्य यदि स्वयं को ठीकठाक जगह नियुक्त करा लेना रहता है—फिर चाहे उसके लिए कुछ भी क्यों न करना पड़े—तो उससे किसी का क्या बिगड़ता है। और उसके लिए हम दोषी भी कहां हैं? मेरा कथन तो यह है कि यदि शिक्षक को शाला न जाकर ताश खेलने से उन्नति मिले, तो उसे वही करना चाहिए। अरे, हां अच्छी याद आई। ब्रिज खेल-खेल कर ही तो मैं चिमणपुर से मोरपीस रियासत का विद्याधिकारी बना था। "बतलाऊंगा उसकी भी कहानी किसी दिन" यह कह कर मामा उठ गए।

लिफाफे
—ना० सी० फड़के

पिछली अर्ध शताब्दी से साहित्य-सृजन में रत पद्मभूषण ना० सी० फड़के ने मराठी साहित्य की अनेक विधाओं—निबन्ध, उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना आदि को अपनी लेखनी से समृद्ध बनाया है। 'कला के लिए कला' के अनन्य पोषक इस महारथी की लोकप्रियता, साहित्यिक प्रतिभा एवं मेधा का पता इसी तथ्य से लग जाता है कि उनकी कृतियों का अनुवाद न केवल भारतीय भाषाओं में ही हुआ है अपितु अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन, जापानी आदि भाषाओं में भी हो चुका है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का अनुमान इस बात से भी लग सकता है कि वे दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक रह चुके हैं, उन्होंने, कामशास्त्र, राजनीति, क्रिकेट आदि पर पुस्तकें लिखी हैं, वे अंग्रेज़ी तथा मराठी के प्रभावोत्पादक वक्ता हैं और एक सफल पत्र-सम्पादक होने के नाते आज भी 'अंजलि'-जैसी पत्रिका का सफल सम्पादन कर रहे हैं। विषय-वैचित्र्य होते हुए भी (राजनीति, समाज, इतिहास, धर्म) उनके उपन्यास सदा नवयुवकों को अत्यधिक प्रिय रहे हैं जिसका कारण है उनकी सहज भाषा, मोहक शैली एवं कलात्मकता। उनके कथा-साहित्य में न केवल उनका सम्पूर्ण युग ही अभिचित्रित है, अपितु वह विचारोत्तेजक भी है। उनकी साहित्यिक सेवा का सम्मान न केवल महाराष्ट्र साहित्य-जगत् ने १९४० में उन्हें महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन का सभापति चुनकर किया था अपितु भारत सरकार ने भी उन्हें पद्मभूषण की उपाधि प्रदान कर उन्हें गौरवान्वित किया है।

अपनी बड़ी साली साहिबा यानी श्रीमती जी की बहन कला दीदी से मैं सख्त नाराज़ हूं। मैं जानता हूं कि उन्होंने जो कुछ भी किया उसमें उनका कोई खास बुरा इरादा नहीं था; लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि वह मेरे यहां मेहमान बनकर आयीं, चार दिन यहां रहकर चली गयीं और बस तभी से यह बीमारी

हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गई।

कला दीदी जिस दिन हमारे यहां से चली गयीं, उसके दूसरे ही दिन मुझे घर सूना-सूना-सा जान पड़ने लगा मैंने सोचा कि जब मैं ही घर में इस तरह सूनापन महसूस कर रहा हूं, तब लीला को तो ज़रूर घर काटने को दौड़ता होगा। कुछ समय तो हम दोनों ने पुस्तक पढ़ने और रेडियो सुनने में बिता दिया, लेकिन बाद में किसी तरह घर में बैठने की तबीयत नहीं हुई।

मैंने लीला से कहा—"चलो, कोई 'पिक्चर' देखने चलें।"

वह बोली—"नहीं।"

उसके मुंह से इस 'नहीं' को सुनकर मैं हैरान-सा रह गया; क्योंकि भली-बुरी किसी भी फिल्म को देखने के लिए जो हमेशा झट तैयार हो जाती थी, वही लीला आज सिनेमा चलने से इनकार कर रही थी। मैंने कहा—"चलो भी। तबीयत नहीं लग रही है। टहलना भी हो जाएगा और तुम्हारा वक्त भी हँसी-खुशी से कट जाएगा।"

सहसा चेहरे पर गंभीरता लाकर उसने कहा—"मैंने निश्चय कर लिया है कि अब भविष्य में इन कम्बख्त फिल्मों में मैं अपना वक्त बरबाद नहीं करूंगी।"

और ज़्यादा हैरान होकर मैंने पूछा—"क्या कहती हो ! क्या आज से हमेशा के लिए नाटक-सिनेमा देखना बंद ?"

"हां, सिनेमा देखना बंद, होटल जाकर खाना-पीना बंद, और यों ही, बेकार घूमने-टहलने और किसीके घर जाकर एक-दूसरे की बुराई करने-सुनने में फिजूल वक्त बरबाद करना भी बंद।"

मैंने कहा—"तुम तो गजब करती हो। तो इसका मतलब साफ-साफ यही हुआ कि आज से हमारी ज़िंदगी से ऐश और इशरत बंद—मज़े उड़ाना बंद ?"

"हां। यह तो अपनी-अपनी समझ का सवाल है।"

मैंने कहा—"लेकिन एकाएक यह विराग तुम्हें कैसे हो गया ?"

"आप इसे विराग कहिए या कुछ और। लेकिन मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अब मैं अपने समय का सदुपयोग किया करूंगी।"

"लेकिन घूमना-टहलना, दोस्त-बिरादरों के यहां जाकर गप्पें लड़ना, होटल में चाय पीना-पिलाना, नाटक-तमाशा देखना—इन तमाम बातों को मैं समय का सदुपयोग ही मानता हूं···और आज तक तुम्हारा भी यही ख्याल था—"

चेहरे पर की गंभीरता को तनिक भी कम न करते हुए उसने कहा—"आज तक मैंने गलती की, लेकिन अब मैं कदापि ऐसी बेवकूफी न होने दूंगी और अपनी गलती का परिमार्जन करूंगी। तुम अकेले ही काम करते रहो, पैसे कमाते रहो और मैं सिर्फ गुलछर्रे उड़ाती रहूं, रुपये लुटाती रहूं और घर की आमदनी बढ़ाने में ज़रा भी हाथ न बटाऊं—यह सब क्या मुझे शोभा देता है ?"

"आज यह क्या नया पागलपन सवार हो गया है तुम पर ?" मैंने पूछा।

उसने कहा—"इसे तुम पागलपन कहते हो ? मैं एक धेला तक कमा नहीं सकती। तुम खून-पसीना एक करके जितना कमाते हो, उसीके बल पर मौज उड़ाती हूं। मेरे इस निठल्लेपन पर तुम मन-ही-मन क्या सोचते होगे ?"

"मन-ही-मन क्यों ? मैं तो खुल्लम-खुल्ला सबसे यही कहता हूं कि लीला जैसी खुशमिजाज और शौकीन तबियत की पत्नी भाग्य से ही किसी को मिलती है। मैं वाकई बहुत खुश-किस्मत हूं···सुखी हूं···"

लीला बोली—"यह तो तुम्हारी उदारता है। लेकिन तुम्हारी इस भलमनसाहत का नाजायज फायदा मैं और कितने दिन उठाऊं ? गृहस्थी की ज़िम्मेदारी उठाने में तो स्त्री और पुरुष दोनों को एक साथ हाथ बंटाना चाहिए।"

मैंने कहा—"हां। दोनों को ज़रूर हाथ बंटाना चाहिए, पर आज भी तो हम दोनों मिलकर ही गृहस्थी का भार उठा रहे हैं ? मैं नौकरी करके रुपये लाता हूं और तुम गृहस्थी का प्रबन्ध बढ़िया तौर से कर लेती हो; मेरे साथ घूमने-टहलने जाती हो; बातचीत करती हो; मेरे पास बैठती हो, बात-बात में मुझे खुश रखती हो, मुझमें नयी चेतना, नयी उमंगें भर देती हो। बस खतम। मैं अपने हिस्से का काम करता हूं और तुम अपने हिस्से का काम करती हो। हमें किसी बात की चिन्ता नहीं···हम दोनों कितने मजे में रहते हैं !"

वह बोली—"मैं तो सिर्फ मजे में रहने का ही काम करती हूं।"

"गलत। तुम रसोई बनाती हो, घर सजाती हो, घर की हर चीज का ख्याल रखती हो, अपने घर आनेवाले मेहमानों की खातिरदारी करती हो—गृहिणी के ये तमाम काम तुम अच्छी तरह कर लेती हो—"

"लेकिन अब ज़माना बदल चुका है और गृहिणी की परिभाषा भी बदल गई है। अब पुरानी परिभाषाओं से चिपके रहने से काम नहीं चलेगा। दीदी कहती हैं कि इस नये ज़माने में हर स्त्री को कुछ-न-कुछ रोज़गार करना होगा, चार पैसे ही क्यों न हो···अपने परिश्रम से कमाने होंगे···"

ओह। अब मेरी समझ में कुछ-कुछ आया। तो क्या लीला की बड़ी बहन कला दीदी, स्त्री-स्वातंत्र्य के नये विचारों का इंजेक्शन अपनी बहन को लगा देने के इरादे से ही···हमारे यहां मेहमान बनकर आई थीं ?

कुछ नाराजगी के ढंग से मैंने कहा—"शायद तुम्हारा इस तरह आराम से रहना तुम्हारी बहन से देखा नहीं जाता; और इसीलिए वह चाहती है कि तुम भी उनकी तरह दिन-रात नौकरी के कोल्हू में फंसी रहो। जिस तरह पूंछ-कटी लोमड़ी चाहती है कि दुनिया की तमाम लोमड़ियों की पूंछें झड़ जाएं, उसी तरह नौकरी करने वाली स्त्रियां भी यही चाहती हैं कि अपनी घर-गृहस्थी छोड़कर अन्य सभी स्त्रियां नौकरी के कोल्हू में फंस जाएं। यह डाह और जलन के सिवा

कुछ नहीं है। लेकिन लीला, मैं तुम्हें साफ-साफ बता दूं कि तुम्हें नौकरी का ख्याल तक अपने दिल में न लाना चाहिए। मेरी पत्नी किसी और की गुलामी करे, यह बात मुझे कतई पसन्द नहीं है।"

"लेकिन दीदी कहती हैं—"

"लेकिन मुझे दीदी की कोई बात नहीं सुननी है। यह घर दीदी का नहीं है…मैं तुम्हारा पति हूं…"

लीला हँस पड़ी। उसने कहा—"अरे हां। यह तो मैं भूल ही गई थी। और सुनो, नौकरी करने का मेरा विचार नहीं है। लेकिन कला दीदी का क्या कहना है, यह सुन तो लो?"

"अच्छा, सुनाओ," मैंने कहा।

"दीदी कहती हैं कि बिना नौकरी किये भी मैं चार पैसे कमा सकती हूं और गृहस्थी का बोझ उठाने में हाथ बंटा सकती हूं—"

"लेकिन मैं नहीं चाहता कि हमारी गृहस्थी में तुम भी हाथ बटाओ। मैं निकम्मा-निठल्ला थोड़े ही हूं। मेरी आमदनी में हमारी गृहस्थी अच्छी तरह चल जाती है। हम शान-शौकत से रहते हैं, मज़े उड़ाते हैं। अगर इतने पर भी तुम खुश न हो, तो कहो, मैं और कोई काम कर लूं, ताकि हमारी आमदनी बढ़ जाए।"

"तुम तो बस अपनी ही हांकते हो। मुझे कुछ कहने का मौका ही नहीं देते। कला दीदी और क्या कहती थीं, यह तो सुन लो—"

"अच्छा, भाई, सुनाओ।" मैंने कुछ झल्लाकर कहा।

लीला उठकर मेरे निकट आ बैठी और मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोली—"घर-गृहस्थी के तमाम काम संभालने के बाद भी मुझे काफी फुरसत रहती है—"

"तो फुरसत के वक्त में अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ा करो। अपनी सहेलियों को घर बुलाओ या तुम उनके यहां जाओ, खेलो, गपशप में समय बिताओ या बिस्तर में लेटकर आराम से सोती रहो—"

"यही तो मैं किया करती हूं—"

"यही तुम्हारे लिए उचित है।"

मेरे दोनों हाथ कसकर दबाते हुए उसने कहा—"हां, यही मेरे लिए उचित है। देखो, इस तरह गंवार की तरह बातें मत करो। दीदी की बात में मुझे काफी तथ्य दिखाई देता है। मैंने अपने मन में जो कुछ सोच रखा है, उसे अच्छी तरह सुन तो लो—"

"अच्छा भई सुनाओ!"

मेरी मुट्ठी खोलकर आहिस्ता से उसे अपनी हथेली से सहलाते हुए वह कहने लगी—"हर महीने कम-से-कम बीस-पच्चीस रुपये कमा सकती हूं। बिना किसी

की नौकरी किए, फुरसत के वक्त दो-एक घन्टे काम करके बैठे-बैठाए। अगर हर माह पच्चीस रुपये मिल सकें, तो उन्हें क्यों छोड़ा जाए। क्या इन पच्चीस रुपयों में हम और भी ज्यादा मजे में नहीं रह सकते ? ज्यादा रुपये, ज्यादा मज़े !"

कुछ मज़ाक के ढंग से मैंने कहा—"तुम्हारा हिसाब बिल्कुल सही है।"

वह हँस कर बोली—"इस तरह मज़ाक मत उड़ाओ। हर महीने पच्चीस-तीस रुपए की आमदनी का यह तरीका बिलकुल आसान है। तुम सिर्फ 'हां' कह दो और इस काम में तनिक मेरा हाथ बंटाओ कि बस—।"

"आखिर तुम्हारा इरादा क्या है ?"

एक क्षण तक वह कुछ सोचती रही, फिर बोली—"बाज़ार में लिफाफे क्या भाव विकते हैं ?"

इस बेहूदे सवाल को सुनकर, विस्मित होकर मैं उसकी ओर देखने लगा।

वह बोली—"बताओ न, अच्छे लिफाफे किस भाव बिकते हैं ?"

"ठीक-ठीक तो नहीं बता सकता, लेकिन मेरे ख्याल से शायद ढाई रुपया सैकड़े मिलते हैं।"

"सच। तब देखिए, इन्हें घर में बनाने पर, सौ लिफाफों की लागत ज्यादा से ज्यादा डेढ़ रुपया होती है। इन्हें किसी दूकानदार को बेच देने पर हमें ढाई रुपये मिल सकते हैं। पर दूकानदार कुछ कमीशन ज़रूर लेगा ; तब भी क्या हुआ ? मोटे तौर पर मेरा हिसाब सुन लो। मैं रोज़ सौ लिफाफे आसानी से बना सकती हूं। इसका मतलब यह हुआ कि मैं रोज़ एक रुपया कमा सकती हूं। बिलकुल आसानी से, बात की बात में, घर बैठे हर महीने हमें तीस रुपये मिल जाया करेंगे। बताओ इसमें हर्ज ही क्या है ?"

"लीला, तुम बेवकूफ हो," कहकर, ठठाकर हँसने को मेरा जी चाहने लगा। लेकिन वह अपनी योजना बड़ी ही गंभीरता से मुझको सुना रही थी, इसीलिए यह सोचकर कि इस वक्त उसके इरादे का मज़ाक उड़ाना ठीक नहीं है, मैं चुप हो रहा।

उसने कहा—"इस काम में मुझे तुम्हारी सहायता ज़रूर मिलनी चाहिए।"

"बताओ, मुझे करना क्या होगा ? क्या मुझे कागज़, कैंची और गोंद की शीशी लेकर बैठना होगा ?"

"राम कहो। यह मैंने कब कहा ? मैं तुम्हारी सहायता चाहती हूं लेकिन एक नए ढंग से। सिर्फ हर महीने तीस रुपए कमाने का यह रोजगार मैं करना चाहती हूं, लेकिन इसमें भी पूंजी की ज़रूरत है। यह पूंजी मैं तुमसे लूंगी—"

मैंने कहा—"लीला, तुम भी कैसी पगली हो जो मुझसे पूंजी मांगती हो। मैं तो अपनी पूरी तनख्वाह तुम्हीं को दे देता हूं। मेरे पैसे तुम्हारे ही पैसे हैं।"

सहसा उसने कहा—"नहीं, नहीं। यह मुझे पसन्द नहीं। रोजगार से

भावुकता का कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। हँस क्या रहे हो? मैं अपने ही पैरों पर खड़ी होकर अपने परिश्रम से चार पैसे कमाना चाहती हूं, तुम हँसना बंद नहीं करोगे? देखो, मैं यह सब गम्भीरता से कह रही हूं और तुम्हें भी इसे गंभीरतापूर्व सुनना होगा। जिस तरह तुम किसी पराए व्यक्ति को रुपए उधार देते हो, उसी तरह पूंजी के रूप में ये रुपए मुझे दो। उसका हिसाब अलग रहेगा। इतने रुपये दिए···इतने आए···"

मुझे खूब हँसी आ रही थी, लेकिन मुश्किल से उसे रोककर मैंने कहा—"खैर, जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।"

ये शब्द मुंह से ठीक से निकल भी न पाए थे कि लीला के दोनों हाथ मेरे गले के गिर्द पड़ गए और उसने मुझे चूम लिया। मैंने कहा—"मेरी लागत पर बस इतना भी ब्याज मिल जाए तो सौदा घाटे का नहीं रहेगा···"

उसने कहा—"यह ब्याज तो तुम्हें बिना मांगे ही मिल सकता है।"

बाद में एक कोरी बही में उसके नाम का खाता खोला गया, जमा और खर्च के कालम बनाए गए। प्रारम्भिक पूंजी के कालम में पचास रुपए लिखे गए। फिर हम लिफाफे बनाने के कुटीर-उद्योग के लिए कागज़, कैंची, गोंद आदि चीज़ें बाज़ार से खरीदने के लिए चल पड़े।

लिफाफे बनाने का काम लीला उसी रात शुरू करना चाहती थी; लेकिन मैंने इसका विरोध किया और जैसे-तैसे उसे रोका। आज हमारी बातचीत का विषय लिफाफों के अलावा और कुछ नहीं था। लीला बार-बार मुझे हिसाब सुना रही थी—"रोज एक रुपए के हिसाब से महीने के तीस रुपए हो जाएंगे।" मैं सिर्फ उसकी हाँ में हाँ मिला रहा था। घर बैठे रोज़गार के जरिए तीस रुपए हर माह कमा कर गृहस्थी के खर्च में हाथ बंटाने की ख़ुशी और कमानेवाली स्त्री बनने की कल्पना से लीला दिल-ही-दिल बेहद प्रसन्न हो रही थी और मैं उसकी उस प्रसन्नता पर पानी नहीं फेरना चाहता था।

दूसरे दिन काम पर जाते वक्त मैंने उससे पूछा—"शायद मेरे जाते ही तुम्हारा काम शुरू हो जाएगा?"

उसने कहा—"हां, तुम्हारे चले जाने के बाद अब मुझे फ़ुरसत मिलेगी; बीचवाले कमरे में कागज़, कैंची और गोंद की शीशी लेकर मैं बैठ जाऊंगी और अपना काम शुरू कर दूंगी। एक घन्टे में पच्चीस लिफाफे आसानी से बन सकते हैं। इस काम की आदत न होने से शुरू में दस-पाँच लिफाफे कम भी बन सकते हैं, फिर भी हर घंटे पन्द्रह लिफाफे तो बनेंगे ही। देखना, तुम्हारे दफ्तर से लौटने तक ७५ लिफाफे जरूर बन जाएंगे।"

"अच्छा, अच्छा, बनाओ। 'विश यू गुड लक।"

उसने मुझे ढकेलकर दरवाज़े से बाहर कर दिया—मानो मुझे अपने काम पर

भेजने की और अपने काम में जुट जाने की उसे बेहद जल्दी हो।

शाम के वक्त मैं यह सोचता हुआ घर लौटा कि ७५ तो नहीं, लेकिन कम-से-कम पचास लिफाफे का पुलिन्दा लीला मुझको ज़रूर दिखाएगी और मुझे कहना पड़ेगा—"शाबाश। शुरुआत तो तुमने बहुत अच्छी की।"

लेकिन जैसे ही मैंने घर में कदम रखा, सामने लीला ने आकर कहा—"पहले ही कहे देती हूं; यह न पूछना कि कितने लिफाफे तैयार हुए। आज तो बड़ी फजीहत हुई और मुझे नीचा देखना पड़ा; लेकिन जिस तरह तुमने मुझे पूंजी दी है उसी तरह बढ़ावा भी देना होगा।"

"अरे, लेकिन फजीहत से तुम्हारा मतलब क्या है?"

हाथ पकड़ कर वह मुझे भीतर वाले कमरे में ले गयी और उसकी फजीहत का जो सबूत वहां पर बचा था, वह उसने मुझे दिखाया।

लिफाफों के लिए कागज़ के विशिष्ट नाप के टुकड़े काटने में ही वह गलती कर बैठी थी और उस गलती के कारण लिफाफों में गोंद लगाने के लिए एक ओर जो मार्जिन रहना था, वह नहीं रहा था। सौ लिफाफों के लिए कागज़ के टुकड़े काटे गए थे, लेकिन अब किसी हालत में उनके लिफाफे नहीं बन सकते थे। कागज़ और मेहनत पर पानी फिर गया था; शीशी टूटकर तमाम गोंद फर्श पर फैल गई थी। न जाने इस गड़बड़ी में उसने कैंची कहां रख दी थी जो बड़ी देर से मिल नहीं रही थी।

फर्श पर पड़े उस कबाड़खाने की ओर देखकर मैंने कहा—"अरे, तो तुम इस तरह 'नर्वस' क्यों होती हो? सिर्फ एक दिन चला गया, यही न? इसके लिए अपना मूड बिगाड़ने की क्या ज़रूरत है! आज काम नहीं सधा, तो दो दिन के बाद सध जाएगा। अबकी बार कागज़ काटते वक्त ठीक से नाप लेकर सावधानी से काटना, बस।"

चाय पी चुकने के बाद वह दुबारा कैंची ढूंढ़ने लगी और कहने लगी कि अब उसे झट से अपने काम में जुट जाना चाहिए। मैंने कहा—"अरे हटाओ भी, भला यह भी कोई काम का वक्त है? चलो, हम दोनों कहीं टहलने के लिए चलें।"

"लेकिन मैं आज का दिन निठल्लेपन में बरबाद नहीं करना चाहती।"

मैंने कहा—"कोई बात नहीं। आज का निठल्लापन मेरे नाम लिख दो और कल से अपने काम में जुट जाना।"

"ख़ैर, रोज सौ के बदले अगर एक-सौ पच्चीस लिफाफे मैं बना लूं तो चार दिन में आज का घाटा पूरा हो जाएगा; क्यों न?"

"हां। भगवान कसम तुमने भी क्या दिमाग पाया है। चलो चलें।"

इस तरह हमारे यहां पहले-पहल शुरू किए गए कुटीर-उद्योग का पहला दिन

खत्म हुआ।

दूसरे दिन दफ्तर से लौटने पर लीला हमेशा की तरह बाहर की दालान में मुझे नहीं मिली। वह भीतर वाले कमरे में भी नहीं थी। कागज़, कैंची, परसों खरीदी हुई गोंद की शीशी आदि तमाम चीज़ें वहीं पर बिखरी पड़ी थी। मैंने यूं ही कैंची की ओर देखा तो उस पर एक सुर्ख धब्बा मुझे दिखाई दिया।

चीखकर मैंने पूछा—"अरे भई, कहां हो?"

गुसलखाने से उसकी आवाज़ सुनाई दी।

और दूसरे ही क्षण वह कमरे में आ पहुंची, दाहिने हाथ की बीचवाली उंगली में पट्टी लपेटती हुई।

मैंने पूछा—"यह तुमने क्या कर लिया?"

वह बोली—"कम्बख्त उस कैंची में गजब की धार है।"

कागज़ काटते समय उसने अपनी उंगली ही बुरी तरह काट ली थी।

मैंने पूछा—"डाक्टर के यहां चलोगी?"

"अरे हटाओ। यह कोई गहरा ज़ख्म थोड़े ही है।"

मैंने पूछा—"आज कितने लिफाफे बने?"

"वह देखो, वहां पर उनका ढेर पड़ा है।"

ढेर उठाकर मैंने लिफाफे गिनकर देखे—पूरे चौबीस थे।

उसे बढ़ावा देने की गरज से मैंने कहा—"भई खूब। आज तो तुमने बहुत लिफाफे बना लिए।" उन चौबीस लिफाफों में से चार-पांच मुड़े हुए थे और चार-पांच लिफाफों पर गोंद फैल गई थी, लेकिन इस विषय में चुप रहना ही मैंने ठीक समझा।

चाय पी चुकने के बाद मैंने कहा—"चलो, कुछ देर टहल आएं।"

वह बोली—"नहीं, घूमने-टहलने का वक्त यहां किसे है? मैंने निश्चय कर लिया है कि कम-से-कम पचास लिफाफे बनाए बिना आज मैं किसी दूसरे काम में हाथ तक न लगाऊंगी। कल का दिन भी ऐसे बीत गया। आज का भी आधा दिन चला गया। ऐसे काम नहीं चलेगा। मैं हर महीने तीस रुपए अपनी मेहनत के बल पर कमाना चाहती हूं। आलस्य करूंगी तो मेरा रोजगार ही चौपट हो जाएगा। तुम अकेले ही जाकर घूम आओ।

मैं अपने-आप पर यह इल्जाम लगाना नहीं चाहता था कि मेरे ही कारण उसका तमाम कारोबार चौपट हो गया। इसीलिए मैं अकेले ही घूमने निकल पड़ा।

उस रोज मैं कुछ देर से घर लौटा। लीला ने कहा—"आज तो मैंने सिर्फ खिचड़ी पकाकर रखी है। चाहो तो तुम सामने वाले ईरानी के होटल से 'ब्रेड'

(पावरोटी) और मुर्गी की 'करी' ले आओ। यों भी ये दोनों चीज़ें तुम्हें पसन्द हैं।"

तीसरे दिन शाम के वक्त घर लौटने पर लीला मुझे वहुत प्रसन्न दिखाई दी। जैसे ही मैंने घर में कदम रखा, मेरा हाथ पकड़कर खींचती हुई वह मुझे अपने साथ भीतर के कमरे में ले गई और बोली—"देखो, आज मैंने फर्स्ट क्लास ७५ लिफाफे बना लिए हैं। अब कहो।"

मैंने कहा—"शाबाश। अब तो ज़रूर कहना पड़ेगा कि आज से तुम्हारा रोजगार वाकई खूब जोर-शोर के साथ शुरू हो गया है।"

हाथ की उंगलियां चटकाते हुए उसने कहा—"आज तो मैं ज़रूर सौ का रिकार्ड कर देती; लेकिन उंगलियां दुखने लगीं। तबीयत भी ऊब गई। और कल कैंची से कटी हुई उंगली भी बहुत दर्द कर रही है—"

"अरे। कहीं ज़ख्म 'सेप्टिक' न हो गया हो। क्या डाक्टर को दिखाओगी?"

"मेरे ख्याल से तो एक वार डाक्टर को दिखलाना ही ठीक होगा," चाय पीते-पीते लीला ने कहा—"आज तो चूल्हे राम के दर्शन करने की भी तवीयत नहीं हो रही है···"

मैंने कहा—"ठीक तो है, आज तुमने काम भी वहुत किया है।"

"लेकिन चूल्हा जलाए बिना काम कैसे चलेगा···हां। आज बाहर किसी होटल में खाना खाने के लिए क्यों न चलें?"

मैंने कहा—"हां चलो। आज होटल ही में खाना खा लेंगे।"

उसने खुशी-खुशी कपड़े बदले। हम घर से बाहर निकले। पहले डाक्टर के यहां गए। उसने बताया कि ज़ख्म सेप्टिक हो गया है; चार-छः रोज ड्रेसिंग के लिए दवाखाने में आना जरूरी है।

"ठीक है," कह कर हम दवाखाने से बाहर आकर, घूमते-टहलते होटल में आ पहुंचे। लीला बहुत दिन बाद होटल में आई थी। अपनी पसन्द की चीज़े खाती हुई वह बड़ी खुश नज़र आ रही थी और साथ ही बार-बार कह रही थी—"आज से मैं सौ लिफाफों का रिकार्ड करना चाहती हूं। अब खाना खाकर घर पहुंचते ही मैं अपने काम में जुट जाऊंगी।"

और हर वार मैं कह रहा था—"नहीं, रात के वक्त लिफाफों का काम बंद! समझीं?"

इसी तरह और सत्ताइस दिन बीत गए। उनमें किसी-किसी दिन सौ लिफाफे बने जरूर थे, लेकिन ऐसे दिन संख्या में बहुत कम थे। शेष दिनों में बनने वाले लिफाफों की संख्या बहुत ही कम थी। लीला के दाहिने हाथ की बीच वाली उंगली ज़ख्मी हो जाने की वजह से वह ठीक से काम नहीं कर सकती थी। डाक्टर के यहां अब तक हमें रोज ड्रेसिंग के लिए जाना ही पड़ता था; बीच-बीच में लीला

की तबीयत ऊब जाती थी और ऐसा होने पर घर में चूल्हा जलाने के बदले हम होटल में जाकर खाना खाते थे।

महीने के अंत में जमा खर्च इस तरह रहा : अठारह सौ लिफाफे तैयार हुए थे और उनकी बिक्री हो चुकी थी। दो रुपए चार आने सैकड़े के हिसाब से दूकानदारों ने लिफाफे खरीदे थे। व्यय के कालम में कागज़, कैंची और गोंद की दो शीशियां—इन चीज़ों के दाम तो लिखे ही गए थे, साथ ही डाक्टर का बिल और अपने काम से लीला की तबीयत ऊब जाने पर किसी-किसी दिन होटल से लायी जानेवाली ब्रेड (पावरोटी) और मटन-मुर्गी,तो किसी दिन होटल में जाकर खाना खा लेने का खर्च भी लिख दिया गया था। कुल खर्च हुआ था : इकहत्तर रुपये बारह आने।

मतलब यह हुआ कि लीला के इस नए रोजगार से मुझे इस महीने में इक्तीस रुपए चार आने की चपत लगी थी।

एक बार सोचा कि यह जमा-खर्च लीला को दिखा दूं। लेकिन झट मैंने इरादा बदल डाला, क्योंकि मैं लीला का दिल दुखाना नहीं चाहता था। मैंने इस विषय में उससे कुछ न कहा, बिलकुल चुप रहा।

लेकिन मेरे चुप रहने से लीला को और भी ज़्यादा बढ़ावा मिला। वह बार-बार मुझसे कहने लगी—"देखो, दीदी का कहना मैंने मान लिया, इसीलिए हमारी आमदनी पहले से बढ़ गई...।"

पूरे महीने में कितना फायदा हुआ, इसका हिसाब लगाने का उसका तरीका कुछ न्यारा ही था। डाक्टर और होटल के बिल उसकी नज़र में कोई खर्च ही नहीं थे। लेकिन कागज़, कैंची, गोंद आदि चीजों के लिए किया गया खर्च भी वह हिसाब में शामिल नहीं करना चाहती थी।

वह बार-बार कहती—"मेरे हिसाब से इस कुटीर-उद्योग में हमें ठीक चालीस रुपये आठ आने का मुनाफा हुआ। इतने रुपए मैंने घर बैठे ही कमा लिए। अब भविष्य में अपना धन्धा चालू रखने में हर्ज ही क्या है ?"

अब इस पगली को मैं कैसे समझाऊं ?

जमा-खर्च का वह कागज मैंने आपनी डायरी में रख दिया। लीला के नय कुटीर-उद्योग का अब दूसरा महीना चल रहा है। अब रोज सौ ही क्या, सवा सौ, डेढ़-सौ लिफाफे बना लेने का निश्चय उसने किया है। उमंग के साथ वह काम आरंभ तो करती है, लेकिन थोड़ी ही देर बाद काम से उसकी तबीयत ऊब जाती है। रोज का यही क्रम है। अब रोज रात हमारा खाना होटल में ही होता है और उसके लिए प्रायः हर रोज तीन रुपये मेरी जेब से जाते हैं।

हमारा मासिक खर्च अब पहले से ७५ रुपये ज्यादा होने लगा है।

लेकिन लीला बेहद खुश है, क्योंकि उसका ख्याल है कि वह अपने परिश्रम

से चार पैसे कमाने लगी है; और अब उसकी शान-शौकत पति के रुपयों पर नहीं बल्कि उसकी अपनी कमाई पर चल रही है यही नहीं, वह समझती है कि गृहस्थी के खर्च में भी अब वह सहायता कर रही है। उसकी सहेलियां जब चाय पर या गप्पें लड़ाने हमारे यहां आती हैं तब वह बड़े ठाठ से बताती है कि वह तो घर बैठे हर महीने चालीस-पचास रुपये आसानी से कमा लेती है। और वह उनसे भी यही रोजगार करने का अनुरोध करती है। अब कम से कम छः-सात घरों में लिफाफों का यह कुटीर-उद्योग शुरू हो गया है और कम-से-कम बेचारे सात-आठ पुरुष मेरी तरह परेशान हैं। इस कुटीर-उद्योग पर वे किस तरह और कब रोक लगा पाएँगे यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।

लीला मुझसे बार-बार कहती है—"मैं अब निठल्ली स्त्री नहीं हूं। हर महीने पचास रुपये कमा कर मैं भी गृहस्थी चलाने में सहयोग देती हूं—"

मन की सारी बातें मन ही में रख कर अपना बर्ताव कैसा रखा जाए, इसे अब मैंने अच्छी तरह सीख लिया है। लीला की बात पर तनिक भी नाराजी प्रकट न करते हुए, बल्कि बेहद प्रसन्नता का अभिनय करते हुए मैं उसे अपने निकट खींच लेता हूं और आहिस्ता से चूम लेता हूं।

होटल में खाना खाने में हर महीने ७५ रुपये व्यय हो रहे हैं। इस नये खर्च की पूर्ति करने के लिए नौकरी के साथ ही साथ और भी कोई काम करने के प्रश्न पर मैं गंभीरता से विचार कर रहा हूं। सुना है कि कहानियां लिख कर चार पैसे मिल सकते हैं। शायद मैं कहानियां लिख सकूं! सोचता हूं कि लीला के इस कुटीर-उद्योग पर ही एक कहानी क्यों न लिखूं! 'बहनो सावधान' जैसे लेख छापनेवाली किसी मासिक पत्रिका के संपादक को मेरी कहानी शायद पसंद आ जाए और पारिश्रमिक के रूप में पंद्रह-बीस रुपये भी मुझे मिल जाएं!

कहानी लिखने का यह विचार मैं कार्य-रूप में कब परिणित कर सकूंगा, यह बताना तो कठिन है। लेकिन हां, मैंने सोचा है कि पहले तो मैं आज लीला की दीदी को एक चिट्ठी लिखूंगा। चिट्ठी में उन्हें लिखूंगा—

"दीदी, तुम मेहमान बन कर चार दिन के लिए हमारे यहां आयीं और जाते वक्त वह मजेदार करतब कर गयीं कि जिंदगी में मैं उसे और तुम्हें भी कभी नहीं भूल सकता···"

और जिस लिफाफे में दीदी के नाम यह चिट्ठी भेजी जाएगी वह लीला के हाथों बने लिफाफों में से ही एक होगा···

अपनी पत्नी के हाथों बनाये हुए लिफाफे में अपनी बड़ी साली साहिबा को चिट्ठी लिखने में जो मज़ा है, उस का बखान करना तो साहब, मेरी सामर्थ्य के बाहर की बात है।

अलका तेल का विज्ञापन

—वि० स० खांडेकर,

सन् १८९८ में उत्पन्न विष्णु सखाराम खांडेकर मराठी के प्रसिद्ध उपन्यासकार, कहानी लेखक, निबन्धकार और आलोचक हैं। यद्यपि मराठी के आदि विनोदाचार्य कोल्हटकर का वारिस कहकर १९०५ ई० में गडकरी ने उनकी प्रशंसा की और स्वयं कोल्हटकर ने उन्हें अपना दत्तक पुत्र घोषित किया, तथापि विनोद उनका प्रधान-विषय नहीं है। विनोद-बुद्धि होते हुए भी वह मुख्यतः गंभीर विचार प्रधान लेखक हैं! उनके उपन्यासों और कहानियों में भी चिंतन-तत्व स्पष्ट दिखाई देता है क्योंकि वह 'जीवन के लिए कला' के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। हंस, नवयुग व प्रफुल्ल चित्रपट कंपनियों के लिए सिने-कहानियां लिखने के अतिरिक्त अब तक वे ५० से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं जिनमें लगभग १४ उपन्यास, ३०० कहानियां, २०० लघुनिबंध और कुछ आलोचनात्मक ग्रन्थ सम्मिलित हैं। उनके कुछ उपन्यास हिन्दी में अनूदित हो चुके हैं। प्रस्तुत कहानी में विज्ञापनबाजी पर सुन्दर कटाक्ष है।

आज की चाय कुछ विशेष अच्छी नहीं बनी थी, थी भी बासी दूध की। पर तो भी उसे पीते-पीते मेरे चेहरे पर अमृत पीने के समान अन्तर दिखाई पड़ने लगा। ऐसा नहीं होता तो श्रीमती जी ने "आज तो बड़े खुश दिखलाई पड़ रहे हो" का सिफारिश-पत्र क्यों दिया होता।

सिफारिश-पत्र चुपचाप जेब में रखने के लिए होता है। उसका वास्तविक उपयोग होता है संकट-काल में—अड़चन पड़ने पर। अतः श्रीमतीजी के सर्टीफिकेट के बदले में मैंने मुस्करा कर भी आभार नहीं माना।

स्त्रियों का मन गढ़ते समय ब्रह्मदेव शायद बबूल के वृक्ष के नीचे गोंद बनाते हुए बैठे थे कि पता नहीं क्या कर रहे थे। किन्तु यह सही है कि सब मिलाकर स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा चिपकनेवाली होती हैं। हाथ में आई हुई वस्तु को वे कभी छोड़ती नहीं—फिर वह चाहे आभूषण का हठ हो, निन्दा का विषय हो

अथवा स्वयं का पति ही क्यों न हो।

"आज किसी अच्छे आदमी का मुंह देखकर उठे लगते हैं।" आज श्रीमती जी ने कुछ निराले शब्दों में यह कहा था।

आठ बजने तक बिस्तर से न उठनेवाले दो छोटे बच्चों को छोड़ कर और कोई औरत-आदमी हमारे घर में था ही नहीं। तब सबेरे उठने पर मुझे पत्नी का और उसको मेरा मुंह देखना ही था। आज भी वही हुआ था। किन्तु यदि उससे यह कह दिया होता तो हमारे घर में तीसरा महायुद्ध प्रारम्भ हो गया होता। फिर दिन भर 'ऐसी अच्छे मुंहवाली पत्नी क्यों लाएं? अभी भी चाहिए तो मोरारजी से आज्ञा लीजिए और कोई रम्भा जैसी मिले तो उसे ले आइए'। इस प्रकार उसके वचन का निरन्तर प्रवाह शुरू हो जाता। अतएव 'सत्य की अपेक्षा सौन्दर्य पर ही स्त्री का अधिक प्रेम होता है,' किसी लेखक का यह वाक्य याद करके मैं चुप बैठा रहा।

पर श्रीमतीजी का तर्क गलत नहीं था। उठने के साथ ही रोज की अपेक्षा मेरा मन प्रसन्न था, यह सही बात थी। किन्तु इसका कारण उसे कैसे बतलाता?

बाजार में हमारे अलका तेल को आए चार महीने हो गए थे। सभी 'दीवाली-अंकों' में मैंने उसका अनेक प्रकार से विज्ञापन किया था। कालिदास ने इस तेल का उपयोग किया था, तभी वे जन्म से मूर्ख होते हुए भी प्रखर बुद्धि के हो गए थे और उनके मस्तिष्क से 'शकुन्तला' जैसे सुन्दर नाटक का निर्माण हुआ। नूरजहां को इस तेल का दुर्लभ फार्मूला मिल गया था, तभी जहांगीर उस पर फिदा हो गया था, आदि-आदि इतिहास का संशोधन करने तक मैं पहुंच गया। किन्तु कुछ फुटकर आर्डर छोड़कर पूरे महीने भर में हमारे अपूर्व 'अलका' की कोई मांग नहीं आई।

अलक माने केश और अलका माने कुबेर की नगरी। अतः यक्ष-कन्याएं व गंधर्वपत्नियां 'अलका' का ही उपयोग करती हैं, ऐसा भी दीवाली के अंक में एक विज्ञापन मैंने दिया था। किन्तु महाराष्ट्र में कम से कम तीन लाख गंजे पुरुष और केश झड़ने की शिकायत करने वाली १० लाख स्त्रियों के होते हुए भी मेरे ग्राहकों की संख्या ३० से ऊपर नहीं गई।

मेरे बाबा की एक पुरानी पुस्तक में रखे हुए कागज़ पर स्पष्ट लिखा था कि ...नवाडी के जागीरदार की स्त्री के केश २५ वर्ष की उम्र में ही झड़ गए थे और गंजे होने की नौबत आ गई थी। केशों की इस स्थिति के कारण वे जान ... पर तुल रही थीं। ऐसे समय में यह तेल मैंने उन्हें तैयार करके दिया था। ... वर्ष के अन्दर ही सकल सौभाग्यसम्पन्न मातुश्री म्हालसाबाई के केश घुटनों ... हो गए। मुझे उन्होंने राजवैद्य की उपाधि एवं दुशाले की जोड़ी देकर ... में ज़मीन भी इनाम में दी। बाबा की इस ज़मीन से उत्पन्न अन्न मैं

कुछ समय पहले तक खाता आ रहा था। तब इस तेल में ये अपूर्व गुण नहीं, ऐसा मैं कैसे मान लेता।

किन्तु आज का युग गुण का नहीं, विज्ञापन का युग है, यह ध्यान में रखकर ही मैंने सभी दीवाली-अंकों में बड़े-बड़े भड़कीले विज्ञापन दिए थे। विज्ञापन लिखने के लिए पुस्तकालय से मैं 'अनंग-रंग', 'रतिशास्त्र' से लेकर 'गीता रहस्य' तक की भिन्न-भिन्न प्रकार की पुस्तकें लाया था और उनमें से अच्छे लगनेवाले एवं इससे सम्बन्ध बताने वाले वाक्य खोजने में महीना भर लगा दिया था। जिस प्रकार पुराने वस्त्र हटाकर मनुष्य नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार पुराना शरीर हटाकर आत्मा नया शरीर धारण करती है, गीता का एक श्लोक है। मैंने इस आत्मा को सुन्दर स्त्री का मस्तक बनाया, शरीर के स्थान पर केशों की स्थापना की और एक शानदार विज्ञापन लिख डाला "भगवान श्रीकृष्ण का अलका तेल के विषय में अत्यन्त अनुकूल कथन।"

किन्तु दस-बीस पुराने व पांच-छः नए तेलों का विज्ञापन भी उन दीवाली-अंकों में प्रकाशित हुआ था। खुले पैसे अधिक हो जायं तो उनमें से खोटा पैसा पहचानना कठिन हो जाता है। इन पांच-पच्चीस तेलों का विज्ञापन पढ़कर ग्राहकों की भी ऐसी ही स्थिति हो गई होगी।

अब 'अलका' को खपाने के लिए क्या उपाय किया जाए, यह प्रश्न आठ-दस दिन से मुझे बेचैन किए हुए था। ऐसी मनःस्थिति में ही मैंने आज एक बड़ा शुभ स्वप्न देखा था—'अलका' की शीशियों से भरे हुए मेरे कमरे में एक हंसिनी फड़फड़ करती घूम रही है और लगातार सोने के अंडे देती जा रही है। रमेश के लिए मैं हाल ही में 'ईसप नीति' पुस्तक लाया था। उसका इस स्वप्न से कुछ सम्बन्ध है, ऐसा सन्देह मेरे मन में आया। किन्तु वह क्षण-भर के लिए ही। प्रातः काल के स्वप्न कैसे सच निकलते हैं, उसके विषय में मेरी दादी बहुत-सी बातें सुनाया करती थीं। वह सब मुझे याद आ गईं और बिछौने पर से उठते ही मुझे लगने लगा कि अब शीघ्र ही अपनी तेल की गाड़ी वायुयान के वेग से दौड़ने लगेगी। किन्तु यह सौभाग्य मुझे किस रूप में प्राप्त होगा, इसकी कल्पना मैं नहीं कर सका। पर श्रीमती जी को मेरे चेहरे पर जो प्रसन्नता दिखलाई पड़ी थी वह आनेवाली लक्ष्मी की भूमिका मात्र थी, इसमें मुझे शंका नहीं थी।

श्रीमतीजी के दोनों उद्गारों का मैंने कोई उत्तर नहीं दिया था। ऐसा होने पर भी वे मेरी ओर देख कर हँस रही थी। उनकी इस हँसी में अवश्य ही कोई पेंच है, ऐसा समझ कर मैंने कहा, तुम्हारे महिला-मंडल की अध्यक्षा श्रीमती आपटे की जैसी साड़ी में तुम्हें संक्रान्ति के दिन लाकर देनेवाला हूं। इस सम्बन्ध में अब तुम्हें कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं है। तब—

किन्तु चाय का प्याला अध खिले गुलाब रूपी होठों से हटाकर वह बोलीं, "शी ! शी ! मैं तो कुछ और ही कह रही थी।"

मनुष्य का मन कितना आशाप्रद होता है। "अभी 'अलका' बिकना शुरू नहीं हुआ है, तो मैं दोपहर को दो-तीन घंटे सोने की बजाय घर-घर घूमकर उसका विक्रय करूंगी।" ऐसा कुछ श्रीमती जी कहेंगी, यह मेरी आशा थी। स्त्रियों के मासिक-पत्रों में अनेक नारी चरित्रों को पढ़कर ही कदाचित् ऐसी कल्पना का मेरे मन में उदय हुआ था। ऐसी पत्नियां संसार में नहीं हैं, ऐसी बात नहीं। इस संसार में बड़ी मौज है। किन्तु प्रत्येक को वह कहां मिलती है ?

इस तत्वज्ञान का चिन्तन करते हुए भी श्रीमती जी के इस उद्गार से कि "आज श्रीमती आपटे की नाक मैं अच्छी तरह खींचूंगी," मुझे अधिक धक्का नहीं लगा। यह नया प्रहार वे कैसे करेंगी और उससे मेरी जेब को कितना धक्का लगने वाला है, यह मैं समझ नहीं सका। मैं पागल के समान उनकी ओर देखने लगा।

श्रीमतीजी ने हुक्म दिया, "पूरे दस बजे चलिए।"

'कहां ?'

'प्रभात थियेटर'

'किसी ने अलका का आर्डर दिया है ?'

'छि:, वहां आज नया चित्र लग रहा है।'

'वह पुराना होने पर देखेंगे। अनेक चित्र अकाल में ही वृद्ध हो जाते हैं। यह चित्र भी जल्दी ही—

'यह वैसा चित्र नहीं है, हां। कहते हैं कि इसमें एक नई लड़की ने ऐसा मस्त नृत्य किया है। कि बस···'

हमारा गोत्र भारद्वाज है। श्रीमतीजी के मुंह से "मस्त" शब्द सुनकर स्वर्ग में बैठे भारद्वाज ऋषि को कैसा लग रहा होगा, इस पर में विचार करने लगा। किन्तु सोचने का समय कहां था ? आलमारी मैं रखा हुआ एक विज्ञापन उठाकर मेरे हाथ में देती हुई श्रीमतीजी बोलीं, "यह देखिए, उस नई नटी को। सारी बम्बई इसके नृत्य से पागल हो उठी है। श्रीमती आपटे की एक सहेली का विगत सप्ताह एक पत्र आया था, अतः उन्होंने दो दिन पूर्व ही १ रु० ५ आने का टिकट बुक करा लिया है। उनकी यह शान देखकर मैंने भी उनसे कह दिया कि हमने २ रू० १० आने के टिकट तीन दिन पूर्व ही बुक करा लिए हैं। वे महिला-मंडल की अध्यक्षा हैं, तो मैं भी मंत्रिणी हूं।"

दो रुपए दस आने के चार टिकट ! "अलका" की बोतलों के बदले में थियेटर के टिकट मिलते तो मैं चार क्या सारे टिकट ले लेता। पर वस्तु के बदले वस्तु देकर समाज का व्यवहार चलाना अच्छा है, ऐसा संत विनोबा के कानों तक

चिल्लाने पर भी कोई नहीं सुनता है तो भला थियेटरवाला मेरे सरीखे तेलवाले को साथ क्यों ऐसा सुनता।

श्रीमतीजी को टालना कठिन था अतएव मैं विज्ञापन में दिए हुए नटी के फोटो को देखने लगा। कोई नई ही नटी थी वह। चेहरा बड़ा आकर्षक और ताजा था। लम्बे केशों के कारण वह बड़ी सुन्दर दीख रही थी। सुन्दर शब्द भी उसके लिए उपयुक्त नहीं था, मादक कहना अधिक उपयुक्त होगा। मैंने नीचे उसका नाम लिखा देखा– हंसिका।

प्रातःकाल देखा हुआ स्वप्न एकदम मेरी आंखों के सामने आ गया। सोने के अंडे देनेवाली हंसिनी...यह नई नटी हंसिका, इसके ये सुन्दर केश—'अलका' तेल-तेल और केश-केश और तेल।

कवि को कविता कैसे सूझती है, यह इसी क्षण मेरे ध्यान में आया। "अलका" के विज्ञापन में ऊपर हंसिका का मस्त सुन्दर फोटो और नीचे "अलका" उपयोग करने से ही मेरे केश इतने सुन्दर हुए हैं, ऐसा यदि उसने कह दिया तो चुटकी बजाते अलका लोकप्रिय हो जाएगा और पैसे बरसने शुरू हो जाएंगे। ऐसा मेरा निश्चय हो गया।

संध्या को सकुटुम्ब सपरिवार दो रुपये दस आने की टिकट लेकर चित्र देखने जाना मेरी जेब से बाहर था। किन्तु थियेटर के बाहर लगाए हुए पोस्टर को एकटक देखने के बाद श्रीमतीजी ने जब आप कितने अच्छे हैं कहकर कटाक्ष फेंका तब चित्र न देखने पर भी अपने पैसे वसूल हो गए हैं। ऐसा मुझे लगा। उस पोस्टर में हंसिका का मोह लेने वाला मुख और उसकी वे नज़रें देखकर एक गाना "दिल खाली हो गया" याद आगया। एक सुभाषित भी ध्यान में आगया। दीवाली-अंक में "अलका" के लिए विज्ञापन सोचते समय एक वाक्य मुझे बहुत पसन्द आया था—शब्द मन की भावना व्यक्त करने के लिए नहीं, उसे छिपाने के लिए होते हैं। मैंने बहुतेरा प्रयत्न किया था कि इस वाक्य में "शब्द" की जगह केश शब्द रखकर "अलका" का एक जोरदार विज्ञापन तैयार करूं। किन्तु उस वक्त वह जम नहीं सका था। अब उस पोस्टर की ओर देखने भर से मुझ में स्फूर्ति आ गई। मेरे मन में उद्‌गार फूट पड़ा—वस्त्र मादकता छिपाने के लिए नहीं, उसे व्यक्त करने के लिए होते हैं।

किसी साहित्यिक को शोभा देनेवाले इस वाक्य से मैं इतना खुश हो उठा कि चित्र आरम्भ होने तक सोचता रहा कि तेल की अपेक्षा मैं अपनी प्रतिभा का अधिक उपयोग कर सकूंगा। मेरे अन्दर का शेखचिल्ली उछलकर ऊपर आ गया। क्षण भर के लिए लगा कि मैं बड़ा कथा-लेखक हो गया हूं, मेरे चित्रपट में हंसिका नायिका की भूमिका कर रही है—पर श्रीमती जी के कुहनी मारने पर मेरा यह सुनहरा स्वप्न भंग हो गया। उनको अपने लिए मूंगफली और बच्चों के लिए

लेमन-ड्राप्स चाहिए थे।

चित्र में हंसिका का पहला नृत्य प्रारम्भ हो गया। पांच आने वालों की ओर से सीटियां बजने लगीं। सुशिक्षित पत्नियों की दृष्टि हंसिका के विपुल, सुन्दर और लंबे केश-कलाप पर जम गई। मेरी बगल में स्थानीय समाचार-पत्र का एक उप-सम्पादक अर्थात् फोकट में आने वाला जीव बैठा था। वह अपने आप बड़-बड़ाने लगा। एस्थर विलियम्स—हैड्डी लामार, मर्लिन मनरो-हंसिका।

चित्र के कथानक से हंसिका का विशेष सम्बन्ध नहीं था। नायक को नृत्यकला पर एक पुस्तक लिखनी थी। उसके लिए वह एक नर्तकी के घर जाता है और उसका निराला नृत्य देख बैठा रह जाता है। अर्थात् देखते-देखते उससे प्रेम करने लगता है, आदि-आदि बातें हमेशा की तरह इस चित्र में भी थीं। प्रत्येक पुरुष विश्वा-मित्र और प्रत्येक सुन्दर स्त्री मेनका है, ऐसा हमारे लेखकों को लगता है। किन्तु चित्र के प्रेम-प्रसंग में कुछ भी दम नहीं था। हंसिका के उत्तेजक नृत्य, उन्नत वक्ष के प्रदर्शन और उसके बार-बार कटाक्ष करवाने पर ही दिग्दर्शक का अधिक ध्यान था।

हां, दर्शकों के पैसे वसूल हो जाएं, इतना माल-मसाला हंसिका के उस नाच में अवश्य था।

चित्र को अभी अधिक दिन नहीं हो पाए थे, फिर भी इस बात के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे कि हंसिका शीघ्र ही लोकप्रिय हो जानेवाली है। मध्यान्तर में श्रीमती आपटे को दिखलाने के लिए कि हम २ रु० १० आने में बैठे हैं, श्रीमतीजी १ रु० ५ आने वाले दर्जे में गईं। वहां से वापस लौटने पर वे एक बड़ा रोमांचकारी समाचार लाईं। अध्यक्षा के साथ-साथ महिला-मंडल की अनेक सदस्याएं भी १ रु० ५ आने के दर्जे में बैठी थीं। उन्होंने संक्रान्ति के दिन बड़े ठाठ-बाट से हंसिका का स्वागत करने का निश्चय किया था।

श्रीमती आपटे लगभग ५० वर्ष की हो चुकी थीं किन्तु उनको भी हंसिका ने पागल बना दिया है, ऐसा देखकर अपने विज्ञापन की सफलता विलक्षण होगी, इस विषय में मैं निश्चिन्त हो गया। लगता था कि मेरी भाग्य-पत्रिका के सभी शुभ ग्रहों का आज सम्मेलन हो गया है। नहीं तो, क्या यह कल्पना मुझे सूझी होती ?

घर आकर श्रीमती जी चूल्हा जलाने के लिए ईंधन की खोज करने लगीं। दोनों बच्चे नींद में थे। वे रो रहे थे। उन्हें चुप कराना मेरे बस का रोग न था।

कोई कवि कविता लिख रहा हो और उस समय उसकी पत्नी 'बच्चे संभालो' का आर्डर दे दे, तो क्या वह कविता सारे जन्म भी पूरी हो सकेगी ?

हंसिका द्वारा पुरस्कृत 'अलका' तैल का विज्ञापन उस समय मुझमें उत्साह पैदा कर रहा था। बच्चों के पीछे मैं अपना उत्साह छोड़ने को तैयार नहीं था। विज्ञापन का मजमून मेरे मन में पक्का था। मैं रसोईघर में गया और घर में आग

[illegible] [illegible] चिल्लाहट की परवाह न कर श्रीमती जी से बोला, "वह हंसिका बड़ी खूबसूरत है न ?"

मेरी ओर एक क्षण भी न देखकर वह बोलीं, "ज़रा कोयले ध्यान से देखकर जलाया करिए। देखिए, चिनगारी कैसी उड़-उड़कर शरीर पर आ रही हैं।"

मैंने उसके पास बैठते हुए प्रश्न किया, "हंसिका का कौन-सा पोज़ तुझे सबसे खूबसूरत लगा ?"

इस बार रमेश चिल्लाया, "मां, मुझे भूख लगी है।"

मैंने श्रीमतीजी से फिर कहा 'हंसिका'—

"वह हंसिका—"वह क्रोध में आकर उठ खड़ी हुईं और बोलीं, "चूल्हे में गई हंसिका। नहीं तो ऐसा करिए, उस हंसिका को बुलाकर चूल्हा जलाने के लिए कहिए। अच्छे-खासे दो बच्चों के बाप हो। उस नखरेवाली स्त्री के प्रेम में पड़ने के पहले अपनी पत्नी से कुछ तो शर्म करो। ठहरो, मैं पाठकों के स्तम्भ में कल ही एक पत्र लिखे देती हूं। जिस चित्र में सुन्दर स्त्री की भूमिका ही उसे देखना पतियों के लिए वर्जित करवा देना चाहिए।"

हंसिका से मुझे प्रेम नहीं हुआ है, बल्कि उस पर मेरा जीवन अवलम्बित है, यह बात क्रुद्ध श्रीमती जी को समझाने में मुझे डेढ़ घंटे से अधिक लग गया। संक्रान्ति पर निकलने वाले एक विशेषांक में हंसिका का सुन्दर फोटो और उसका कथन देकर 'अलका' का विज्ञापन कैसे किया जाय, दीवाली के अंकों की तरह अबकी बार प्रतिस्पर्धा न होने से और इस मौसम में हंसिका ही एकमात्र लोकप्रिय अभिनेत्री होने से अंक प्रकाशित होते ही अलका तैल पर लोग कैसे पागल हो उठेंगे और फिर श्रीमती जी की विगत पांच वर्षों की नए फैशन की सुनहरी चूड़ियों की मांग कैसी पूरी होकर चूड़ियां उनके हाथों में चमकने लगेंगी, इसका रसपूर्ण चित्र जब मैंने उनकी आंखों के सामने खड़ा किया तो उनका पारा बहुत कुछ अंशों में उतर गया। रात को साढ़े ग्यारह बजे भोजन बनाते समय वह सीता-सावित्री के स्वर में बोली, "आप कितने होशियार हैं। वैसे ही तैल के कारखाने के मालिक थोड़े ही हो गए हैं। आगामी निर्वाचन में खड़े हुए, तो मंत्री नहीं, तो उप-मंत्री अवश्य बन सकते हैं।"

उस रात मैंने जो सुन्दर स्वप्न देखा, उसका वर्णन मुक्त छंद में भी करना कठिन है। उसका वर्णन कोई पुराना कवि ही कर सकता है। एक स्वप्न में मैंने अलकावाडी नामक एक बस्ती बसाई और वहां सभी कारखानों में अलका तैल तैयार करवाना शुरू किया। इस नगर में कोई भी गंजा सिर नहीं दिखलाई पड़ता था। दूसरे स्वप्न में मैं हंसिका की एक सुन्दर मूर्ति का उद्घाटन कर रहा था और सभी मुझे सेठ कहकर पुकार रहे थे। तीसरे स्वप्नमें बॉबकाट केशों वाली मेरी श्रीमती जी ८० मील की रफ्तार से कार चला रही थीं और जान हथेली

पर रखकर उनके बगल में मैं बैठा था। उनकी यह सब भाग-दौड़ एक सम्मेलन के लिए थी। बम्बई में होनेवाली एक सौन्दर्य-प्रतियोगिता में उन्हें अध्यक्षा का स्थान विभूषित करना था।

प्रातःकाल जगते ही मैंने श्रीमती जी के मस्तक पर हाथ रखकर देखा, किन्तु उनके जूड़े पर हाथ रखते ही मानो मुझे होश आ गया। फिर एक दीर्घ निःश्वास लेकर मैं उठा और हंसिका को विज्ञापन-सम्बन्धी पत्र लिखने बैठा। चाय पीकर पत्र पोस्ट में डालने निकल ही रहा था कि प्रातःकाल की डाक आ गई। उसमें तीन-चार अच्छे पत्र दिखलाई पड़े। यह समझकर कि अलका का आर्डर आया है, मैं खुश हो उठा। किन्तु पत्र खोलकर देखने पर पता चला कि वे सब दीवाली-अंकों के विज्ञापन की शेष रकम को चुकाने के तकाज़े थे। इतने पैसे देने थे कि संक्रान्ति के अवसर पर विशेष अंक में विज्ञापन पर और खर्च करने की हिम्मत छूटने लगी। किन्तु फिर सोचा, 'हिम्मते मर्द, मददे खुदा'। संक्रान्ति पर एक ही विशेषांक निकल रहा है। तीन करोड़ मराठी लोग यही एक अंक लेंगे।

सभी विज्ञापनदाता दीवाली-अंक में विज्ञापन देने के लिए ही मरते हैं। इस बार तुम्हारे लिए मैदान साफ है। तुकाराम ने भी कहा है, 'सत्य संकल्प का दाता भगवान है।' उस भगवान के पीछे कल दिखी हुई हंसिका की मूर्ति खड़ी हुई मुझे दिखलाई पड़ने लगी। वह करीब आकर मेरे कान में फुसफुसाई, 'अरे, पागल! यदि मैंने अपने बालों का नीलाम भी किया तो एक-एक बाल कम से कम दो हज़ार में बिकेगा। इन मोहक बालों के साथ मैं तेरे तैल के विज्ञापन पर चमकने लगूंगी, तब तो तू चुटकी बजाते-बजाते लखपति हो जाएगा। यह युग विज्ञापन का है—इसे मत भूल।'

भगवान का नाम लेकर हंसिका को लिखा पत्र मैंने डाक में डाल दिया। तीसरे दिन उसका अंग्रेज़ी में उत्तर आया। उत्तर के नीचे उसके पिताजी की उर्दू में सही थी। हंसिका का सब कामकाज वे ही देखते थे। मेरा मांगा हुआ हंसिका का फोटो और 'अलका' के उपयोग से ही मेरे बाल इतने मोहक हुए हैं, ऐसा उसका कथन आदि वे देने को तैयार थे। उसके बदले फूल नहीं फूल की पंखुड़ी समझकर मैं पहले उन्हें पांच सौ रुपये दूं, ऐसा उन्होंने सूचित किया था। देवता को भी तो नैवेद्य चढ़ाते हैं, उसी प्रकार इन हंसिका देवी को नैवेद्य चढ़ाना था।

उनकी वह फूलों की पंखुड़ी मेरी वर्तमान स्थिति में मेरे आंगन में लगा वृक्ष ही था। किन्तु भविष्य के लाभ को दृष्टि में रखकर मैंने उसे काट दिया और अलका की शीशी के साथ उसके पिताजी के पास भेज दिया। तुरन्त ही हंसिका का खूबसूरत फोटो और मेरा मनचाहा कथन भी आ गया। यह सब मैंने झटपट संक्रान्ति पर निकलनेवाले उस विशेषांक को भेज दिया।

हंसिका अर्थात् उसके पिताजी ने महिला-मंडल का सत्कार-निमंत्रण स्वीकार कर लिया है, यह मुझे श्रीमती जी से मालूम हुआ। संक्रान्ति के दिन ही महिला-मंडल ने सत्कार करने का निश्चय किया था। इस काम की तैयारी में मंत्रिणी होने के नाते श्रीमतीजी इतनी व्यस्त हो गईं कि मुझे और बच्चों को खाना-पीना भी ठीक से मिलना बन्द हो गया। इस कार्य का सबसे पहला भाग था, श्रीमती आपटे के समान साड़ी खरीदना। संक्रान्ति के बाद अलका की बिक्री से बरसने वाले रुपयों को ध्यान में रखकर मैं उसे उधार लाया और इस सत्कार-समारोह को सफल बनाने के लिए मैंने अपनी ओर से यथाशक्ति सहायता की।

फिर तो संक्रान्ति का एक-एक दिन मुझे युग के समान लगने लगा। इस बीच मैं रमेश की 'ईसप नीति' को—सोने के अंडे देने वाली हंसिका की कथा को कितनी वार पढ़ गया, गिना नहीं सकता। इस बीच ही हंसिका के पिताजी का एक पत्र महिला-मंडल को मिला। "शोरगुल से हंसिका को बड़ा कष्ट होता है। जहां कहीं उसके आने की बात का पता चलता है, हज़ारों लोग उसके दर्शन के लिए घंटों खड़े रहते हैं, इसलिए वह गाड़ी से न आकर कार से आएगी। 'विलास होटल' में वे ठहरेंगे, महिला मंडल की किसी भी सदस्या से वह समारोह के पूर्व नहीं मिल सकेगी, आदि-आदि बातें उन्होंने पत्र में लिखीं थीं। कितने थोड़े समय में हंसिका की प्रतिष्ठा कितनी बढ़ गयी है और उसके कारण अपना तेल चाय के समान कितना बिकने लगेगा, इसकी कल्पना मैं इस पत्र से भली भांति कर सकता था।

संक्रान्ति के दिन प्रातः काल ही विज्ञापन का अंक मेरे हाथों में आने वाला था। अपना विज्ञापन कैसा छपा है, यह देखने की उत्सुकता के कारण उस अंक को पोस्ट-आफिस से ही लेने के लिए पत्नी से साग की थैली लेकर और प्रमाण के रूप में उसमें 'अलका' की एक शीशी रखकर मैं घर से बाहर निकला।

पोस्ट से अंक मिल गया। किन्तु उसे देखते ही मैं धम्म से नीचे बैठ गया। मेरे करीब खड़े एक गुजराती व्यापारी को लगा कि मुझे हृदय-रोग है, इतना विचित्र मेरा बैठना था। किन्तु वहां मेरा भाग्य ही बैठ गया था।···

उस संक्रान्ति के विशेषांक में केवल 'अलका' तेल का ही विज्ञापन न था। छः अन्य तेलों का विज्ञापान भी था। प्रत्येक तेल के विज्ञापन पर हंसिका का ही मस्त फोटो छपा था और प्रत्येक विज्ञापन में उस विशेष तेल का नाम लेकर हंसिका ने शपथ पूर्वक कहा था कि इस तेल के कारण ही मेरे बाल इतने मोहक हुए हैं।

खूब पैसे खर्च करके लड़की का ब्याह करते समय वेदी से दामाद के गायब हो जाने पर जो हाल होता है, वही क्षण भर के लिए मेरा भी हुआ। फिर दुःख का स्थान संताप ने ले लिया। इस धोखेधड़ी का उतर उस धूर्त अभिनेत्री से लेना

ही चाहिए। ऐसा कहता हुआ, मैं पोस्ट आफिस से बाहर निकला।

मंडी का रास्ता 'विलास होटल' को ही जाता था। दूर से ही होटल के बाहर बड़ी भीड़ दिखलाई पड़ी, सोचा कि शायद कोई बड़ा आदमी मर-वर गया हो। इतने में ही पास से गुज़रने वाले दो लड़कों की बातचीत कान में पड़ी। हंसिका के विलास होटल में आकर ठहरने की बात सारे गांव में फैल गई थी। उसे देखने के लिए लोगों के झुंड के झुंड होटल का चक्कर लगा रहे थे।

किसी किले को सर करने के समान होटल के बाहर भीड़ जमी थी। उस भीड़ में से अन्दर जाना अत्यन्त कठिन था। मेरा सौभाग्य था कि गंजे सिर का होटल का एक नौकर मुझे दिखलाई पड़ गया। उसे मैंने इशारे से बगल में बुलाया और थैली में से 'अलका' तेल की शीशी निकालकर उसे सप्रेम भेंट की और अपने नाम का कार्ड अन्दर हंसिका के पिताजी तक पहुंचाने का आग्रह किया।

थोड़ी देर में मुझे अन्दर बुलाया गया। हंसिका के पिताजी गुड़गुड़ी पीते बैठे थे। 'आइए, बैठिए,' कहकर हँसते हुए उन्होंने मेरा स्वागत किया। किन्तु हँसने की मन:स्थिति में मैं नहीं था।

उस दाढ़ीवाले बुड्ढे के दांत कैसे बाहर खींच लूं, मैं यही विचार कर रहा था। उसके सामने थैले का अंक निकालकर क्रोध से में बोला, "आपने मुझे धोखा दिया है। हंसिका देवी अन्य छः तेल भी उपयोग में लाती हैं, ऐसा आपने इस अंक में छपवाया है।"

'यह तो सच है। इसमें क्या बुरा है?"

"एक स्त्री एक ही तेल का उपयोग करेगी। वह सात-सात तेल कैसे उपयोग में लायेगी?"

वह बुड्ढा हँस कर बोला, "रोज एक एक तेल उपयोग में लाया जा सकता है, साहब। हमारी लड़की भी वही करती है। सोमवार को 'अलका' मंगल को···

उस बुड्ढे की बत्तीसी खींच लूं, ऐसा मन में आया। किन्तु सारा क्रोध आवाज़ में उड़ेलकर बोला, "हंसिका देवी को जरा बुलाइए। मैं उनसे ही इसका उत्तर पूछूंगा।"

"उसकी फीस लाये हैं, साहब?"

'फीस?"

"हां, फीस। डाक्टर और वकील फीस नहीं लेते क्या? मेरी लड़की से एक मिनट बोलने के पांच रुपए, घंटे के लिए पचास रुपए, दिन भर के लिए···

उसके दर सुनने की हालत में मैं नहीं था। उसकी दाड़ी उखाड़ कर 'यह तेरी और हंसिका की फीस है' कहना चाहता था। पर यह सम्भव नहीं था।

गुडगुडी का एक दम खींचता हुआ बुड्ढा बोला, "मेरे समय का भी मूल्य है, साहब। ऐसी लड़की का बाप कभी भी सस्ता नहीं होता है। मेरी फीस प्रति मिनट

के लिए एक आना, घंटे के लिए···।'

गंवाएं हुए पैसे ही बहुत हुए, ऐसा सोच कर मैं चुपचाप उठ खड़ा हुआ। घर आने पर श्रीमतीजी को सारा हाल मैंने कह सुनाया। वे बोलीं, "उसका आभार मानने का काम मुझे ही करना है। खूब खबर लूंगी उसकी अपने भाषण में।"

"इन सात विज्ञापनों के बारे में बताकर कहना कि हंसिका देवी का और मेरा बहुत निकट का सम्बन्ध है। उसके मोहक और लम्बे केशों के एक सप्तांश पर 'अलका' का भी अधिकार है।"

सांयंकाल समारोह समाप्त कर श्रीमती जी कब वापस आती हैं और हंसिका की फजीहत उन्होंने कैसे की, यह सुनने की आशा में मैं बैठा रहा। अन्त में आठ बजे के करीब वे आईं। दरवाज़े पर ही मैंने कहा, "तुम्हारे स्वागत भाषण को सुनकर बड़ा मज़ा आया होगा न?"

उसने नकारात्मक रूप से सिर हिलाया।

"क्या मतलब?"

"उसके केशों के सातवें भाग पर हमारे तेल का अधिकार है, ऐसा बोलने का साहस मुझ में नहीं था।"

"तुम स्त्रियां ऐसी ही होती हो। तुम्हारा शौर्य घर में शेरनी···।"

"ऐसी बात नहीं है।"

"फिर क्या है?"

"यदि मैं वैसा कहती तो अपने ही तेल की बदनामी होती।"

"वह कैसे?"

"अजी, उस लड़की के सुन्दर, मोहक और लम्बे बाल हैं ही कहां? वह तो अच्छा खासा बॉबकट किए हुए है।"

थियेटर के पोस्टर पर विपुल केश राशि से पूर्ण हंसिका की उन्मादक आकृति और उसकी गहरी कटाक्ष करने वाली आंखें मेरी आंखों के सामने खड़ी हो गईं। उसके अनन्तर ही वह मेरी आंखों में समा गई थी। पांच सौ रुपये के···

···विज्ञापन के बिल—बॉबकट अभिनेत्री द्वारा 'अलका' केशवर्धक तेल की सिफारिश। अलका का तो नहीं, पर अपनी अकल का विज्ञापन ज़रूर हो गया था।

संतोष की एक ही बात थी कि जो कुछ भी हुआ, उसमें छः अन्य हिस्सेदार भी थे······

सार्वजनिक जीवन

—प्र० के० अत्रे

१८९८ ई० में उत्पन्न आचार्य अत्रे की प्रतिभा बहुमुखी है। विद्यार्थी-जीवन में सदा प्रथम आने वाले अत्रे २० वर्ष तक कुशल अध्यापक रह चुके हैं, इंग्लैंड जाकर टी० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं, नगर-पालिका के सदस्य बनकर लोक-सेवा कर चुके हैं तथा साहित्य क्षेत्र में भी अनेक सभा-सम्मेलनों के अध्यक्ष रह चुके हैं। नाटककार, कवि, विनोद-लेखक, विडम्बन काव्यकार (पैरौडी लेखक) होने के अतिरिक्त उनकी प्रसिद्धि का सर्वाधिक कारण है उनकी भाषण-शक्ति। उनके विनोद का उद्देश्य है दुखी व्यक्तियों को हँसाकर उनका दुख दूर करना। अतः विनोद के लिए विनोद उनका सिद्धान्त है। उनकी विनोद-कथाओं में कथा का सूत्र अत्यन्त विरल होता है क्योंकि उनमें विनोद ही मुख्य होता है, कथा गौण। उनका व्यंग्य अत्यन्त तीव्र होता है। उनकी प्रसिद्ध विनोद-पूर्ण रचनाएं हैं—'गुत्यांत नारद' 'साखरपुडा' 'कावला व रिपोर्टर।'

प्रातः सात बजे का समय था। 'टाइम्स' पढ़ते हुए मैं बिस्तर पर लेटा हुआ था। यह मेरा प्रतिदिन का कार्य-क्रम है। इतने में द्वार की घंटी बजी और नौकर मुझसे कहने आया, "पांच-सात व्यक्ति आपसे मिलने के लिए आए हैं।"

इतनी सवेरी ये लोग दूसरों को त्रास देने के लिए क्यों आते हैं, इस भाव से मैंने नौकर की ओर देखा और 'उन्हें बैठक में बिठाओ' यह आदेश उसे कुछ तो शब्दों में और कुछ संकेत द्वारा दिया।

पांच मिनिट में मैं बैठक में गया तो देखा कि बैठक में पूरी भीड़ जमा है। पांच-सात की बजाय अच्छे-खासे नौ-दस आदमी बैठे हुए थे। किसी दूर के प्रदेश से वे लोग आए हुए थे और उनके साथ बम्बई के मेरे दो-तीन परिचित व्यक्ति भी थे।

मेरे अन्दर आते ही 'अभी-अभी जगे प्रतीत होते हैं?' उनमें से एक हास्य-

पूर्ण मुद्रा बनाने की चेष्टा करता हुआ बोला।

मैं चुप रहा।

"हमें लगा, पता नहीं आप इतनी जल्दी उठे भी होंगे या नहीं!" पहिले व्यक्ति से कुछ अधिक मुस्कराता हुआ दूसरा व्यक्ति बोला।

उसे मुंहतोड़ जबाव देने का विचार तो क्षण भर के लिए मेरे मन में उठा, पर उसे वहीं दबाकर अत्यन्त शान्त स्वर में मैंने पूछा।

"क्यों, कोई विशेष कार्य है?"

"काम, आपके पास और कोई क्या काम हो सकता है?" तीसरा व्यक्ति और भी अधिक जोर से हँसता हुआ बाहर से आए हुए व्यक्तियों में से एक की ओर मुड़ा और उससे बोला, "गणपतराव, तुम जो पत्र लाए हो, कहां है?"

गणपतराव ने अपने शरीर का एक भाग ऊंचा कर टेंट में लगे हुए एक गुड़-मुड़ मटमैले रंग के कागज़ को निकाला और उसकी शिकन साफ करता हुआ तथा उसे अधिक शिष्ट रूप देते हुए उसने वह मेरे हाथ में रख दिया।

"रामभाऊ ने यह आपके लिए पत्र दिया है।" दूसरे एक व्यक्ति ने धीरे से स्पष्टीकरण किया।

पत्र के अन्त में टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में किए गए अस्पष्ट गुथे हस्ताक्षरों को अधमिचे नेत्रों से पहचानने की असफल चेष्टा करते हुए मैं बोला, "रामभाऊ? रामभाऊ कौन?"

इस पर गणपतराव तुरन्त बोले, "रामभाऊ कुलकर्णी, वकील। वह कहते थे आपकी और उनकी बड़ी गहरी दोस्ती है।"

"बम्बई आने पर आपके ही यहां उतरते हैं—" दूसरा बोला।

"कुछ दिन हुए उन्होंने अपनी पुत्री के विवाह पर आपको निमंत्रण भेजा था।" तीसरा बोला "और आप आनेवाले भी थे पर ऐन मौके पर कुछ गड़बड़ हो गई और आपने तार कर दिया कि आप आने में असमर्थ हैं। गांव वाले बड़े निराश हुए थे।"

"अच्छा, अच्छा। तो आपके रामभाऊ कुलकर्णी वकील हैं। वही न जो लम्बे और गोरे हैं?" कुछ बोलना ही चाहिए, अतः मैंने कहा।

"लम्बे और गोरे?" गणपतराव बीच ही में बोला, "नहीं जी, नाटे और काले हैं वह तो—आपके चेहरे से उनका चेहरा मिलता है—और उम्र में भी आपके ही बराबर हैं।"

"बिल्कुल। "गणपतराव का दूसरा साथी बोला, "रामभाऊ को परसों ही त्रेसठवां लगा है।"

उस समय मेरा मन चाहा कि उस व्यक्ति की नाक ज़ोर से काट खाऊं।

इतने में बम्बई वाला व्यक्ति आवश्यकता से अधिक कौतूहल प्रकट करता

हुआ धीरे से फुसफुसाया, "आपको कौन-सा लगा है—इकसठवां या बासठवां ?" "बावनवां—" मैंने शान्त स्वर में उत्तर दिया। उनके द्वारा वय-सम्बन्धी यह विडम्बना मुझे बिल्कुल असह्य हो उठी थी।

"पर चेहरे से तो आप चालीस के भी प्रतीत नहीं होते। क्यों न शंकर-राव ?" एक दूसरे बम्बई वाले ने कुर्सी के हत्थे पर बड़ी कठिनाई से बैठे हुए एक अन्य व्यक्ति की पीठ पर थाप मारते हुए उसका मत पूछा। पर वह उत्तर देने से पूर्व ही कुर्सी के हत्थे पर से नीचे गिर पड़ा।

उधर ध्यान न देकर मैं मन ही मन सोचने लगा कि मेरा इतना घनिष्ट परिचित रामभाऊ कुलकर्णी कौन हो सकता है। पाठशाला में अथवा कालेज में पढ़े सभी सहपाठियों के तथा उसके बाद आजतक मिले कुलकर्णी नाम के सभी व्यक्तियों के चेहरे मैं मन के चित्रपट पर धीरे-धीरे सरका-सरका कर देखने लगा। पर उनमें त्रेसठ वर्ष का नाटा और काला रामभाऊ कुलकर्णी वकील मुझे कहीं दिखाई नहीं दिया। तब उस प्रयत्न को छोड़ मैं उनके लिखे पत्र को ही मन ही मन पढ़ने लगा। पहिले तो सम्बोधन को पढ़कर ही मैं स्तब्ध रह गया, "परमपूज्य देश-कार्य—धुरंधर साहित्यमुकुट चिंतामणी भाऊसाहब के चरणों में···"

"भाऊ साहब।" दाल-भात में कंकड़ आ जाने की तरह मैं चिढ़कर बीच ही में रुक गया। "भाऊसाहब कौन ?"

"आपको वह भाऊ साहब कहते हैं—" गणपतराव ने बीच में हँसकर स्पष्टीकरण किया।

"ठीक है।" मैं मन ही मन बड़बड़ाया। कहने को मैं सार्वजनिक सम्पत्ति ठहरा ? अतः कोई भी मुझे किसी भी नाम से सम्बोधित कर सकता था—भाऊ साहब ही क्या, दादा साहब भी कह सकता था।

मैं पुनः आगे पढ़ने लगा, "हमारे गांव में प्रतिवर्ष श्री कालमेख की यात्रा का उत्सव मनाया जाता है। आसपास के दस मील तक के दसबीस हज़ार व्यक्ति एकत्र होते हैं। ऐसे अवसर पर आप सरीखे महान् और विद्वान देश-भक्त के मुख से निसृत ज्ञानामृत का लाभ जनता को मिल सके, ऐसी सभी गांव वालों की इच्छा है। आप इस प्रदेश में कभी नहीं आए हैं। आपका यश हम अनेक वर्षों से सुनते आ रहे हैं। आपके दर्शन करने तथा आपका व्याख्यान सुनने के लिए यहां की सम्पूर्ण जनता चक्रवाक् पक्षी के समान आपकी प्रतीक्षा में आंखें बिछाए हुए है। यदि आप न आए, तो सहस्रों व्यक्तियों को निराशा होगी। अतः इस अवसर पर पधार कर हमें कृतार्थ कीजिए। इस अवसर पर एक निःशुल्क वाचनालय और एक व्यायामशाला खोलने का हम लोगों का विचार है तथा प्रबन्धक-मण्डली का आग्रह है कि वाचनालय का उद्‌घाटन तथा व्यायाम-शाला के भवन का शिलान्यास आपके कर-कमलों द्वारा ही हो। आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार

कर लेंगे, इस आशा से हमने आपका नाम अपने विज्ञापन-पत्रों एवं समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर दिया है, इत्यादि,-इत्यादि।"

पत्र पढ़ते समय मुझे बुलाने को आए 'ग्राम-मंडल' के वे पांच-सात प्रतिनिधि अत्यन्त दीन मुद्रा में मेरे मुख की ओर देखते रहे।

पत्र पढ़कर मैं उसे मेज़ पर रख ही रहा था कि गणपतराव चिपटाऊ ढंग से बोले, "रामभाऊ ने मुझ से कहा है कि उनका पत्र पढ़ने के उपरान्त भाऊ-साहब अस्वीकार कर ही नहीं सकेंगे—"

"मेरा नाम भाऊ साहब नहीं है" मैंने बीच ही में शुद्धि की।

"जो भी हो, वही सही।"—गणपतराव दांत निकाल कर ज़ोर से हँसने का प्रयत्न करते हुए बोले।

"अगले सोमवार से उत्सव प्रारम्भ होगा" दूसरे एक सज्जन बोले।

"और शनिवार को समाप्त होगा। छः दिनों में से आप किसी भी दिन आ जाइएगा।"

"नहीं-नहीं, किसी भी दिन कैसे ?" तीसरे सज्जन रोष-भाव बनाते हुए बोले, "उत्सव के पहिले ही दिन साहब का व्याख्यान हमने रखा है। उसी दिन भारी भीड़ जमा होगी। बाद में भीड़ कम हो जाने पर साहब को ले जाने से क्या लाभ ?"

वह हाथों को मटकाकर कुछ और कहने वाला था, पर किसी तरह उसने अपने आप को रोका। मैंने भी मुक्ति का निश्वास लिया।

"गांव वालों ने तो हमसे स्पष्ट कह दिया है कि यदि साहब नहीं आए तो हमें किसी अन्य का व्याख्यान नहीं सुनना है। होंगे दूसरे अनेक व्याख्याता—भाड़े के टट्टू। उनको लेकर हमें क्या चाटना है ?" चौथे साहब बोले।

"गत वर्ष पूना के शनिवार-वाडे के सामने साहब का व्याख्यान था। कितनी भीड़—कितनी बड़ी भीड़ थी। मैं वहीं था न ! देखने योग्य सभा थी - कुछ याद नहीं आ रहा।" सिर खुजाते हुए पांचवां बोला।

अब यदि किसी को कुछ और कहना है, तो वह भी कह डाले, "इस भाव से मैंने चारों ओर दृष्टि घुमाई। पर मुझे ऐसा लगा जैसे अब सब लोग मुझसे कुछ बोलने की आशा कर रहे हैं। बोलने का अवसर प्रदान करने के लिए मन ही मन उनका आभार मानते हुए मैं बोला, "आप लोग अपने रामभाऊ कुलकर्णी वकील से कह दें कि उनका पत्र मिला। मैं आभारी हूं। पर व्यस्तता के कारण आने में असमर्थ हूं—मुझे क्षमा करें।"

इस पर उन सब के चेहरे ऐसे हो गए जैसे उन पर छत ही गिर पड़ी हो और वे एक दूसरे की ओर बड़ी दुखपूर्ण मुद्रा में देखने लगे।

बम्बई के एक सज्जन बोले, "नहीं, नहीं—साहब, यह,···यह नहीं हो

सकता। हमारी खातिर आपको 'हां' करनी ही पड़ेगी।"

दूसरे सज्जन बोले, "हमने तो इन सबसे कह दिया है कि साहब भले ही दूसरों से कुछ कह दें, पर हम तो उन्हें हाथ पकड़ कर लिवा लाएंगे।"

"कार्य-व्यवस्तता तो साहब आपको सदा ही रहेगी।" तीसरे सज्जन बोले "पर एक दिन का समय तो आपको निकालना ही पड़ेगा। शहर के लोगों को तो आपका व्याख्यान सदा ही सुनने को मिल जाता है। एक दिन यदि वे नहीं भी सुनेंगे, तो भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। गांव के लोगों के लिए इतना कष्ट तो आपको झेलना ही चाहिए—"

"यह सब ठीक है।" मैंने मुंह बनाते हुए कहा, "पर इस महीने तो बम्बई से बाहर जाने का मुझे तनिक भी अवकाश नहीं है। अब बताइए, मैं क्या कर सकता हूं ?"

"आपने तो यह कहकर हमारी कमर ही तोड़ दी।" अपने ग्रामीण साथियों की ओर देखते हुए गणपतराव बोले। सबने उनका समर्थन करते हुए कमर टूटने का अभिनय किया "इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम अपना मुंह भी गांववालों को नहीं दिखा सकते। गांव में पैर रखते ही लोग हमारा मुंह तोड़ देंगे।"

"भगवान के लिए ऐसा न करें, साहब।" दूसरा एक व्यक्ति पैरों पड़ने का अभिनय करता हुआ बोला, "हम एक दिन से अधिक आपका समय नहीं लेंगे। आप रविवार की रात को दस बजे यहां से चलिएगा, सोमवार को प्रातः दस तक आप हमारे गांव पहुंच जाएंगे। खाना खाने के बाद दो घंटे आराम कीजिएगा। संध्या को आपका व्याख्यान होते ही हम साढ़े सात की घाड़ी में आपको बिठा देंगे और इस प्रकार मंगलवार को आप प्रातः सात बजे लौट आएंगे।"

"यदि आप कहें, तो स्पेशल मोटर से आपको ले जाने की व्यवस्था भी हम कर सकते हैं।" तीसरे सज्जन ने सुझाव दिया।

"विमान की सुविधा होती, तो हम आपको विमान द्वारा ले जाते।" चौथा हँसते हुए बोला और सबने ज़ोर से हंसकर उसका समर्थन किया।

"कुछ भी हो, आपको हम ले जाएंगे अवश्य।" समय पर आते ही गणपतराव ने अपनी जांघ पर ज़ोर से थाप मारी।

इतने में द्वार की घंटी ज़ोर से बजी। और दो सज्जनों को लेकर नौकर अन्दर आया।

बैठक में बैठे हुए व्यक्तियों की ओर उदासीन होने का यह सुन्दर अवसर है, इस भावना से मैंने आगन्तुक व्यक्तियों में से एक को आंख से इशारा करते हुए पूछा, "क्या है, कैसे आए ?"

"अब की बार गणपति-उत्सव में आपका कार्यक्रम हो, ऐसी हमारी चाल के सब व्यक्तियों की इच्छा है।" वह कहने लगा।

उसे बीच में ही रोकते हुए मैंने कहा, "अरे। गणपति-उत्सव के अभी बहुत दिन हैं। देखा जाएगा। किसी दिन मुझसे कार्यालय में मिल लेना अथवा पत्र डाल देना।"

इस पर वह सज्जन चुपचाप नमस्कार कर चले गए। पर उसके साथ आया हुआ दूसरा व्यक्ति वहीं का वहीं रुक गया। मैंने आश्चर्य से पूछा, "कहिए, आपका क्या काम है ?"

तब वह व्यक्ति आधे आंत निपोरते हुए बोला, "परसों, मैं आपके लिए एक पत्र छोड़ गया था। आपने पढ़ लिया होगा। आज हमारे क्लब में नाटक है। आप उसके अध्यक्ष हैं, यही याद दिलाने के लिए आया हूं।"

"आपके क्लब के नाटक का मैं अध्यक्ष हूं ?" चक्कर-सा आने के कारण आंखें भीचता हुआ मैं बोला, "मुझे तो पता तक नहीं है।"

"आपका उत्तर नहीं आया, अतः हमने समझ लिया कि आपने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली है।" उन सज्जन ने बड़ी सरलता से चाल चली।

"देखिए महाशय, न मुझे आपके क्लब का पता है और न नाटक का" मैं चिढ़कर बोला, "इसके अतिरिक्त आज रात को मुझे अवकाश भी नहीं है।"

"पर आपके न आने से लोगों को बड़ी निराशा होगी।" वह व्यक्ति बीच ही में ढिठाई से बोला।

"होने दो लोगों की निराशा—"मैं पीछे न हटता हुआ बोला, "यह आवश्यक थोड़े ही है कि लोगों की सदा प्रत्येक आशा पूर्ण ही हो।"

"पांच मिनिट को भी आप आजाएंगे, तो हमारा काम चल जाएगा।" उन महाशय ने अन्तिम तुर्प चलाई।

उनसे अधिक तर्क करने में कोई लाभ नहीं, यह सोचकर मैं बोला, "ठीक है। नाटक के मध्यावकाश में थोड़ी देर के लिए चला आऊंगा।"

वह सज्जन प्रसन्न होकर चले गए। मैं सामने देखने लगा।

दो संकट तो मैंने किसी न किसी तरह टाल दिए, परन्तु कालभैरव के उत्सव का जो संकट पहले से ही मुझे घेरे हुए था, वह नहीं टल रहा था। वह तो गले की फांसी ही हो गया था।

"फिर हमारे विषय में आपने क्या निश्चय किया ?" गणपतराव ने अपना तगादा पुनः आरम्भ कर दिया।

"अरे, इन्हें निश्चय क्या करना है ? निश्चय तो आपको ही करना है।" एक बम्बई वाले ने मेरी ओर से उत्तर दे डाला।

"साहब को ले जाने के लिए रविवार को किसी आदमी को भेज देना और उन्हें ले जाना।" दूसरे बम्बई वाले ने उसका साथ दिया।

"चलो, उठो।" तीसरा बम्बई वाला और भी आगे बढ़कर बोला, "साहब

को हजार काम हैं, व्यर्थ माथापच्ची के लिए उनके पास समय नहीं है। अब उनका अधिक समय नष्ट क्यों करते हो—"

इस पर सब एक साथ उठ खड़े हुए।

गणपतराव बोले, "अच्छा तो हम आज सांयकाल को चले जाएंगे और इस किशू को यहीं रहने देते हैं, आपको लिवा जाने के लिए।"

"तुम लोग निश्चिन्त होकर जाओ। मैं साहब को ज़रूर ले आऊंगा।" स्वयं-सेवक जैसी खादी की मटमैली पौशाक पहने, पिचके गालों वाला किशू बड़े उत्साह के साथ बोला।

इस प्रकार मेरे निकलने का कोई रास्ता उन्होंने नहीं छोड़ा। बैठक से जाते-जाते उनमें से एक व्यक्ति कुछ याद आ जाने की मुद्रा बनाते हुए पीछे मुड़कर बोला, "और हां साहब, हमारे गांव के बालकों ने बंगाल-फंड के लिए आपके एक नाटक का अभिनय करने का निश्चय किया है।"

"अरे, तो उसकी अनुमति मांगने की भी कोई आवश्यकता है?" बम्बई वाले ने बोलने का वह अवसर भी हाथ से न जाने दिया।

"साहब ने अपने नाटकों के अभिनय की अनुमति संसार-भर के बच्चों को दे रखी है—"

उसकी ओर ध्यान न देता हुआ मैं शान्तिपूर्वक बोला, "अनुमति के लिए आपको पच्चीस रुपये देने होंगे—"

"पर बंगाल-फंड के लिए नाटक खेल रहे हैं, साहब।" पहिला व्यक्ति बोला।

"बंगाल-फंड की मैंने पहले ही सहायता कर दी है। आपको करनी है, तो खुशी से करिए, उसके लिए मेरी जेब पुनः क्यों काटते हैं?" मैं कुछ चिढ़कर बोला।

इतने में आगे चले गए गणपतराव पुनः पीछे लौट आए और बोले, "ऐसा करिए साहब, इस बार आप हमें निःशुल्क अनुमति दे दें, यदि फिर कभी हम आपका नाटक खेलेंगे तो पच्चीस क्या, पचास रुपये आपको भेंट में दे देंगे।"

"हां, साहब।" शेष सभी ग्रामीणों ने 'कोरस' में उसकी बात का समर्थन किया।

"अच्छा, तुम कहते हो तो—"

होठों ही होठों में बुदबुदाया। कालभैरव वाले बड़े खुश होकर मुझे नमस्कार कर चले गए।

'टाइम्स' का पढ़ना ज्यों का त्यों रह गया। साप्ताहिक लेख लिखने का मैंने उस दिन निश्चय किया था, पर प्रातःकाल का सारा समय इस प्रकार नष्ट हो गया। 'जनता' को मन ही मन गाली देता हुआ मैं अपने विचारों के सूत्र एकत्र

नम्बरदार की गाड़ी जोतकर स्टेशन से निकलते-निकलते आठ बज गए। गाड़ी में सिरकी न थी। अतः चार व्यक्ति किसी तरह भीतर बैठ गए। नीचे से लगातार गाड़ी के धचके खाते तथा ऊपर से धूप सहते हुए हम लोग लगभग ग्यारह बजे किसी तरह गांव पहुँचे।

सुबह से पेट में एक दाना भी न पड़ा था और उस पर धूप की मार। अतः मैं अत्यन्त अस्वस्थ हो रहा था। गांव के बाहर एक पीपल का चबूतरा था। उस पर दस-बीस व्यक्ति सिर पर दुपट्टा ओढ़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनमें मैंने तुरन्त गणपतराव तथा उनके कई साथियों को जो मुझसे मिलने बम्बई गए थे, पहिचान लिया।

"यात्रा तो सुख से हो गई न ?" मुस्कराटह से मेरा स्वागत करते हुए गणपतराव बोले, "आइए, आइए, भाउसाहब। ऐसे पीछे क्यों रह गए ?"

अपने सड़े दांतों को निपोरते हुए एक सफेद बालों वाले नाटे और काले सज्जन हाथ जोड़ते हुए आगे आए। मैं तुरन्त पहचान गया कि मुझे पत्र लिखने वाले रामभाऊ कुलकर्णी वकील वही हैं।

"कहिए, अब तो आप हमारे रामभाऊ को पहिचान गए होंगे ?" गणपतराव ने पूछा। पर मेरे उत्तर देने से पूर्व ही रामभाऊ ने एकदम स्पष्टीकरण किया, "मेरा इस सम्बन्ध में कुछ भ्रम हो गया था। यह नहीं, अपितु इनके बड़े भाई मेरे सहपाठी थे।"

"मेरे बड़े भाई हैं ही नहीं—मैं ही सबसे बड़ा हूं।" मैं शान्त स्वर में बोला।

पर इससे रामभाऊ तनिक भी नहीं घबराए। "अच्छा, अच्छा तो वह तुम्हारे बड़े भाई नहीं हैं। हम तो उन्हें आपका बड़ा भाई ही समझते थे।" प्रसंग को संभालने हुए रामभाऊ ने सरल भाव से लीपापोती कर दी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे रहने की व्यवस्था रामभाऊ के यहां की गई थी। एक छोटे अंधेरे कूचे में एक टूटे-फूटे खंडहर के पास रामभाऊ का घर था। ज्योंही मैं रामभाऊ के घर में घुसा, भिन्न-भिन्न उम्र तथा भिन्न-भिन्न ऊंचाई के सात आठ बच्चों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। "अरे ये वही हैं।" गम्भीर मुद्रा तथा अर्थपूर्ण दृष्टि से रामभाऊ प्रत्येक को बता रहे थे। मेरे आने से पूर्व रामभाऊ ने मेरी क्या बुराई की है, इसका ज्ञान मुझे किसी के चेहरे से भी न हो सका।

आठ वर्ष से कम के बच्चे मेरी ओर ऐसी आतंकपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे जैसे मैं कोई 'हौआ' हूं और बारह वर्ष से अधिक उम्र के बच्चे सर्कस के कटघरे में बंद बाघ को जिस आदर से साथ देखते हैं, उसी आदर-भाव से मेरी ओर देख रहे थे।

"चिमे, तेरी पहिली पुस्तक इन्होंने ही लिखी है।" रामभाऊ अपनी सात-आठ

वर्ष की चिमी नामक कन्यारत्न से बोले। चिमी अपनी कमीज़ का छोर चबाती हुई मेरी ओर आश्चर्य से देखने लगी मानों 'पहली पुस्तक' 'ज्ञानेश्वरी' अथवा 'भगवद्गीता' ही हो ।

प्रातः से न तो मैं शौच को ही गया था और न मैंने मुंह ही धोया था। अतः शरीर के अन्दर से भपकारे उठ-उठ कर मेरे मस्तिष्क को संतप्त कर रहे थे जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ।

कान के चारों ओर अंगुली घुमाते हुए तथा अत्यन्त दयनीय मुद्रा बनाकर अन्त में मैं रामभाऊ से बोला, "ज़रा मुझे—वहां जाना है।"

रामभाऊ एक लड़के को पुकारते हुए बोले, "संघा, अरे अन्दर से लोटे में पानी भर ला।" और उसके बाद विश्वामित्र की तरह हाथ ऊंचा कर अनुनासिक स्वर में वह धीरे से बोले, "उधर के मैदान में चले जाइये। बड़ी खुली जगह है, कहीं भी बैठ जाइये।"

हाथ में लोटा लेकर मैं मैदान की ओर जाने लगा तभी रामभाऊ के दो-चार बच्चे मेरे पीछे आ लगे। आंखें तरेरकर जब मैंने उनकी ओर देखा, तब जाकर कहीं उन्होंने मेरा पिंड छोड़ा।

एक गिरी दीवार की ओट में जगह ढूंढ़कर मैं बैठ गया, तभी दूसरी ओर से एक हाथ लम्बा कन्नी अंगुली के बराबर मोटा सांप सर्र से कोने के एक बिल में घुस गया। उस समय मेरे होशहवाश ऐसे गुम हो गए कि फिर कैसा शौच और कैसा क्या ?

वहां से निबटकर लौटने पर रामभाऊ के एक लड़के ने "स्नान के लिए पानी रखा है" रेंट ऊपर चढ़ाते हुए फर्माया। मैं जांघिया पहनने वाला ठहरा, मेरे पास धोती न थी। अतः रामभाऊ की एक पुरानी धोती पहनकर मैंने खुले आंगन में ही एक बाल्टी गर्म पानी से स्नान किया।

रामभाऊ की उस पुरानी धोती में जगह-जगह अमियों के काले और तांबे के रंग के दाग पड़े हुए थे और डिकामाली (औषधि) की ऐसी उग्र गंध आ रही थी कि बस पूछो मत। मैं स्नान अच्छी तरह करता हूं या नहीं, मानो यह देखने के लिए रामभाऊ के बच्चों की पल्टन मेरे सामने खड़ी थी। और 'वहां सूखा रह गया'···'वहां पानी नहीं पड़ा' ऐसे उद्गार वे लोग बीच-बीच में अंगुलियों के संकेत से व्यक्त करते रहे।

स्नान समाप्त होते ही गणपतराव और उनके साथी मुझे बुलाने के लिए आ पहुंचे।

"वाचनालय और व्यायामशाला का समारोह अभी पूरा कर डालिए।" गणपतराव बोले, "जिससे दोपहर में आपको कष्ट न हो।"

कालभैरव निःशुल्क वाचनालय का उद्घाटन-समारोह गांव के सरकारी

कार्यालय में होना था। उत्सव के समय गांव के दस-बीस प्रौढ़ व्यक्ति और मराठी-पाठशाला के बीस-पच्चीस बच्चे उपस्थित थे। गणपतराव उस वाचनालय के मंत्री थे।

"आज के अध्यक्ष का परिचय कराना ऐसा ही है जैसा सूर्य का परिचय कराने के लिए जुगनू का प्रस्तुत होना।" गणपतराव ने अपने प्रस्ताविक भाषण में कहा, "उनका भाषण सुनते-सुनते आपके पेट हँसी के मारे दुखे बिना नहीं रहेंगे।"

इस पर मराठी पाठशाला के सभी बच्चों ने अपने पेट पकड़ लिए और होठ भींचकर—"देखें ये हमारे पेट में हँसी के मारे कैसे बल डालते हैं," ऐसी चुनौती की मुद्रा में मेरी ओर देखा।

"इन्होंने इस वाचनालय की सक्रिय सहायता करना स्वीकार किया है।" गणपतराव ने भाषण के अन्त में रौब के साथ सूचना दी।

श्रोताओं का बुद्धि-विकास और उनके मुख पर का तेज देखकर मैंने अपना भाषण पांच-दस मिनिट में ही समाप्त कर दिया और जेब से एक दस रुपये का नोट निकालकर तालियों की गड़गड़ाहट के बीच उसे गणपतराव को सौंप दिया। इस पर गणपतराव और अधिक उत्तेजित हो, एकदम उठकर बोलने लगे, "अध्यक्ष महोदय ने स्वीकार किया है कि वह अपना साप्ताहिक पत्र बिना मूल्य लिए हमारे पुस्तकालय को पांच वर्ष तक भेजते रहेंगे।" श्रोताओं ने जब पुनः तालियों की गड़गड़ाहट की, तो मुझे गणपतराव की घोषणा का समर्थन करना ही पड़ा।

व्यायामशाला की नींव रखने का समारंभ पास ही में होने को था। अतः वाचनालय का समारंभ समाप्त होते ही हम सब सामान तथा श्रोताओं के साथ उस स्थान पर चले गए। वह समारोह व्यायाम से सम्बन्धित है, यह सूचित करने के लिए लाल लंगोट पहने, फूले हुए गालोंवाला तथा लम्बे डीलडौल का एक पहलवान वहां पहिले से ही ला बिठाया गया था।

मैंने गणपतराव से पूछा, "क्यों, यहां न तो नींव खुदी है और न व्यायामशाला के भवन का पत्थर ही दिखाई देता है।"

गणपतराव मुस्कराते हुए बोले, "वह सब हम बाद में कर लेंगे। आज तो आप अपने भाषण में केवल यह घोषणा कर दीजिए कि इस स्थान पर भविष्य में शिलान्यास होगा।"

वाचनालय के समारोह में जो भाषण गणपतराव ने दिया था, उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने व्यायामशाला के समारोह में की तथा यह दृढ़ आशा व्यक्त की कि व्यायामशाला के भवन-निर्माण के लिए अध्यक्ष की ओर से सक्रिय सहायता मिलेगी।

मैंने अपने भाषण में कहा, "मेरा और व्यायाम का अथवा 'व्यायामबाजी' का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई है, तो केवल इतना ही कि बचपन में मेरे घर के

सामने एक व्यायाम-शाला थी। मेरा डीलडौल देखकर कदाचित् आपको भ्रान्ति हो गई है। वस्तुतः किसी भी शिलान्यास का कार्य कांग्रेस सरकार के मंत्रियों द्वारा सम्पन्न होना चाहिए। आप लोगों ने उनका अधिकार छीनकर मुझे यहां बुलाया, यह कोई अच्छा काम नहीं किया। अस्तु, जिस स्थान पर आपको यह सज्जन बैठे हुए दिखाई देते हैं, वहीं व्यायामशाला का पत्थर गड़ा हुआ है, ऐसा आप लोग समझ लें।"

यह सुनकर सभी श्रोताओं ने खुशी से ताली बजाई। मेरी बात का अर्थ न समझते हुए भी वह पहलवान हँसकर तालियां बजाने लगा।

भाषण समाप्त करने से पूर्व मैंने पुनः एक दस रुपये का नोट गणपतराव को दिया। सम्पूर्ण समारोह के समाप्त होने पर ठहरने के स्थान पर जाने के लिए मैं एक ओर चला गया। धूप इतनी कड़ी थी कि मारे गर्मी के तबियत बार-बार घबरा रही थी।

एक फटा हुआ जालीदार पूजावस्त्र पहने हुए रामभाऊ आंगन में मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। "आइए, अब भोजन करके मजे से सो जाइए। पांच बजे तक अब आपको कोई काम नहीं है।" रामभाऊ ने मुझे आश्वासन दिया।

भोजन करते समय रामभाऊ ने अनेक विषयों पर चर्चा की पर मेरा ध्यान उनकी बातों की ओर तनिक भी न था।

"हमारी पत्नी भी कविता करती हैं।" रामभाऊ यकायक बोले। और सीताबाई ने भोजन परोसते-परोसते ही कमर को इस तरह लचकाया कि ऐसा लगा जैसे कहीं दाल की पतीली उनके हाथ से छूटकर गिर न जाय।

एक बड़ी डकार लेते हुए रामभाऊ अपनी पत्नी के सम्बन्ध में बोले, "गांधी-जी के निधन पर इन्होंने जो एक सुन्दर कविता लिखी है, आपको वह सुननी ही चाहिए। गांधी जी की मृत्यु पर हमारे गांव में जो शोकसभा हुई, उसमें इन्होंने वह कविता स्वयं सुनाई थी, और क्या बताऊं साहब—" रामभाऊ बड़े कौतुक एवं चाव से उसके सम्बन्ध में बताने लगे, "सारी सभा धाढ़ मारकर रोने लगी थी।"

"सम्भव है।" कहकर मैंने ज्योंही आमटी का घूंट पीया कि बस उसमें पड़ी लाल मिर्च लगने के कारण मेरी आंखों में पानी आ गया। इसका रामभाऊ पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। पूजा-वस्त्र के छोर से अपनी आंखें पोंछते हुए वे बोले, "कुछ भी कहो, पर गांधी वस्तुतः एक महान् पुरुष थे।"

रामभाऊ ने जिस प्रकार गांधी जी को यह सर्टिफिकेट दिया था, उससे मुझे विश्वास हो गया कि वस्तुतः गांधी कोई महान पुरुष था।

भोजन के बाद ज्योंही मैं बिस्तर बिछाकर लेटा कि रामभाऊ की बाल-सेना ने मुझे पुनः चारों ओर से घेर लिया और सभी ने या तो अपनी शाला की कापियों

पर अथवा कागज के टुकड़ों पर मेरे हस्ताक्षर ले लिए। बंडू ने अपनी कक्षा की कापी पर मेरा संदेश लिखवाया, तो सदू ने मांग की कि मैं गणपति-समारोह पर एक विनोदपूर्ण संवाद लिख दूं। यमी ने कक्षा में दिए हुए निबन्ध 'मेरी रुचि की पुस्तकें' विषय पर सामग्री प्राप्त की, तो महादू ने उस सप्ताह लोकसत्ता में प्रकाशित पहेलियों के हल मुझसे पूछे।

यह सब होते-होते पांच बज गए। व्याख्यान के लिए बुलाने को किशू तथा उसके चार-पांच स्वयंसेवक आ पहुंचे। कपड़े पहनकर मैं, रामभाऊ, सौभाग्यवती, सीताबाई और मार्ग में मिलने वाले दस-बीस व्यक्ति पैदल चलकर काल-भैरव के मन्दिर में पहुंचे।

मन्दिर के सामने खुले आंगन में दो-चार हज़ार लोगों की भीड़ थी। भिन्न-भिन्न प्रकार की दूकानों के तम्बू अव्यवस्थित पड़े थे। दो-तीन झूले कर्कश आवाज़ करते हुए फिर रहे थे और उनके पालनों में बैठे लोग जोर-जोर से चिल्ला रहे थे। एक ओर को एक संगीत-मंडली ने अड्डा जमा रखा था, तो दूसरी ओर एक दाढ़ी वाले बाबाजी एकतारे पर भजन गा रहे थे।

सारे आंगन में इतना शोर-गुल, गड़बड़ और चिल्लपुकार मची हुई थी कि उसे देखकर मेरी तो कमर ही टूट गई। मुझे लगा कहां से मैं इस झंझट में फंस गया।

"आपका व्याख्यान प्रारम्भ होते ही सब शान्त हो जाएंगे।" मेरी मुद्रा से मेरे मन के विचारों का अनुमान लगाते हुए रामभाऊ बोले।

एक मकान के पेड़ के नीचे लकड़ी की चौकी की व्यासपीठ बनाई गई थी। सौ-दो-सौ व्यक्ति उसके चारों ओर घेरा बनाए बैठे थे।

मैं गणपतराव को तनिक डांटते हुए स्वर में बोला, "तुम तो कहते थे कि व्याख्यान में दस-बीस हज़ार की भीड़ होगी···"

"प्रति वर्ष होती ही है। इन सबसे पूछ देखिये, क्यों न ग्यानबा ?" अपने निकटवर्ती एक व्यक्ति की बांह हिलाते हुए गणपतराव बोला, "पता नहीं अब की बार क्या हो गया, रुपये में दो आने भी भीड़ नहीं है।"

"अरे, लार का रोग हो गया है न जानवरों को!" ग्यानबा ने भीड़ की कमी के कारण पर अपनी बुद्धि के अनुसार प्रकाश डाला।

"किशू, अरे जा, एक बार और डौंडी पिटवा दे कि अब व्याख्यान प्रारम्भ होने वाला है।" गणपतराव किशू पर बरस पड़े।

इस पर—"देखता क्या है ? जा न !" किशू स्वयंसेवक को डांटने लगा। परन्तु न तो वह ही अपनी जगह से हिला और न उसके स्वयंसेवक ही।

होते-होते घंटे डेढ़ घंटे में सौ-डेढ़-सौ आदमी एकत्र हुए और तब सभा का कार्य आरम्भ हुआ। पहले कुश्ती, लेजिम लट्टू लगी लाठियों का खेल हुआ और उसके बाद मैं भाषण देने खड़ा हुआ। तब तक सात बज चुके थे, चारों ओर

अंधेरा छा गया था और आसपास का शोरगुल अपनी चरम सीमा को पहुंच चुका था।

आज तक मैंने तरह-तरह की सभाओं में भाषण दिये थे, पर उस दिन की सभा देखकर तो मेरी दांती ही भिच गई। मैं बोलना शुरू ही करने वाला था कि पास बैठे रामभाऊ धीरे से बोले, "आज मज़ा आ जाना चाहिए।"

रामभाऊ की खोपड़ी पर एक थप्पड़ रसीद करूं, मेरी इच्छा हुई और एक घंटे तक जो मेरे मन में आया, बकता रहा। मैं क्या बोला, मुझे स्वयं पता नहीं था और न श्रोताओं ने उसे समझा था। फिर भी बीच-बीच में तालियां बजती रहीं।

चारों ओर की धूल मेरे मुंह और नाक में घुस रही थी। अतः बीच-बीच में मुझे जोर की खांसी आती। उसी को 'विनोद' समझकर कुछ श्रोता जोर-जोर से हंसते। व्याख्यान समाप्त कर अपने को तथा श्रोताओं को गाली देता हुआ जब मैं बैठा, तो साढ़े आठ बज चुके थे।

रामभाऊ से मैंने कहा, "अब मुझे भोजन की आवश्यकता नहीं है, मुझे सीधा स्टेशन पहुंचवा दो।" जैसे उसे उस सम्बन्ध में कुछ पता ही न हो, ऐसा चेहरा बनाते हुए वह बोला, "क्या, अभी आपको जाना है? मैं तो सोचता था कि इतनी दूर आने पर आप कम-से-कम दो तीन दिन तो रहेंगे ही। हमारे यहां से चार-पांच मील पर पाण्डवों की कन्दराएं हैं, वस्तुतः देखने योग्य हैं…"

"पाण्डव-कन्दराएं गईं भाड़ में।" मन ही मन बड़बड़ाते हुए मैंने गणपतराव से कहा, "गणपतराव कुछ भी हो, आज मुझे बम्बई वापिस लौटना है।"

"पर बम्बई जाने के लिए गाड़ी कौन-सी मिलेगी अब?"—रामभाऊ शांत स्वर में बोले।

"क्या मतलब? बम्बई जाने वाली गाड़ी ही कोई नहीं अब…" मैंने घबराकर प्रश्न किया।

"नौ की गाड़ी तो अब मिलने से रही।" गणपतराव बोले, "अपन को पहले ही चल देना चाहिए था, पर आपका व्याख्यान जोरों पर था। अतः आपको बीच में नहीं टोका।"…"कल प्रातः आठ बजे का पैसेंजर आपको अवश्य मिल जाएगा।" रामभाऊ मुझे आश्वासन देते हुए बोले," और तब तक दूसरी गाड़ी ही कौन-सी है?"

हो गया बेड़ा गर्क। अब फिर रामभाऊ के यहां जाओ और रात-भर बच्चों की कचरपचर में रहो, इस विचार से मैं कांप उठा। रामभाऊ की फटी धोती की डिकेमाल की गंध का स्मरण होते ही मुझे उल्टी-सी आने लगी। भाग्य को दोष देता हुआ मैं चुपचाप रामभाऊ के साथ चल पड़ा।

रात को खाना खाने के बाद श्रीमती सीताबाई ने मुझे घेर लिया। असहका-

रिता आन्दोलन से स्वातंत्र्य-प्राप्ति तक के सभी राजनीतिक आन्दोलनों पर लिखी हुई अपनी कविताएं उन्होंने मुझे गा-गाकर और रो-रोकर सुनाईं।

अंत में गांधी जी के निधन पर लिखी कविता पढ़नी आरम्भ की। पहिली पंक्ति पढ़ते ही वह सिसकियां भरकर जोर-जोर से रोने लगी। रामभाऊ तो गला फाड़कर ही रोने लगे। आसपास चटाई पर आधे सोए हुए बच्चे भी जाग कर चीखने लगे। ऐसी परिस्थिति में मेरा रुदन न करते हुए चुपचाप बैठे रहना हास्यास्पद होगा, यह समझ कर मैं भी रूमाल से आंखें पोंछता हुआ रोने का अभिनय करने लगा।

गांधी जी पर सीताबाई का कविता-पाठ समाप्त होते-होते सामूहिक रुदन का स्वर इतना तीव्र हो उठा था कि अड़ौस-पड़ौस के लोग यह समझ कर कि कोई अनिष्ट घटना घट गई है, दौड़ते हुए आए और वे भी उस सामूहिक रुदन के कार्यक्रम में सम्मिलित हो गए। सीताबाई का वह 'काव्य-रुदन' लगभग रात के दो बजे समाप्त हुआ।

प्रातः छः बजे गणपतराव गाड़ी लेकर आने वाले थे, पर बैलगाड़ी की आवाज़ के स्थान पर मोटर का भोंपू सुनाई दिया। मैं समझा रामलाल की गाड़ी का पंक्चर ठीक हो गया है और इसलिए झटपट उठा। तभी गणपतराव द्वार से ही मेरा नाम लेकर भीतर आया, "ये दुनाखे मास्टर आपसे मिलने आए हैं!"

"यह नई बला कहां से आ गई!" आंखें मलते-मलते मैं देखने लगा। उस गांव से पन्द्रह मील पर दूसरे किसी गांव के ए० वी० स्कूल के दुनाखे हेडमास्टर थे। गणपतराव ने उनसे मेरा परिचय कराया। दुनाखे हँसते हुए बोले, "मैं आपकी एस० टी० सी० क्लास में पढ़ता था, मैंने बम्बई के पते से आपको एक पत्र भी डाला था, आपको कदाचित् मिला नहीं।"

मैं बोला, "नहीं भाई, क्यों क्या बात है?"

दुनाखे बोले, "आज हमारे स्कूल का समारोह है और मैंने आपके अध्यक्ष होने की घोषणा कर दी है।"

"पर मुझे तो इसी गाड़ी से जाना है, दुनाखे। वस्तुतः जाना तो कल रात ही था···" बिल्कुल रोनी आवाज़ में मैं कहने लगा।

"कुछ भी हो, आपको हमारे समारंभ में तो आज चलना ही पड़ेगा, साहब।" दुनाखे भी उतनी ही रोनी आवाज़ में विनय करने लगा, "आप नहीं चलेंगे, तो मेरी इज़्ज़त चली जाएगी। आपके विषय में पहले से ही लोगों में यह धारणा बन गई है कि आप निमंत्रण तो स्वीकार कर लेते हैं, पर ऐन मौके पर आते नहीं हैं। यदि आप नहीं चलेंगे, तो यह मिथ्या धारणा और भी बढ़ जाएगी। हमारी सोसायटी के प्रेसिडेंट ने छाती पर हाथ मारकर घोषणा की है कि आप नहीं आएंगे और मैंने जोश में आकर उनसे दस रुपये की शर्त लगाई है कि कुछ भी हो

मैं आपको लाकर ही छोड़ूंगा।"

"तुम्हारा मतलब यही तो है कि यदि मैं नहीं गया, तो तुम्हें दस रुपये का नुकसान होगा···" जेब से दस रुपये का नोट निकालते हुए मैंने कहा।

"इतने ही से नहीं बीतेगी। कदाचित् मुझे नौकरी से भी हाथ धोना पड़े।" दुनाखे आंखों में आंसू भरते हुए बोला।

पिछली रात मैं आंसुओं की बाढ़ में डूबते-डूबते बचा था। अतः पुनः आंसुओं को देखते ही मैंने तुरन्त दुनाखे की बात मान ली, "ठीक है, यदि ऐसी ही बात है, तो चला चलूंगा।"

"आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने देंगे। इसीलिए मोटर ले आया हूं। समारोह समाप्त होते ही शाम की गाड़ी के लिए आपको स्टेशन पहुंचा देंगे।" दुनाखे बोले। उनकी आंखों के आंसू कभी के ओझल हो चुके थे और उनके मन की कली एकदम खिल उठी थी।

"अच्छा साहब, मैं चलता हूं।" गणपतराव ने हाथ जोड़े, "अब आप मास्टर-साहब की देख-रेख में हैं। हमारी जवाबदारी समाप्त हुई। ऐसी ही कृपा बनाए रहिए। फिर कभी बुलावें, तो अवश्य दर्शन दीजिए।"

मेरे आने-जाने के खर्च का क्या रहा, यह पूछने के पूर्व ही गणपतराव गायब हो चुके थे।

रामभाऊ के घर में जैसे पहिला दिन बीता था, वैसे ही दूसरा दिन दुनाखे मास्टर के यहां कटा। बस अन्तर इतना था कि न तो उसकी धोती में से डिके-माली की दुर्गन्ध आती थी और न उसकी पत्नी कविता ही करती थी। अब मैंने यह विचार ही छोड़ दिया था कि मैं बम्बई कब पहुंचता हूं।

दुनाखे मास्टर की शाला का समारोह समाप्त होने पर उस संस्था के प्रेसिडेंट, जिन्होंने मेरे न आने की शर्त लगाई थी, के 'जटाशंकर टाकीज' का उद्घाटन भी अगले दिन रात को करना पड़ा। "इतनी दूर आने पर हम आप को यों ही थोड़े ही छोड़ देंगे," जटाशंकर मेरे गले में प्रेम से हाथ डालते हुए बोले। फिर, भला मैं कैसे अस्वीकार कर देता!

बुधवार की रात को सिनेमा-गृह का उद्घाटन कर, गुरुवार की दोपहर को सेठ जी की ठाठदार दावत खाई। संध्या समय उनकी कार मुझे स्टेशन पर छोड़ गई। सेठ जी आवश्यक कार्यवश मुझे स्टेशन पर छोड़ने नहीं आ सके और दुखाने मास्टर तो पहिले दिन से ही गायब थे।

बम्बई पहुंचने के लिए मेरी जेब में अब केवल तीसरी श्रेणी का टिकट खरीदने के लिए पैसे रह गए थे। बृहस्पतिवार की रात को मुझे किसी गाड़ी में जगह नहीं मिली। जो भी गाड़ी आती, भरी आती। सारी रात ठंड से ठिठुरते हुए काटी। गला बैठ गया था, आंखें दुख रही थीं, अंग-अंग में दुखन थी, ऐसी दशा

में शुक्रवार की रात को लगभग साढ़े दस बजे दादर स्टेशन पर पहुंचा।

बाहर न कोई टैक्सी थी और न विक्टोरिया-गाड़ी। कुली के सिर पर सामान लदवाकर घिसटते-घिसटते मैं आध-पौन घंटे में घर पहुंचा। रास्ते भर मैंने गणपतराव, रामभाऊ, सीताबाई, दुनाखे मास्टर, जटाशंकर···इन सब को मन-ही-मन कैसी-कैसी गालियां दीं, मुझे याद नहीं।

घर पहुंचते ही ज्योंही मैं कोच पर लेटा कि टेलीफोन की घंटी बज उठी। रात को ग्यारह बजे टेलीफोन करने वाले यह महाशय कौन हैं, चिढ़कर मैंने टेलीफोन उठाया और कड़े स्वर में पूछा "कौन है ?"

तभी मेरी आवाज़ पहचानकर दूसरी ओर से कोई महाशय बोले, "साहब हैं, क्या ? उनका व्याख्यान होने वाला था, पर वह ऐन वक्त पर नहीं आए हैं। अतः लोगों का आग्रह है कि आप आएं। अधिक नहीं, आध घंटे को भी आप आ जाएंगे, तो काम चल जायेगा। सब लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं।"

मेरे उत्तर देने से पूर्व ही "मैं गाड़ी लेकर अभी आया" कहकर उस व्यक्ति ने टेलीफोन बंद कर दिया।

मेरे नेत्रों के सामने अंधेरा छा गया।

"तुम बिन कौन सहारा प्रभुजी।" पड़ोस में रेडियो पर कोई आर्त स्वर में ध्रुवपद राग में गा रहा था।

वशीकरण विद्या

द० तु० बांदेकर

दत्तात्रेय तुकाराम बांदेकर ने साहित्य की अनेक विधाओं—लघुकथा, कविता, रहस्यकथा, उपन्यास, नाटक, विनोद-लेख आदि पर लेखनी चलाकर यश प्राप्त किया है। १४ प्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त उनका बहुत-सा साहित्य मासिक पत्र-पत्रिकाओं में लिखा गया है। महाराष्ट्र जगत् में उनकी प्रसिद्धि का कारण था—'सरव्याहरी' नामक लेख-माला, जिसमें उन्होंने पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका तथा आपस में झगड़ा-टंटा करनेवालों के दैनिक जीवन का विनोदपूर्ण चित्रण किया और जिसकी ओर समाज के सभी वर्ग के लोग आकृष्ट हुए। श्री अनन्त काणेकर ने उन्हें 'Peoples humourist' कहा है। जो स्थान 'शंकर्स वीकली' में शंकर के व्यंग्य-चित्रों का है, वही मराठी साहित्य में बांदेकर के स्फुट लेखों का है। उनके विनोद की दो विशेषताएं हैं—एक तो यह कि वह किसी का मज़ाक उड़ाने की अपेक्षा निर्मल हास्य पर अधिक बल देते हैं और ऐसा हास्य उत्पन्न करते हैं, जिसमें हास्य का पात्र भी हँस सके। दूसरे, उनके विनोद के गर्भ में करुणा की अन्तर्धारा भी प्रवाहित होती रहती है, जिसके कारण आचार्य अत्रे ने उन्हें 'कारुण्याचा विनोदी शाहीर' कहा है।

चाय का प्याला मुंह से लगाते-लगाते मुकुन्दराव की दृष्टि सामने लटके कलैंडर पर पड़ी—१० मार्च, १९३६। देखते ही उसे धक्का-सा लगा और हाथ का प्याला डगमगा जाने के कारण चाय की दो-चार बूंदें उसकी कमीज़ पर गिर पड़ीं।

'आज मैं ४२ वर्ष का हो गया और यह सम्पूर्ण जीवन एक महान् अभाव के कारण व्यर्थ हो गया,' यह भाव रह-रहकर उसे कचोटने लगा, '४२ वर्ष का होने पर भी विवाह नहीं हुआ। अब तक अविवाहित रहने के कारण एक अनुपम सांसारिक सुख से वंचित रहता आया, जीवन का सार तारुण्य स्त्री-सहवास के बिना सूना ही बना रह गया,' आदि त्रासदायक विचार उसे कष्ट देने लगे। वह

बार-बार सोचता कि परमात्मा ने उसके भाग्य में स्त्री-सुख क्यों नहीं लिखा।

तुरन्त उठकर वह पार्श्व-स्थित दर्पण के सामने जा खड़ा हुआ। आज दर्पण में उसे अपना चेहरा अत्यन्त रुक्ष और उतरा हुआ दिखाई दिया, क्योंकि वह अपने चेहरे का निरीक्षण इस भावना से आक्रान्त होकर कर रहा था कि वह ४२ वर्ष का हो गया है। पहिले की कोमलता, तेज और ताज़गी आज चेहरे पर नहीं थी। स्त्रियों को मुग्ध करने का कोई आकर्षण अब उसमें शेष नहीं रह गया है और भविष्य में विवाह की आशा करना व्यर्थ है, ये विचार आते ही वह हताश हो गया। अपना सम्पूर्ण जीवन स्त्री-सहवास के बिना रुक्ष तथा आकर्षणहीन हो गया है, यह सोच-सोचकर वह अत्यन्त कातर हो उठा।

निराशा का दीर्घ निश्वास ले मुकुन्दराव ने मुंह पर हाथ फेरा। दाढ़ी के कड़े बाल जब चुभे, तो उसे याद आई कि उसे दाढ़ी बनानी है। मेरा मलीन उदास चेहरा दाढ़ी बनाने से और अधिक उदास दिखाई देता है, यह अनुभूति होते ही उसे अपने ऊपर ग्लानि हो उठी।

दाढ़ी बनाकर अपना चेहरा चिकना और ताज़ा बनाने का उसने विचार किया, पर अगले ही क्षण उसने वह विचार टाल दिया। मस्तक पर सिकुड़न डालते हुए वह मन-ही-मन बड़बड़ाया, "कौन बनाए ससुरी दाढ़ी, कल बना लेंगे, कौन कोई मुझे देखने आएगा!"

पर इतने में ही कुछ स्मरण आते ही वह चौंक पड़ा। मिस चपावती कारंजे ने आज उसे चाय का निमंत्रण दिया था। उन्होंने बड़े आग्रह से उसे बुलाया था और वह भी आने का वचन दे आया था।

चंपावती के निमंत्रण की याद आते ही मुकुन्दराव अधिक चैतन्य हो उठा। चंपावती के साथ उसका चार दिन पूर्व ही नवीन परिचय हुआ था। चंपावती एक सरल स्वभाव की भोली शिक्षिका थी, उसकी उम्र ३५ से भी अधिक थी। देखने में भी वह सुन्दर नहीं थी। उससे परिचय के कारण मुकुन्दराव को कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई थी। परसों जब उसने मुकुन्दराव को चाय का निमंत्रण दिया, तो उसने वह सहज भाव से स्वीकार कर लिया था।

पर आज मुकुन्दराव उस निमंत्रण का कुछ और ही अर्थ लगाने लगा। जीवन के ४२ वर्ष व्यर्थ गए, यह विचार उसे बुरी तरह कचोटने लगा था। अकेलेपन की आग आज उसके सर्वांग को जला रही थी।

स्त्रीसुख से वंचित उसके अभागे शून्य जीवन में चंपावती का निमंत्रण कदाचित् नई चमक ले आये, ऐसी एक आशा उसके मन पर मोहिनी डालने लगी। उसे विश्वास हो गया कि यदि वह तनिक भी चतुराई और बुद्धि से काम ले, तो अब भी घर बसाकर चैन से जीवन बिताने का अवसर मिल सकता है। चंपावती का स्मरण करते हुए उसने अपने नेत्रों में एक सुन्दर स्त्री का चित्र बसा

लिया। कल्पना के उस मधुर संगीत ने उसे रोमांचित कर दिया और उसके नेत्र आनन्दातिरेक से चमकने लगे।

जल्दी-जल्दी उसने दाढ़ी बनाई और मुंह पर स्नो लगाकर अपना मुख चिकना-चुपड़ा बना डाला तथा बालों में पोमेड लगाकर बाल संवारे। उसके बाद 'रेडीमेड' कपड़ों की दूकान पर जाकर एक बढ़िया सूट खरीदा। इस प्रकार बन-ठनकर उसने चंपावती के यहां जाने का निश्चय किया।

चंपावती के यहां जाने की तैयारी करते-करते वह उसके साथ बोलने, व्यवहार करने आदि के सम्बन्ध में मन-ही-मन योजना बनाने लगा। आज तक स्त्रियों के सम्बन्ध में जो कटु अनुभव हुए थे, उनकी पुनरावृत्ति चंपावती के साथ न हो, इसके लिए उसे क्या-क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में वह मन-ही-मन सोचने लगा। जीवन में इतनी स्त्रियों से परिचय और मित्रता होने पर एक भी स्त्री क्यों उसके वश में नहीं हुई, इस पर वह शान्तिपूर्वक विचार करने लगा।

जीवन का एक-एक प्रसंग स्मरण करते हुए उसने विगत बयालीस वर्षों का मन-ही-मन लेखा-जोखा किया। बाईस वर्ष पूर्व कालेज में पढ़ते समय उसका परिचय सरयू नामक लड़की से हुआ था। लड़की स्वभाव की अत्यन्त कोमल एवं मधुर थी। वह भी उस पर मुग्ध था। एक दिन सहज ही उसने प्यार में पूछा, "मैं सुन्दर लगती हूं न?" पर उसने सच बात कह डाली, 'नहीं'। वह बात उसके मन को लग गई—इतना ही नहीं, वह रुष्ट हो गई और धीरे-धीरे मुझसे कतराने लगी। अन्त में तो उसने बोलना ही छोड़ दिया।

—उसके तीन वर्ष बाद उसकी नौकरी लग गई। गिरगांव में बैंकरोड पर वह एक चाल में रहता था। पड़ौस की शशिकला से उसका परिचय हो गया और फिर परिचय बढ़ता गया। उसका रौब भी कम न था। उस समय वह ठाठ के कपड़े पहनकर ऐंठ में घूमा करता था। शशिकला देखने में सुन्दर बड़ी और नखरेबाज थी। एक दिन उसने लजाते-लजाते धीरे से प्रश्न किया, "तुम्हारा वेतन क्या है?" उसने सचाई से उत्तर दिया था, "साठ रुपये।" वेतन की रक़म सुनते ही उसे धक्का-सा लगा। उसने पुनः प्रश्न किया, "तुम झूठ बोलते हो। मैंने तो सुना है कि तुम्हारा वेतन २००) है।" शशिकला का भ्रम दूर करने के लिए उसने उसकी शपथ खाते हुए कहा, "नहीं जी, तुम्हारी सौगंध, मुझे ६०) ही वेतन मिलता है।" उसने शशिकला को सच बात ही बताई थी, पर उसके चेहरे की हवाइयां उड़ने लगीं थीं, वह भौंचक्की रह गई थी। धीरे-धीरे उसने बोलना कम कर दिया और उनका प्रणय-सम्बन्ध शिथिल पड़ गया!

—उसके दो वर्ष बाद ठाकुरद्वारे में प्रति गुरुवार देवदर्शन को आने वाली एक लड़की से निश्चित समय पर प्रतिदिन भेंट होने लगी। वे संयोग से देवदर्शन के लिए एक ही समय पहुंचने लगे। उसे बड़ा कौतूहल हुआ। लड़की अत्यन्त

भावुक और गरीब दिखाई देती थी। देवता की प्रदिक्षणा करते समय नीची गर्दन किए हुए भी वह एक-दो बार चोरी से उसकी ओर तिरछी नज़र से देखना नहीं भूलती थी। एक बार तो उसने प्रसाद के पेड़े तक उसके हाथ पर लाकर रख दिए। लड़की को इतना आगे बढ़ते देख वह चक्कर में पड़ गया। पर मन्दिर में पापाचरण निषिद्ध है, अतः उसने उसके बाद मन्दिर जाना ही छोड़ दिया। तदनन्तर शीघ्र ही उस लड़की की बारात देखने का प्रसंग उसे झेलना पड़ा था।

—उसके एक वर्ष बाद वह अपने गाँव गया। उस समय उसकी आयु छब्बीस वर्ष की हो चुकी थी। गाँव में उसे बाल-मैत्रिणी कुमुद मिली। उसका विवाह अभी तक नहीं हुआ था। अपनी तरह उसे भी अविवाहित देख उसे कुछ संतोष हुआ, पर कुमुद बड़ी लजालू थी, सबके सम्मुख बोलने में सकुचाती थी। एक दिन प्रातः पाँच बजे के लगभग सोते समय ऐसा लगा जैसे कोई गुलगुली कर रहा हो। कमरे में अँधेरा था। उसे लगा बिल्ली बिस्तरे पर लोट लगा रही है। नींद उचटने से उत्पन्न चिड़चिड़ाहट में उसने एक लात मारी तो 'अरी मैय्या' की चीख़ सुनाई दी, वह कुमुद ही की चीख़ थी। आँखें खोलीं तब तक कुमुद भाग चुकी थी। उसके बाद उसने उसे मुंह तक न दिखाया। वह मन मसोसता ही रह गया।

जीवन के इन विगत प्रसंगों का स्मरण करते-करते मुकुन्दराव का मस्तिष्क सुन्न और बधिर हो गया। उसका हृदय चिन्ताक्रान्त हो उठा। विगत दुखद स्मृतियों ने उसके मन को बेचैन कर डाला।

—पर शीघ्र ही चंपावती के निमंत्रण की याद आते ही वह पुनः व्यवस्थित हो उठा। वह अपने शरीर में अभूतपूर्व उन्माद अनुभव करने लगा। व्यर्थ ही बीत गए बयालीस वर्षों का सारा बदला आज वह चुका लेगा, यह दृढ़ निश्चय कर वह सीना ताने बाहर निकल पड़ा।

'टैक्सी' उसने हाथ का संकेत किया और थोड़ी देर ही में वह एक मोटर में विराजमान था।

मुकुन्दराव की मोटर जब मिस चंपावती के द्वार के निकट रुकी, तो चंपावती उसकी प्रतिक्षा करती हुई द्वार पर ही खड़ी थीं। मुकुन्दराव का आज का ठाठ देखकर वह चकित रह गई।

मुस्कराते हुए चंपावती ने उसका स्वागत किया। मुकुन्दराव ने गर्दन हिलाते हुए अंग्रेज़ी पद्धति से अपना हाथ आगे बढ़ाया। चंपावती को वह कुछ अजीब-सा लगा। पर अतिथि के अपमान के भय से उसने भी सकुचाते हुए अपना हाथ आगे कर दिया। उसका हाथ ज़ोर से दबाते हुए मुकुन्दराव बोला—"क्षमा करना, चंपावती बाई, विलायत में पड़ी यह आदत जाती ही नहीं। आप सरीखी कुलीन स्त्री से शेकहैंड करते हुए मुझे न मालूम कैसा लगता है। पर···"

"अरे, मुझे कुछ बुरा नहीं लगता इसमें।" चंपावती आँचल सँभालती हुई

बोली, "आपने क्या कहा ? आप विलायत में थे ?"

"हाँ, आय० सी० एस० की परीक्षा में बैठने वाला था, पर पिताजी के बीमार पड़ जाने के कारण परीक्षा छोड़कर वापिस आना पड़ा। भाग्यवश यहाँ भी सैक्रेटेरियट में साढ़े चार सौ रुपये की नौकरी मिल गई। फिर विलायत क्यों वापिस जाता ?"

"मुझ जैसी दीन के यहाँ आपके चरण कमल पड़े, इसके लिए मैं बड़ी आभारी हूँ।" चंपावती अपनी अँगुली ठोड़ी पर रखकर बोली।

"अरे, इसमें आभार की क्या बात है !" मुकुन्दराव मधुर स्वर में बोलने लगे, "स्त्रियों के सम्बन्ध में गरीब-अमीर का भेद मैं नहीं मानता। वर्ना, आज ताजमहल होटल में आगा खाँ से मिलने का कार्यक्रम था, पर उसकी पर्वाह न कर मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ ?"

"आप बड़े उदार हैं।" कृतज्ञतापूर्ण कटाक्ष मुकुन्दराव की ओर करती हुई चंपावती बोली।

"और आप भी तो कुछ कम नहीं।" मुकुन्दराव अपने स्वर में चीनी घोलते हुए बोला, "चंपावती बाई, आप एक सुसभ्य शिक्षिका हैं, आपकी बात का मेरे लिए बड़ा मूल्य है। आज तक अनेक स्त्रियों से मेरा परिचय हुआ, पर ऐसा सौन्दर्य और ऐसा सौजन्य मैंने कभी नहीं देखा।"

मुकुन्दराव का एक-एक शब्द सुनकर चंपावती हर्ष-विह्वल हो रही थी। इस पर जब मुकुन्दराव ने उसके सौन्दर्य की प्रशंसा की, तब तो वह आनन्द से पागल ही हो उठी।

"सच, क्या मैं वस्तुतः सुन्दर दिखती हूं ?" चंपावती ने उत्सुकतापूर्वक प्रश्न किया।

"झूठ बोलने से तो मुझे सख्त चिढ़ है।" मुकुन्दराव गम्भीर स्वर में बोला, "आप सुन्दर तो हैं ही, पर हँसते समय आपके गालों पर जो एक मधुर गढ़ा पड़ जाता है, वह तो बहुत ही उन्मादक है। यदि मैं चित्रकार अथवा कवि होता, तो सम्पूर्ण जगत के सम्मुख आपके सौन्दर्य को कला के माध्यम से प्रस्तुत करता।"

यह वाक्य बोलते समय मुकुन्दराव का कण्ठ आर्द्र हो उठा। चंपावती को सुन्दर बताते समय उसके प्राणों पर बन आई थी, पर उसका इलाज न था, बयालीस वर्षों में एक कुरूप स्त्री को सुन्दर कहने के लिए आज उसकी जिह्वा प्रथम बार प्रयत्न कर रही थी।

चंपावती को अत्यधिक द्रवित देख मुकुन्दराव उसकी ओर दृष्टि गड़ाकर बोले, "चंपावती बाई, आप रुष्ट तो नहीं होंगी, मेरे पास अधिक समय नहीं है, इस समय। अनेक काम करने हैं। अभी-अभी मुझे पुलिस-स्टेशन पहुँचना है।"

"पुलिस-स्टेशन··· किसलिए ?"

"प्रातः ही मेरी अल्मारी से डेढ़ हज़ार रुपये की हीरे की अँगूठी चोरी चली गई है। घर सँभालने वाला न होने से यही गड़बड़ होती रहती है।"

"फिर आप विवाह क्यों नहीं कर लेते ?"

"अनुरूप लड़की मिले, तभी तो ?" मुकुन्दराव दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए बोले, "हर हिटलर और मैं इसी एक वजह से अभी भी अविवाहित हैं।"

"बहुत बुरी बात है, यह तो···" चंपावती ने सहानुभूति प्रकट की।

"चंपावतीबाई !" मुकुन्दराव कंपित स्वर में बोलने लगा, "ब्रह्मचर्य-पालन का दुख तो तुम्हें पता ही होगा, अतः मैं अधिक क्या कहूँ। तुम भी मेरी तरह दुखी हो। यदि तुम मेरा साथ दे सको, तो दोनों इस दुख से मुक्त हो सकेंगे।"

"सच !" चंपावती के नेत्रों में आशा की किरण चमक उठी और वह नव-वधू की तरह आंचल का किनारा मुंह में दबाती हुई गर्दन नीचे झुकाकर चुप खड़ी रही।

"ऐसे शरमाती क्यों हो ? चंपावती बाई !" मुकुन्दराव उसके हाथ का कोमल स्पर्श करते हुए बोले, "तुम्हारी उम्र तनिक कम है, फिर भी तुम सुशिक्षित हो।"

"कितनी उम्र समझते हैं, आप ?" चंपावती नज़ाकत से बोली।

"होगी, यही बीस-बाईस !" मुकुन्दराव अटकते हुए बोला। पैंतीस वर्ष की प्रौढ़ा को बीस-बाईस की बताते हुए उसका हृदय विदीर्ण हो रहा था।

"बिल्कुल ठीक !" चंपावती हर्षातिरेक से पागल होती हुई बोली—

"मुकुन्दराव ! तुम्हें कैसे मेरी उम्र ठीक-ठीक मालूम हो गई ?"

"इस शास्त्र का मैंने बड़ा अभ्यास किया है। और दूसरे, मैं स्पष्टवक्ता एवं सत्यवादी हूं। अन्य पुरुषों की तरह झूठा नहीं।"

यह कहते-कहते चंपावती को मुकुन्दराव ने अपने निकट खींच लिया। स्तुति-सुमनों से पूजित चंपावती ने अपना मस्तक उस महान पुरुष के कंधों पर टिका दिया और स्त्रियों को प्रसन्न करने की कला सीखने में अपन को ४२ वर्ष लग गए, इसके लिए मुकुन्दराव ने अपनी भर्त्सना की। यह अन्तिम अवसर भी यदि हाथ से निकाल दिया, तो इस जन्म में विवाह नहीं होगा, यह सोच उसने अपने दोनों होठ चंपावती के कपोलों पर टिका दिये।

अण्णा । केले के छिल्के पर

बालकृष्ण वामन फाटक

बेलगाँव के शहापुर गांव में सन् १९०५ में उत्पन्न श्री फाटक आजकल सेवानिवृत्त होने के उपरान्त साहित्य-रचना में संलग्न हैं। आजकल आप 'नवाकाल' व 'संध्याकाल' के सहसम्पादक के रूप में कार्य कर रहे हैं। विनोदी-लेखक होने के साथ-साथ आप उपन्यासकार और बाल-साहित्य के निर्माता भी हैं। आपने अनेक रहस्य-कथाओं का अनुवाद भी किया है। विनोद-साहित्य में आपकी 'चालीतील चाले,' 'अण्णा', 'चतुर विखल', कारकुनांचे धंदे' और 'मुँबईचे मानकरी' नामक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। व्यक्तिनिष्ठ विनोद के अतिरिक्त प्रसंगनिष्ठ विनोद-सृजन करने में भी आप अत्यन्त कुशल हैं। आपकी शैली भाव और प्रसंग के अनुरूप होने से बड़ी सशक्त एवं प्राणवान होती है। प्रस्तुत कहानी इसका प्रमाण है।

"ट्रन ट्रनन ट्रनन ट्रन।"

दफ्तर में टेलीफोन की घंटी बज उठी और तुरन्त टेलीफोन-क्लर्क मस्कावाला के माथे पर सिकुड़न पड़ गई। 'ओ हेल्' कहते हुए उसने रिसिव्हर हाथ में उठाया और बोला 'हलो'

परन्तु 'मैसेज' ग्रहण करते हुए मस्कावाला का चेहरा गंभीर हो उठा। उसने रेगे के पास जाकर कहा, "अपने अण्णा हैं न रे···"

"हां, हां···अण्णा को क्या हुआ ?" रेगे के प्रश्न में चिंता की रेखा दिखाई दे रही थी, क्योंकि दफ्तर से कभी अनुपस्थित न रहने वाले अण्णा शनिवार से दफ्तर नहीं आए थे और आज सोमवार था।

"वह···वह अस्पताल में पड़े हैं।"

"एं ? व्हाट यू टाक। ही वास ओ० के० दि आदर डे"। 'ककुंबरम्' बीच में ही चीखा।

परन्तु रेगे से न रहा गया। उसने पूछा, "अरे ! पर अण्णा को हुआ क्या ?"
"वे केले के छिल्के पर फिसल कर गिर पड़े, कहते हैं उन्हें सख्त चोट आई है।"

"इसीलिए उन्हें अस्पताल में एडमिट किया गया है। सीरियस। पुअर सोल।" गुप्ते बोला।

"नहीं, दफ्तर बंद होने पर मुझे अण्णा से मिलने जाना ही चाहिये।" रेगे मन-ही मन बुदबुदाया।

"येस, येस। आई विल आल्सो अकंपनी यू।" ककुंबरम् बोला।

"और साला अण्णा को देखने के लिए क्या हम नहीं चलेंगे? सब साथ ही चलेंगे, तो अच्छा रहेगा।"

दफ्तर के काम में किसी का मन नहीं लग रहा था। घड़ी में साढ़े पांच कब बजें और अण्णा को जाकर कब देखें, इसीकी सब में उत्सुकता थी।

सब के सब अस्पताल में पहुँचे। "अण्णा। क्या हुआ?" रेगे ने सहानुभूति-पूर्ण स्वर में पूछा।

"केले का छिल्का।" अण्णा लेटे-ही-लेटे क्षीण स्वर में बोले। उनमें बातचीत करने की शक्ति भी नहीं रह गई थी। अतः उन्होंने बहुत-सी बातें हाथ, मुख तथा नेत्रों के संकेत द्वारा बताईं। क्या जरा-सा केले का छिल्का, पर उसके कारण अण्णा को पैरों तथा पीठ पर प्लास्टर चढ़ाए हुए तीन साढ़े-तीन महीने तक पड़े रहना था। सौभाग्य की बात यह थी कि उनकी हड्डी-बड्डी नहीं टूटी थी, जिससे सदा के लिए अपाहिज हो जाना पड़ता।

रेगे अण्णा से मिलने के लिए प्रायः उनके घर जाते रहते थे। एक दिन जब रेगे उनके यहाँ पहुँचे तो अण्णा बोले, 'मुझे एक मास की छुट्टी और बढ़ानी पड़ेगी।'

"अरे, छुट्टी क्यों बढ़वाते हैं? चार महीने की लगातार छुट्टी के बाद 'अला-उन्सिस' नहीं मिलते, यह तो आपको पता ही होगा? फिर, तुम्हारा स्वास्थ्य भी अब ठीक है, नुकसान क्यों उठाते हो?"

"होने दो नुकसान, मुझे उसकी पर्वाह नहीं।" अण्णा अकड़ में बोले। एक-एक पैसे को दांतों से भींचने वाले अण्णा इतना बड़ा नुकसान सहने के लिए क्यों तैयार हो रहे हैं, यह रेगे की समझ में नहीं आ रहा था।

"इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य अच्छा होने पर छुट्टी का उपयोग और भी अधिक अच्छी तरह से हो सकेगा।' अण्णा आगे बोले।

पर रेगे को यह सब कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

अण्णा पुनः कहने लगे, 'किसी भी महत्त्वपूर्ण काम को हाथ में लेने वाले व्यक्ति को सुख, स्वार्थ और धन की पर्वाह नहीं करनी चाहिए। उसके सम्मुख तो एक मात्र यही लक्ष्य होना चाहिए कि उसका काम किस प्रकार सफल हो। अर्जुन की तरह···'

"अर्जुन की तरह कैसे?" अण्णा को और अधिक बातें करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से रेगे ने प्रश्न किया।

"अरे बुद्धू ! तुम्हारा रामायण और महाभारत की कहानियों का ज्ञान भी कितना अल्प है ? रेगे, द्रोणाचार्य ने जिस समय राजपुत्रों की परीक्षा लेने के लिए वृक्ष पर एक पक्षी टांगा और उसका नेत्र भेदने की आज्ञा दी, तब उन्होंने प्रत्येक से पूछा "तुमको वह वृक्ष, उस पर बैठा पक्षी तथा उसका नेत्र दिखता है न ?" उनमें से प्रत्येक ने कहा, "वृक्ष, पक्षी और उसका नेत्र सभी दिखते हैं।" इस पर द्रोण बोले, "अलग हट जाओ" फिर उन्होंने यही प्रश्न अर्जुन से किया। अर्जुन ने उत्तर दिया "गुरु जी ! मुझे न वृक्ष दिखता है, न पक्षी, केवल पक्षी का नेत्र दिखता है।" द्रोण प्रसन्न हो उठे और बोले, "मारो बाण" ऐसी एकाग्रता चाहिए जनाब, तब कहीं जाकर कार्य सिद्ध होता है। "मानता हूं", रेगे बोला, "पर अर्जुन की इस एकाग्रता का छुट्टी बढ़वाने से क्या सम्बन्ध है ?"

"अरे, मैंने निश्चय किया है कि अब पूरा एक मीहना मुझे तन, मन, धन से केले के छिलके के ऊपर व्यय करना है।"

अण्णा आज रेगे के मन को एक के बाद एक आश्चर्य का आघात देने पर तुले थे। उसने पूछा, "केले के छिलके पर ?"

"हां, क्यों ?" अण्णा ने प्रतिप्रश्न किया।

"आप केले के छिलके का क्या करेंगे ? यदि स्त्री होते, तो उसे काट कर भाजी बनाते, क्योंकि परसों ही उस अंक में 'सुग्रहिणी-संसार' स्तम्भ के अन्तर्गत बताया गया है कि केले के छिल्कों की भाजी किस प्रकार बनती है। लिखा था बड़ी स्वादिष्ट होती है।"

"रेगे ! अपनी बचकानी बातें रहने दे।" अण्णा बोले "मामला सीरियस है। वह विचारपूर्वक एवं योजनाबद्ध रीति से करना चाहिए।"

"अण्णा, आपका एक-एक शब्द अब तो ग्रीक-लैटिन होता जा रहा है। आपको क्या करना है, स्पष्ट बताइये।"

"आं !" पान में चूना लगाते हुए तथा उसे मुंह में रखने के कारण ठीक से न बोल पाने के कारण उन्होंने उपर्युक्त उद्गार निकाला और फिर पान चबा चुकने के बाद बोले, "कोई भी सेनापति अपना प्लान पहले से प्रकट नहीं करता न !" "सेनापति, तो क्या केले के छिल्के पर आक्रमण करने का इरादा है ?" "आफ कोर्स।" अण्णा जोर से बोले।

रेगे को मालूम था कि अण्णा यदि किसी काम को करने की ठान लेते हैं, तो ब्रह्मा भी उन्हें उससे परावृत नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त उसे यह जानने की भी उत्सुकता थी कि अण्णा की यह नवीन मुहीम किस के विरुद्ध और कैसी है। अतः वह बोला, "अच्छा अण्णा, समय आने पर तो बताओगे न मुझे ?"

"तुझे ही क्या, सारी दुनिया को बता दूंगा" अण्णा ऐंठ में बोले।

"हां, संसार को। तू देखता रह पठ्ठे! अपने अण्णा की करामात। मैं बोलू-काका न होकर करू-काका हूं, समझा? पर यह सब करने के लिए मुझे छुट्टी मिलनी चाहिए, राजा! अच्छा पठ्ठे! छुट्टी के एक्सटेंशन के लिए एक बढ़िया सी अर्जी तो लिख लाओ। मैं बस उस पर हस्ताक्षर कर दूंगा।"

"ठीक है अण्णा।" अण्णा की पान की डिबिया अपनी ओर खींचते हुए रेगे बोला, "एक बढ़िया सा पान खिलाओ। अर्जी लिखना मेरे जिम्मे रहा, उसकी चिन्ता न करो।"

"दॅट्स लाईक ए गुड बॉय। नाउ स्टार्ट।" अण्णा के यह कहते ही रेगे तुरन्त उठ खड़ा हुआ (अब तक उसने पान भी खा लिया था) और 'वन' 'टू' कहता हुआ क्विक मार्च की मुद्रा में चलने लगा। उसके मुख पर ऐसी मुस्कान प्रतिभासित हो रही थी जैसे किसी ने उसे गुदगुदा दिया हो।

अण्णा की पत्नी वैसे अण्णा से कभी कुछ नहीं कहतीं। पर जिस प्रकार कभी-कभी सीधी गाय भी भड़क उठती है, उसी प्रकार इस समय वह भी भड़क उठीं। अण्णा का उस समय तक का आचरण उन्हें असह्य हो उठा था। पहिले ही छुट्टी पर होने के कारण समय का बंधन नहीं था। जब इच्छा होती स्नान करते, खाना खाते, दीपक जला-जला कर रात भर जागते रहते, कुछ लिखते रहते, और फिर उसके टुकड़े-टुकड़े कर उसकी चिंदियां बिखेरते, सदा किसी न किसी विचार में मग्न रहते। अण्णा किस काम में व्यस्त हैं, यह उन्हें ज्ञात था। अतः एक दिन उन्होंने पूछा, "तुम्हारा करा-धरा चिकने घड़े पर पानी की तरह बेकार रहेगा, समझे।"

"हूं! बोल चुकी!!" अण्णा चिढ़ाते हुए बोले "यदि नारी शुभ बोले, तो भी मंडप में आग लग जाती है। क्यों, मुझे अपने कार्य में सफलता क्यों नहीं मिलेगी?"

"अरे, दुनिया के लोग इतने समझदार कहां है? उनसे यदि किसी काम को न करने के लिए कहो, तो वे उसे जान बूझ कर करते हैं। 'यहां कूड़ा मत फेंकिये' की तख्ती लगाई कि लोग वहीं सबसे अधिक गंदगी करते हैं।"

"अरे, यह मुझे पता है" अण्णा बीच में ही बोले। कुछ दिन हुए मैं और रेगे सड़क पर जा रहे थे तो मैंने उससे इस विषय पर बातें कीं। वह बोला कि तख्ती पर ही लिखा रहता है कि गंदगी करो, अतः लोग गंदगी करते हैं। मैंने तख्ती पर नज़र डाली और पढ़ कर सुनाया, "क्या लिखा है? यहां गन्दगी करूं नये (मत करो) ठीक तो है।"

"नहीं, ठीक से पढ़ो जरा" रेगे बोला।

"मैं बोला, भई मैंने तो अपनी अक्ल के अनुसार पढ़ा है। अब तू अपना पांडित्य दिखा और पढ़ कर सुना कि क्या लिखा है।"

"अच्छा देखो उसने कहा "यहां गन्दगी करून ये अर्थात् यहां गन्दगी करके

तब आओ।"

"ठीक पढ़ा" अण्णा की पत्नी बोली "मैं भी यही कहती हूं। रेलगाड़ी, सरकार, म्यूनिसपैल्टी जब इन सबकी बात कोई नहीं सुनता, तो तुम्हारे इकले-दुकले की बात कौन मानेगा, इस केले के छिल्के के विषय में।"

"बस, बस, रहने दो। अच्छी अर्धांगिनी हो। अरे, पत्नी का धर्म पति को पराक्रम करने के लिए प्रोत्साहित करना है कि और उल्टे उसके पैर घसीटना है।"

"मैं तुम्हें पीछे कैसे घसीटती हूं जी? मैंने तो तुम्हें सच बात बताई है। आजकल केले के छिल्के के अतिरिक्त तुम्हें कुछ दिखाई ही नहीं देता। जैसे कंस को जल-थल, लकड़ी-पानी सर्वत्र कृष्ण दिखाई देता था, उसी प्रकार—" पत्नी ऐंठ में बोलीं

"—और जिस प्रकार उस कृष्ण ने कंस का नाश किया था, उसी प्रकार यह छिल्का मेरा नाश करेगा क्या? हा, हा, हा।" अण्णा हँसते हुए बोले।" क्या उदाहरण दिया है, भई? बस मान गए तुम्हारी अक्ल को। अब जरा स्ट्रांग चाय बना लाओ। मुझे केले के छिल्के पर कविता लिखनी है।"

"छिल्के पर कविता लिखोगे?" पत्नी ने पूछा

"छिल्के पर नहीं, कागज पर। अब जरा उठो। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे भावों के नव-नव अंकुर फूट रहे हों।"

पत्नी चाय बनाने चली गई।

अण्णा ने कविता लिखने की तैयारी की। वे स्वयं बुदबुदाने लगे—

"मजे से खाओ केले, भाइयो
मजे से खाओ केले
परन्तु रास्ते ऊपर उसके
कभी न फेंको छिल्के

ये पंक्तियां वे मन ही मन गुनगुनाते रहे। पत्नी ने चाय बनाकर उनकी मेज़ हर ला रखी, तब भी उनकी कविता इस पद के आगे न बढ़ पाई थी।

o o o

काव्य निर्माण होने लगा। निरन्तर विचार करते रहने के कारण अण्णा के मस्तिष्क में युद्ध की संपूर्ण योजना बनने लगी। घर में पत्नी से लेकर बाहर के सभी परिचित लोगों को वह अपने युद्ध की योजना सुनाने लगे। पर सब जगह से उन्हें फटकार ही मिलती। परन्तु, जैसे-जैसे वृक्ष कलम करने पर और भी पल्लवित होता है, उसी प्रकार अण्णा को जितना तिरस्कार मिलता, उतनी ही उनकी योजना पल्लवित होती जाती थी। अन्त में उनकी योजना तैयार हो गई। उन्हें सबको मात देनी थी, उन्हें लज्जित करना था। अतः उन्होंने अपना निश्चय

किसी को नहीं बताया—अपने जानी दोस्त रेगे तक को नहीं। उनका इरादा सबको आश्चर्यचकित करने का था।

और एक रविवार को जगह-जगह बच्चे विज्ञापन बांटने लगे। वैसे बम्बई में इस प्रकार के न मालूम कितने विज्ञापन बांटे जाते हैं और लोग उन्हें बिना पढ़े ही हवा में उड़ा देते हैं। पर यह विज्ञापन उस तरह का न था—

केले का छिल्का

संध्या समय

सावधान रहिये ! तैयार रहिये ! !

बम्बई में निकलने वाले अभूतपूर्व जुलूस को देखने के लिए

खिड़कियों, अटारियों, फुटपाथों और सड़कों पर एकत्र होइए ! भूलिए मत ! !

बच्चो ! जाओ और केले खाओ !

स्त्रियो ! जाओ और देखो ! !

पुरुषो ! हज़ारों की संख्या में चौपाटी पर आओ ! ! !

कारण —

क्या है मेरे मन में ?

यह बताऊंगा मैदान में ! !

—अण्णा

ऊपर के विज्ञापन को पढ़कर पाठक की जिज्ञासा बढ़ती। यह अण्णा कौन है ? और आखिर वह क्या कहेगा ? पाठक को कुछ ज्ञात न होता। विज्ञापन का विषय जितना मनोरंजक था, उतना ही रहस्यमय भी था। अत: उन लोगों की जिज्ञासा बढ़ती गई। उन्हें विश्वास हो गया कि बिना चौपाटी पर गये उत्सुकता शान्त नहीं हो सकती।

चार बजे के लगभग गिरगांव रोड पर सुनाई देनेवाली आवाज़ों और कोलाहल के कारण लोगों का ध्यान उधर गया। लोग गैलरी में आकर देखते क्या है जो नीचे जोर-जोर की आवाज़ आ रही है—

मजे से खाओ केले, भाइयो !

मजे से खाओ केले !

जिस-जिस के कान में यह पंक्तियां पड़ीं, उसे ही यह जानने की जिज्ञासा हुई कि यह मामला क्या है ? और वह उस आवाज़ की दिशा में चलने लगा। मार्ग के लोग आश्चर्य से ठिठक कर उस दृश्य को देख रहे थे।

बच्चों का एक बड़ा जुलूस मार्ग से गुजर रहा था। आगे-आगे एक बूढ़ा व्यक्ति गला फाड़-फाड़ कर गाता हुआ चल रहा था। वह पहले एक पंक्ति गाता, और जूलूस के बच्चे उसी पंक्ति को जोर-जोर से गला फाड़कर दुहराते।

मजे से खाओ केले लोगो
मजे से खाओ केले,
परन्तु रास्ते ऊपर उसके
कभी न फेंको छिल्के

यह पद सुनते ही श्रोतागण स्तब्ध रह जाते। इस प्रकार की अद्भुत चीज़ सुनने को मिलेगी, इसकी किसी को कल्पना भी न थी। देखें तो वास्तव में क्या है, इस जिज्ञासा वाले व्यक्ति आगे बढ़े और उन्हें एक विलक्षण दृश्य दिखाई दिया—

आगे-आगे जोर-जोर से गाना गानेवाला एक बूढ़ा व्यक्ति था और उसके दोनों ओर बांसों पर केले के छिल्के के तोरण बंधे हुए थे। इस प्रकार तोरण उठाए हुए लोगों की संस्था कम से कम पन्द्रह-बीस तो थी ही। दर्शक की दृष्टि पुनः आगे बढ़ती। एक ओर को कंधों पर पके हुए केलों के गुच्छे रखे हुए लोग पांच-पांच फुट की दूरी पर चल रहे थे और दूसरी ओर खाली टोकरी लिए हुए कुछ लोग थे। बीच में बच्चों की भीड़ थी। जुलूस में सम्मिलित होने के लिए उनकी भीड़ उमड़ी पड़ रही थी—

मजे से खाओ केले लोगो !

मजे से खाओ केले !

और साथ ही उस पंक्ति का मानों प्रत्यक्ष दृष्टांत प्रस्तुत करने के हेतु बच्चे पके हुए केलों के गुच्छे में से केले निकाल-निकाल कर खा रहे थे और जुलूस की दूसरी ओर टोकरी लेकर चलने वालों की टोकरी में छिल्के डालते जाते थे। यह देख दर्शकों को विश्वास हो गया कि प्रातःकाल प्रकाशित होने वाले विज्ञापन का, जिसमें लिखा था "बच्चो, आओ और केले खाओ", इसी जुलूस से सम्बन्ध है। इस प्रचंड जुलूस के बीचों-बीच एक बोझा ढ़ोने वाली गाड़ी थी। उसमें ऐसे लोग कुर्सियों पर बैठे हुए थे जिनमें किसी का हाथ, किसी का पैर और किसी के हाथ-पैर दोनों तथा किसी की पीठ प्लास्टर में बंधी हुई थी। गाड़ी में ही उनके पीछे दो बांसों पर आधारित एक लम्बे-चौड़े कपड़े को लिए दो व्यक्यि खड़े थे जिस पर बड़े-बड़े सुनहरी अक्षरों में लिखा हुआ था "केले के छिल्के के बलि।" जुलूस के इस दृश्य का देखनेवालों के मन पर तुरन्त प्रभाव पड़ता और तभी बच्चों की गर्जना सुनाई दी—

'केले खाने वाले कौन हैं ?"

उसके पीछे की पंक्ति में चलनेवाले बच्चों ने उत्तर दिया।

"वे समाज के मित्र हैं।"

सुननेवाले के मन में सहज ही विचार आता कि यह बताने के लिए इसकी क्या आवश्यकता थी और तभी—

"छिल्के फेंकने वाले कौन हैं ?"

यह प्रश्न उनके कानों से टकराता और पीछे की लड़कों की पंक्ति से उसका उत्तर सुनाई देता—

"वे समाज के शत्रु हैं।"

उसके बाद जुलूस की उस अपार भीड़ का कुछ देर तक एक ही नारा जोर से सुनाई देता "ऐसे समाज के शत्रुओं को धिक्कार है।"

इस प्रकार प्रश्नोत्तर करते-करते जुलूस के बच्चे तेज़ी से आगे बढ़ते गए और मार्ग के लोग उस भीड़ में शामिल होते चले गए। बीच में ही उस बूढ़े का गाना सुनाई दिया।

"केले खाओ केले लोगो

केले खाओ केले

और चालिस-पचास लड़कों ने एकदम प्रश्न किया—

"छिलके कहां डालें ?"

"टोकरी में !" "टोकरी में ! ! "टोकरी में ! ! !" और वह इन्होंने कर के दिखाया भी। दर्शकगण उस दृश्य को देख चक्कर में पड़ गए। उन्हें पता ही नहीं चल रहा था कि वह मजाक है या वस्तुतः कोई गंम्भीर बात। वे कुछ देर के लिए विचारों में डूब गए पर उसके लिए भी अधिक अवसर न था।

नेताओं की तरह आगे-आगे चलनेवाले उस वृद्ध व्यक्ति ने हाथ उठाकर हाथ के छिल्के दिखाते हुए कहा—

मार्ग पर पड़े इन छिल्कों पर
फिसल कर गिर पड़े
कितने बेचारे ! और जीवन भर को
अपाहिज़ हो गए !

और इस पद को गाने के बाद ज़ोर से बोले "इसीलिये तो कहता हूं—

सोचा नहीं यदि
तुमने केला खाते समय
तो विचार करो अवश्य
छिल्का फेंकते समय।

हां, ठीक ही तो है। सुननेवालों को बात तुरन्त जच गई। मार्ग पर जाते समय अनेक व्यक्तियों को उन्होंने केले के छिल्के पर रपट कर गिरते देखा था। किसी को इस प्रकार गिरता देखकर वे मानव-स्वभाव के अनुसार हँसे भी थे और हँसकर आगे बढ़ गए थे। पर आज इस बूढ़े को अपनी आंखें खोलते देखकर उसके प्रति न केवल कौतूहल ही हुआ, अपितु आदर-भाव भी उत्पन्न हुआ। एक प्रकार की उत्सुकता से अनुप्रेरित हो प्रेक्षकों में से कुछ ने उस भीड़ के बच्चों से पूछा—

"वह आगे-आगे गाते हुए जाने वाला बूढ़ा कौन है ?"

"यह मूर्खता का प्रश्न क्यों ?" ऐसी मुखमुद्रा बनाते हुए उन बालकों ने कहा, "अरे, आपको यह भी पता नहीं ?"

पूछनेवाले बेचारे लजा गए। उन्होंने नकारात्मक उत्तर में गर्दन हिलाई। इस पर बच्चे बोले, "अरे वे अण्णा हैं !"

"अण्णा !"

अच्छा तो प्रातःकाल जिनका विलक्षण विज्ञापन पढ़ा था, वही यह अण्णा हैं। आदमी बड़ा जोरदार मालूम होता है। अब तो इनका भाषण सुनने चौपाटी पर अवश्य जाना चाहिए।

संढर्स्ट रोड तक आते-आते वस्तुतः हजारों लोग उस जुलूस में शामिल हो गए थे। लोगों को एक प्रकार का आनन्द आ रहा था। वे लोग भी छिल्के-सम्बन्धी नारों में बच्चों का साथ दे रहे थे। इन लोगों के हृदय में भी एक प्रकार का उत्साह संचरण करने लगा था। वे भी जोर-जोर से गर्ज रहे थे, उछल-कूद मचा रहे थे, नाच रहे थे, फुदक रहे थे। उनमें से एक ने तो आवेश में आकर उछल-उछलकर गाना भी शुरू कर दिया—

फेंक दो, हां फेंक दो
केले का छिल्का फेंक दो
जहां भी हो
जहां भी दिखे
उठा उसे लो
फेंक दो हां, फेंक दो
टोकरी में फेंक दो॥

उस गाने को सुनते ही श्रोताओं का आवेश और बढ़ गया। अब तक जुलूस चौपाटी के किनारे पर पहुंच चुका था। वहां तक आते-आते जिसे 'टेम्पो' कहते हैं, वह 'टेम्पो' निर्माण हो चुका था। जिस प्रकार तुकाराम भजनी-मंडली लेजिम के से हाथ फेंक-फेंक कर नाचती, उछलती-कूदती कीर्तन करती है, उसी प्रकार कुछ लोगों ने उछल-उछल कर गाना शुरू कर दिया—

फेंक दो भई,
फेंक दो !
केले का छिल्का फेंक दो !

अब सारा जनसमूह रुक गया। तिलक की मूर्ति के चारों ओर एकत्र उस अपार जनसमूह को देखकर अण्णा का हृदय भर आया। उस युद्ध में प्राप्त विजय का मानों वह प्रमाण था। लोगों को उनकी वह योजना पसन्द आयी, यह विचार आते ही अण्णा हर्षोन्मत्त हो उठे। इतने में भीड़ में से किसी ने चिल्लाकर पूछा,

"अण्णा ! आपको जो कुछ कहना था, कह डालिए। बक-अप ओल्ड मैन !"

दूसरे ने पहले का समर्थन किया और एक चिल्ल-पों शुरू हो गई, "अण्णा ! भाषण ! ! ! बोलो, हमें तुम्हारा भाषण सुनना है।"

भाषण ! जीवन भर क्लर्की करने वाले और केवल पत्नी के सम्मुख दो शब्द बोलनेवाले अण्णा के शरीर में इस शब्द ने किसी अन्य अवसर पर कंपकपी भर दी होती। परन्तु आज का अवसर ही, 'मूकं करोति वाचालम्' जैसा था। अण्णा के शरीर में उत्साह भर गया; पास ही एक मछली पकड़ने की नाव पड़ी थी, उस पर चढ़ते हुए अण्णा ने आदेश दिया, "नीचे बैठ जाओ। आप लोग नीचे बैठ जाइये !"

उनका भाषण सुनने के लिए उत्सुक वह अपार जनसमूह यंत्र की तरह नीचे बैठ गया। यह देखकर अण्णा बड़े प्रसन्न हुए और उत्साह में भरकर बोलने लगे—

"मित्रो ! आज क्या बोलूं, मेरी समझ में नहीं आ रहा। आपके अपने प्रति इस अपार प्रेमभाव को देखकर मैं गद्‌गद् हो उठा हूं। आप लोगों ने हजारों की संख्या में उपस्थित होकर जो मेरे कार्य में सहायता की है, उसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं। सत्कार्य को सज्जन व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त होता है, आज मेरे इस विश्वास को और भी सम्बल मिला है। आपको जो कुछ बताने के लिए मैंने यह सारा समारंभ किया है, वह वस्तुतः आपके सम्मुख ही है।

'मित्रो ! कहने को यह केले का छिलका कितना तुच्छ है। हम केले खाते हैं और लापरवाही से उसका छिलका फेंक देते हैं। आपका तो खेल होता है, पर दूसरे के प्राणों पर आ बनती है। मुझे व्यक्तिगत अनुभव है कि कितने ही लोग उस पर फिसलने के कारण सदा के लिए अपाहिज हो गए हैं। मैं स्वयं एक बार फिसल गया था और चार मास तक खटिया गोड़ता रहा था। इसी से मैंने निश्चय कर लिया था कि इस सम्बन्ध में कुछ न कुछ करना है। मेरा विचार सुनकर आस-पास के लोगों ने मेरा मजाक उड़ाया, पर 'सत्य संकल्प का दावा। पूर्ण करता सभी मनोरथ।" यह आज मैंने तुम्हारे सामने कर दिखाया।

मित्रो ! मुझे तो तुम्हें यही बताना है कि —

मज़े से खाओ केले, मित्रो !
मजे से खाओ केले—

और तुरन्त ही श्रोताओं ने भी वह पद गाना शुरू कर दिया। उनकी ओर हर्षपूर्ण दृष्टि से देखते हुए अण्णा ने पुनः कहना शुरू किया, "परन्तु रास्ते के ऊपर कभी न फेंको छिल्के।'

"यही मेरा सन्देश है। बस मेरा भाषण समाप्त हो गया। आपके सहयोग के लिए पुनः आभार प्रकट करता हुआ मैं अब आपसे विदा होता हूँ।"

अण्णा नीचे बैठ गए।

"रुकिये !" दर्शकों में से एक युवक चिल्लाया।

सबकी दृष्टि उधर गई। हाथ में एक लम्बा पुष्पहार लिए एक युवक अण्णा की ओर बढ़ रहा था। निकट आते ही उसने कहा, "मित्रो ! न भूतो न भविष्यति। ऐसा आज का कार्यक्रम जिस अकेले व्यक्ति ने सफलतापूर्वक आयोजित किया, उन अण्णा के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए तथा उनका अभिनन्दन करने के हेतु यह हार मैं अपनी ओर से, और, यदि आप लोगों को कोई आपत्ति न हो, तो आप सब की ओर से भी—"

"कोई आपत्ति नहीं, आप उपयुक्त बात ही कर रहे हैं।" लोग चिल्लाये।

"अपने परमप्रिय अण्णा को अर्पित करता हूं।"

रेगे ने वह हार डाल दिया और अण्णा ने उसे गले से लगा लिया। अण्णा के उस पराक्रम को देखकर वह अत्यंत प्रभावित हुआ था। उसके नेत्रों से आनंदाश्रु प्रवाहित हो रहे थे।

भीड़ के लोग इस मनोभाव के साथ छट रहे थे कि आज उन्होंने कोई चिरस्मरणीय दृश्य देखा और बात सुनी है। सबके आगे-आगे गले में हार डाले हुए अण्णा बड़ी ऐंठ के साथ चल रहे थे। उनके पीछे-पीछे उनका परम मित्र रेगे था। वे चौपाटी के फुटपाथ को पारकर चौड़ी सड़क पर आये। केला खाकर लापरवाही से डाले हुए उसके छिल्के पर अचानक उनका पैर पड़ा—

और अण्णा पुनः छिल्के पर फिसल पड़े !!

सिंह का शिकार

—गो० ल० आप्टे

सन् १९०६ में उत्पन्न श्री गो० ल० आप्टे प्रसिद्ध साहित्यकार होने के साथ-साथ पूना के सुविख्यात वकील भी हैं। साहित्य में आप विनोदपूर्ण नाम 'गोल आप्टे' से ही जाने जाते हैं। प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों के समान आपने भी साहित्य-रचना का श्रीगणेश विद्यार्थी जीवन में ही कर दिया था। आपका रचना-क्षेत्र भी विस्तारपूर्ण एवं वैविध्यपूर्ण है। काव्य, उपन्यास, लघुकथा, नाटक, विनोदी लेख आदि सभी साहित्यिक विधाओं में आपने सफलता प्राप्त की है। कुल मिलाकर आपकी सत्रह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कहानियों के सदृश आपके नाटक भी विनोदपूर्ण होते हैं। इतना ही नहीं, आप एक कुशल अभिनेता भी हैं और अनेक नाटकों में विभिन्न भूमिकाओं में अभिनय भी कर चुके हैं। रेडियो पर आपकी विनोदपूर्ण वार्ताएं प्रायः ब्राडकास्ट होती रहती हैं। प्रस्तुत कहानी में एक कायर व्यक्ति की विडम्बनापूर्ण सृष्टि की गई है।

वरणगांव में धारु अण्णा एक लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उन्हें शिकार की भारी लत थी। अपने कंधे पर बंदूक लटकाए गांव के गली-कूचों में जैसे ही अण्णा ऐंठ के साथ घूमने लगते, गांव के सारे बच्चे-बड़े कौतुक के साथ उनकी ओर देखने लगते। किसी पतिव्रता को अपने कुंकुम-तिलक पर अथवा किसी देशभक्त को अपनी खादी की टोपी पर भी इतना प्रेम न होगा जितना अण्णा को अपनी बंदूक पर था। वह सदा उनके बिस्तर पर तकिये के नीचे चुपचाप पड़ी रहती थी। यदि कभी उनकी पत्नी ईर्ष्यावश कहतीं भी कि······"इश्श। इतना पास क्यों रखते हो? उसे अल्मारी में या खुंटी पर क्यों नहीं रख देते," तो वह लाड़ से अपने पानीदार नेत्र मिचकाते हुए कहते, "पगली कहीं की" अरे, जैसे स्त्रियों को मंगल सूत्र शिक्षक को पुस्तक और लेखक को लेखनी प्रिय होती है, वैसे ही मुझे बंदूक प्रिय है, समझी न?"

अण्णा को वह बंदूक एवं उसका लाइसेंस भी एक अजीब घटना के कारण

प्राप्त हुआ था। कुछ वर्ष पहिले वरणगांव में स्वयं जिले के कलक्टर साहब का तम्बू पड़ा था। गांव में वर्षा होना, पहलवानों की कुश्ती होना अथवा किसी राज्याधिकारी का तम्बू पड़ना, आदि प्रसंग सदा महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे। ऐसे अवसरों परे गांव के पटवारी, लम्बरदार आदि की मुसीबत आ जाती थी। साहब और उनके नौकर चाकरों के खाने-पीने, बैठने-उठने आदि की सब प्रकार की व्यवस्था करते-करते उनकी नाक में दम आ जाता था। गांववालों को इस भागदौड़ में प्रेमपूर्वक भाग लेना ही पड़ता था। वरणगांव के लोगों की स्वभाव-मधुरता वरण (दाल) की मधुरता को भी लज्जित करने वाली थी।

भाग्य की बात कि उस गोरे कलेक्टर की मेमसाहब को पुरणपूरी बड़ी स्वादिष्ट लगती थीं। यह स्वाद उन महारनी को कब और कैसे लगा, भगवान जानें। पर वस्तुस्थिति यही थी। साहब की पत्नी को पुरणपूरी अच्छी लगती है, यह समाचार टूटे बांध के पानी की तरह सारे गांव में फैल गया। पुरणपूरी बनाने के लिए गांव-भर में धारूअण्णा की पत्नी विख्यात थीं फिर भला धारू अण्णा सरीखा व्यवहारकुशल व्यक्ति ऐसे सुअवसर को कैसे गंवा देता। घी में तली दो सुन्दर पुरणपूरी डब्बे में रखकर वीर धारूअण्णा कलेक्टर साहब के तम्बू पर पहुंच गए।

उस समय कलेक्टर साहब तम्बू की लकड़ी की बनी हुई गुमटी पर बैठे हुए कबूतर को अपनी बंदूक का लक्ष्य बनाने में लीन थे। उनकी पुरणपूरी-प्रिय पत्नी ही कौतुकपूर्ण दृष्टि से उस शिकार को बैठी देख रही थीं। किसी के द्वारा न रोके जाने के कारण धारूअण्णा सीधे उनके निकट पहुंच गए। साहब के बंदूक का घोड़ा दबाते ही, 'धाड़' जैसी आवाज हुई और धारूअण्णा डिब्बे सहित जमीन पर औंधे गिर पड़े। तम्बू की लकड़ी की गुमटी एक ओर गिर पड़ी और वह कबूतर दूसरी ओर कहीं दूर उड़ गया। क्षण-भर को कलक्टर साहब का ध्यान औंधे पड़े धारूअण्णा की ओर और उनकी पत्नी का अधखुले पुरणपूरी के डिब्बे की ओर गया। धारूअण्णा के उस साष्टांग प्रणाम पर साहब बड़े प्रसन्न हुए।

"वेल्, टुमी कौन हाय ?" साहब ने अपनी टूटी-फूटी मराठी में प्रश्न किया।

"सर······धिस् इज् धारूअण्णा, सर ।" उठने का प्रयत्न करते हुए धारूअण्णा बोले।

"ओऽ। एण्ड व्हाट इज् धिस् ?" पुरणपूरी का डिब्बा हाथ में लेते हुए बड़े कोमल स्वर में मेमसाहब बोलीं।

"सर······दॅट इज् पुरणपूरी सर, व्हेरीगुड-सर······"धारूअण्णा ने कहा। उनके ऐसा कहते ही वह महारानी खड़े-खड़े ही पुरणपूरी के टुकड़े तोड़-तोड़ कर खाने लगी। किसी बिल्ली ने चूहे के और स्वयं साहब ने भी किसी जमीदार के ऐसे टुकड़े न किए होंगे।

प्रस्तुत प्रसंग अतिशयोक्तिपूर्ण है, ऐसी भ्रान्ति कतिपय पाठकों को हो सकती

है, परन्तु साहब किस पर कैसे और कब प्रसन्न हो जाएं, इसका क्या ठिकाना ! इस सम्बन्ध में कचहरी में काम करने वाले कर्मचारियों की बातें वस्तुतः सुनने योग्य हैं। ऊपर कहे गए प्रसंग के कारण धारूअण्णा को बंदूक-लाभ हुआ, यह सुविज्ञ पाठकों को बताने की आवश्यकता नहीं।

इस अदभुत प्रसंग में प्राप्त बंदूक को देख कर अण्णा का दिल गिरगिट की तरह उछलकूद मचाने लगा। उस दिन के बाद जब कभी अण्णा को समय मिलता, वह वरणगांव के निकटवर्ती जंगलों, टीलों और कन्दराओं में शिकार के लिए चल पड़ते। विगत तीन वर्षों में उन्होंने कितने जानवर मार गिराये थे, इसका पता लोगों को तो क्या स्वयं अण्णा को भी न था। अण्णा ने यदि किसी चिड़िया को अपनी बंदूक का लक्ष्य बनाया, तो बस समझ लो कि दो-चार हाथ दूर पर बैठा कबूतर अथवा पेंड़की, अपने आप ही मर जाते थे। अब तक वह बारह पेंड़की, बीस कबूतर, एक गधा व हजारों गप्प मारने की कथा वरणगांव के लोगों को बड़े कौतुक के साथ सुना चुके थे। एक बार एक बाघ की गर्दन पर अपनी बंदूक का दस्ता कितने जोर से मारा था, इतका वर्णन ज्योंही वह करने लगते, सारा गांव दांतों तले उंगली दबा लेता। शिकार करने से भी अधिक शिकारियों के पराक्रम सुनना वस्तुतः अधिक साहस का कार्य है।

रात भर पेड़ की डाल पर शिकार की प्रतीक्षा में बैठे रहकर प्रातः काल खाली हाथ लौटना मानो उनके भाग्य में ही लिख दिया गया था। उनको देखते ही गांव के मुर्गे-मुर्गी परिवार सहित इधर-उधर भाग छूटते, पर उन पर हाथ उठाना—गोली चलाना अण्णा को अपनी शान के खिलाफ लगता। "मैं सच्चा शिकारी हूं" यह वह सदा गर्वपूर्वक कहा करते थे। पर साहब द्वारा अण्णा को दिए जाने के बाद तो बाघ के उपद्रवों से संत्रस्त आस-पास के गांवों के व्यक्ति अण्णा को बंदूक लेकर आने का नित्रमंण आग्रहपूर्वक देने लगे।

एक बार वरणगांव के एक बाग में बाघ द्वारा एक कटरा ले जाये जाने पर दूसरे दिन घबराए हुए बागवाले अण्णा के घर आये।

"अन्ना" बाग का गणपा हरबरे आगे बढ़कर बोलने लगा "अन्ना, कल रात इस शंभू की बगिया में से बाघ इसका कटरा ले गया।"

"अच्छा। कटरा ले गया ?"

"हां अन्ना, अब तुम अपनी बंदूक लेकर बाग में चलो, बड़ा उपकार होगा तुम्हारा !"

"ठीक है, बस अभी चलता हूं, अब उस बाघ का कचूमर निकाले बिना नहीं रहूंगा।"

अण्णा की ऐसी बेधड़क बात सुनकर बाग वालों को बड़ी प्रसन्नता हुई और संध्या को सवेरी आने की बार-बार विनती कर मंडली बाग को लौट गई। मंडली

के चले जाने पर अण्णा ने बंदूक संभाली और धीरे-धीरे बोले, "बेटा पुरणपूरी।"

हां, उन्होंने अपनी बंदूक का नाम ही पुरणपूरी रख लिया था। इतना सार्थक नाम कदाचित् ही किसी ने अपनी बंदूक को दिया हो।

"बेटा पुरणपूरी। आज चलने दे अपनी गोली। बस आज बाघ का शिकार हो जाय। फिर तो सारा वरणगांव ही मेरी मुट्ठी में आ जाएगा। बोलो, पुरणपूरी की जय।"

चार दिन से लाल लंगोट चढ़ा कर अखाड़े में आने वाला बच्चा जैसे गामा पहलवान को चित्त करने की बात सोचे, उसी प्रकार की अण्णा की यह अभिलाषा थी। अण्णा ने बाघ या तो केवल-चित्र में देखा था अथवा नाटक में घूमते-फिरते बाघ की नकल देखी थी। और दोनों ही स्थानों पर देखे बाघ को देखकर उनका विश्वास हो गया था कि बाघ कोई डरने की चीज़ नहीं है।

उन्होंने अपनी पत्नी को पुकारा, "अरे, ज़रा बाहर आना।"

"अभी आई।"

"अरे जरा जल्दी आओ न!"

"इश्श। जरा भी धैर्य नहीं, मरी ऐसी भी क्या उतावली।"

"फिर वही अपनी झक-झक, क्या कर रही हो भीतर ही बैठी-बैठी।"

यह सुनकर श्रीमती धारूअण्णा क्रुद्ध होती हुई बाहर आई और बोलीं 'हां, इतना चिल्ल-पुकार क्यों मचा रहे थे? क्या कोई बाघ आ गया है?" अण्णा मुस्कराए, "हां, बाघ ही तो है।" यह कहकर उन्होंने सारी बात अपनी पत्नी को बताई, पर प्रसन्न होने के स्थान पर वह और अधिक चिढ़ गई।

"हाय दैय्या, ऐसी भी क्या लत। अभी बंदूक पकड़ना तो आया नहीं है, चले हैं बाघ का शिकार करने। बंद करो, यह सब।"

"अरे चुप रह! वे लोग क्या गधे थे जो मुझे बुलाने आए!"

"इसमें भी क्या कोई संदेह है?"

"यह कुछ नहीं, मैं बाघ के शिकार को आज अवश्य जाऊंगा, समझी?"

"अरे मेरी बात मानो, इस झंझट में मत पड़ो।" पत्नी आर्द्र वाणी में बोली।

"बस, बस। पति को प्रोत्साहन देना तो दूर रहा, और मुझे रोकती है। पगली, यह धारूअण्णा बाघ तो क्या, बड़े-बड़े हाथियों, शेरों, घड़ियालों को भी चुटकी बजाकर मार सकता है। जय पुरणपूरी की।" ऐसा कह अण्णा ने बंदूक की नली का मुंह अपनी पत्नी की ओर कर दिया। वह जोर से हँसे और उनक सम्पूर्ण शरीर का शिकारी रक्त तीव्र वेग से धमनियों में प्रवाहित होने लगा।

"इश्श। कहीं तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया है? मेरे को निशाना क्यों बना रहे हो?"

"प्रिये······"

"बंद करो यह बकवास, ठहरो, अभी लाती हूं अंगारे तुम्हारे सिर पर डालने के लिए।" यह कहकर पत्नी घर में चली गई।

और संध्या समय वायदे के अनुसार अण्णा बंदूक सहित बाग़ में जा पहुंचे। पहली रात मारे हुए कटरे को बाघ ने बाग से लगभग एक मील दूर जंगल में एक आम के पेड़ के नीचे लाकर डाल दिया था। पास ही एक सुन्दर झरना बहता था। बागवालों को विश्वास था कि बाघ आज रात भी उस जानवर के पास आएगा। बाघ द्वारा मारे गए उस कटरे को देखकर अण्णा कुछ घबराए। उनके मन में क्षण भर को एक आशंका कौंध गई कि कहीं बाघ का शिकार करने के स्थान पर स्वयं उनकी ही बाघ चटनी न बना डाले।

"हां, तो अन्ना, तुम उस पेड़ पर चढ़ जाओ। हम सब आसपास के पेड़ों पर बैठे जाते हैं।" बाग का नेता गणपा हरबरे अन्ना को शत्रु से लड़ने के दांवपेंच समझाते हुए बोला।

"पर, तुम लोगों ने उस पेड़ पर बैठने की व्यवस्था तो की ही नहीं है। मैंने समझा तुम लोगों ने मचान बना रखी होगी।"

"छिः, छिः, अन्ना, क्या कहते हो ? अरे, मचान पर बैठकर तो औरत भी शिकार कर लेगी। छिः यह भी कोई शिकार है, अरे कोल्हापुर के शाहू महाराज तो आमने-सामने बाघ का शिकार करते हैं।"

"सचमुच ? तो फिर कोई बात नहीं।"

बाघ के शिकार में कोई कमी न रह जाय, यह अण्णा की हार्दिक इच्छा थी। दो-तीन आदमियों ने सहारा देकर अण्णा को पेड़ पर चढ़ाया और एक अच्छी-सी जगह देखकर अण्णा ने ठूंठ और डालियों से बनी एक चौकी पर आसन जमाया और बाग की मंडली के लोग लाठी लेकर कुछ तो पेड़ों पर और कुछ पेड़ों की आड़ में फैल कर बैठ गए। बड़े शिकार का अण्णा का यह पहला अवसर था। अतः उनकी दशा पहिले प्रसव के समय गर्भिणी की दशा के समान अत्यन्त दयनीय हो उठी थी। बहुत देर तक एक आसन में बैठे रहने के कारण उनके पैर की नसें चढ़ गईं। एक ओर पेड़ की चींटियां धीरे-धीरे उनके शरीर पर चढ़ गईं थीं, तो दूसरी ओर बहुत देर तक बंदूक पकड़े रहने के कारण उनके हाथ में चींटी चलने लगीं थीं।

पर करें तो क्या ? वह शिकारी थे। शिकारी का आनंद, शिकारी की यंत्रणा, शिकार की प्रतीक्षा में बैठे हुए मन में होने वाली गुदगुदी प्रत्यक्ष अनुभव का ही विषय है। चारों ओर वातावरण शांत हो गया था। अमावस्या के अंधकार से सारा जगत आच्छन्न था। बीच-बीच में वायु के कारण पेड़ों की पत्तियां अद्भुत सरसराहट की ध्वनि उत्पन्न कर रही थीं। कभी-कभी कोई पक्षी चौंककर चीत्कार कर उठता था। कहीं दूर से उल्लू का वीभत्स स्वर सुनाई दे रहा था। इतना होते

हुए भी भय से अण्णा का बुरा हाल नहीं हुआ था। मन ही मन वह गांव के मारुति की प्रार्थना कर रहे थे, "हे बजरंगबली! कुछ भी करिए, पर मेरा बाल बांका भी न हो और वह दुष्ट बाघ ठौर मर जाये। मैं शनिवार को तुम्हारी मूर्ति पर सफेद चंपे के फूलों की माला चढ़ाऊंगा।" यदि सचमुच आज अपने हाथों बाघ मारा गया तो इस शिकार का वर्णन कैसे भड़कीले शब्दों में करना चाहिए, इसका विचार भी बीच-बीच में अण्णा कर लेते थे।

दो घंटे हो गए। सूली पर चढ़ाए जाने वाले आदमी को जैसे घंटों पहले सूली पर बिठा दिया जाय, ऐसी ही अवस्था अण्णा की हो रही थी। होते-होते रात के लगभग बारह बज गए।

तभी कैसा आश्चर्य! एक चतुष्पाद प्राणी बिल्कुल धीरे-धीरे पेड़ की ओर आता दिखाई दिया। अंधेरे में अण्णा को केवल उसकी पदचाप सुनाई दी और अंधेरे में उसके नेत्र भी चमकते हुए से दिखाई दिये। अण्णा ने धड़कते कलेजे तथा कांपते हाथों से बंदूक का निशाना ठीक किया। आज वह बाघ का पहिला शिकार करने वाले थे। 'पुरणपूरी' को आज बड़ी बलि मिलने वाली थी। कांपते हाथों से अण्णा ने बंदूक का घोड़ा दबाया और क्षणभर में ही सारा जंगल गोली की आवाज से गूंज उठा और इधर-उधर छिपे बागवाले घबरा गए। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह था कि जिस आकृति पर अण्णा ने निशाना लगाया था, वह भी गोली लगने से चुपचाप पृथ्वी पर गिर पड़ा। अपनी ही चलाई बंदूक की आवाज से चौंके हुए अण्णा बाघ मारने के विजयोन्माद में सचमुच ही पेड़ से कूद पड़े। बागवाले जोर-जोर से शोर मचाते हुए पर आड़ लेते हुए पेड़ की ओर बढ़ने लगे। पहले से तैयार मशाल उन्होंने जला ली थी। अण्णा की अचूक निशानेबाजी के कारण बाग से कटरा भगा ले जाने वाला बाघ अवश्य ही मार गिराया गया है, इस आनन्द में वे मग्न थे। मशाल धीरे-धीरे पास आने लगी। अंधेरे में ऐसा लगा कि मरा हुआ जानवर बड़ा भीमकाय है। एक-दो दूरदर्शी बूढ़ों ने दूर से ही दो-चार कंकड़ उस पर फेंके। उन्हें पूर्ण विश्वास करना था कि बाघ सचमुच ही मर गया है अथवा नहीं। वीर धारू अण्णा का आनन्द तो अवर्णनीय था। सती को सौभाग्यदान, शराबी को मदिरा, वकील को बड़ा मुवक्किल तथा पुलिस को फौजदारी मिलने पर भी कदाचित् इतना आनन्द न होता होगा।

पर जब सब लोग उस चतुष्पाद के पास पहुंचे, तो उन्हें आश्चर्य का जबर्दस्त आघात लगा। उस बाघ का अद्भुत शरीर देखकर वे खिन्न हो उठे। धारूअण्णा तो उस जादूगरी को समझ ही न सके क्योंकि उस बाघ का रंग काला और सफेद था, उसके कान लम्बे-लम्बे थे। दो क्षण में ही बाग के सब लोगों को इस लम्बे कान वाले बाघ का पूरा-पूरा परिचय मिल गया। वह बाघ न था, अपितु बस्ती के कुम्हार का रात को छूटा हुआ गधा था। बेचारे को अमांगलिक मुहुर्त में

अमांगलिक स्थान पर आने के कारण प्राण त्यागने पड़े थे। पर करें भी क्या ? था तो वह गधा ही।

उस दिन के बाद वरणगांव के आसपास के प्रदेशों में शिकारी धारूअण्णा का आदर कम हो गया, यह बात उन्होंने भी स्वीकार की। पर शिकारी के जीवन में ऐसी घटनाएं तो घटती रहती हैं, अतः वह घबराए नहीं। अण्णा यह नहीं भूल सकते थे कि असफलता ही सफलता की कुंजी है। उनका शिकार का व्यसन चंद्रकला की तरह अथवा गोरे अधिकारियों के वेतन की तरह दिन-दिन बढ़ने लगा और अन्त में एक दिन उन्होंने बाघ का ही नहीं प्रत्यक्ष शेर का वरणगांव के जंगल ही में बड़ी आसानी से शिकार कर डाला।

हां, बाघ नहीं सिंह। सिंह का शिकार। उस दिन घारूअण्णा प्रति-दिन की तरह सुबह से शिकार के लिए निकल पड़े थे। "अरे वह लम्बकर्णी (गधा) क्या खाकर बाघ मरेगा।" कुटिल, ऊधमी गांववालों के इस वाक्-प्रहार की पर्वाह न करते हुए वह सीधा जंगल में चले गये। सदा की तरह उस दिन भी वह दिन-भर जंगल में भटकते-भटकते थक गए। सदा की तरह बहुत-सी गोलियां खर्च करने में भी उन्होंने कंजूसी नहीं की। यह बात दूसरी है कि उनकी गोलियों के रास्ते में आने का साहस किसी भी पशुपक्षी को नहीं हुआ। पर वह अण्णा के लिए कोई नया अनुभव न था। संध्या समय अंधेरा होने पर दिन-भर के थके अण्णा अपनी लाड़ली, पुरणपूरी को कंधे पर लटकाए घर की ओर लौटे।

तभी क्या देखते हैं ?

कितना अद्‌भुत प्रसंग था वह। बेचारे वीर अण्णा स्तब्ध रह गए। बचपन में अण्णा ने पाठ्य-पुस्तक में सिंह के जाल को कुतरनेवाले चूहे की कहानी पढ़ी थी। वे कभी-कभी 'केसरी' भी पढ़ते थे, अतः उसके मुखपृष्ठ पर अंकित सिंह का चित्र देखने के कारण 'सिंह कैसा होता है' इसकी भी उन्हें कल्पना थी। एक झरने के किनारे, गूलर के पेड़ के नीचे, आगे फैले दोनों पैरों पर गर्दन टिकाए एक शेर शान्त बैठा हुआ था। उसकी अयाल और गुच्छेदार पूंछ कितनी शानदार थी ! कहीं अपने को भ्रम तो नहीं हो गया है, यह निश्चय करने के लिए उन्होंने अपनी अंगुली कटकटाकर काट ली, तब जाकर उन्हें विश्वास हुआ कि वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ प्राणी सिंह ही है और वे भ्रम में न होकर पूरी तरह होश में हैं। झट उन्होंने उस सिंह का शिकार करने का निश्चय कर लिया। शिकारी भला अनायास इस प्रकार सामने आए शेर को कैसे जीवित छोड़ सकता है ? और धारूआण्णा क्या सच्चे शिकारी न थे ?

जल्दी-जल्दी अण्णा 'पुरणपूरी' में कारतूस भरने लगे। उस उतावली में बंदूक उनके हाथ से गिर जाने के कारण थोड़ी-सी आवाज भी हुई, पर अण्णा के सौभाग्य से बनराज के कानों में उसकी आवाज कदाचित् गई ही नहीं क्योंकि

उसने अंग हिलाना तो दूर रहा, अपनी मूंछ का एक बाल भी नहीं हिलाया। गिरी हुई बंदूक उठा तथा उसमें कारतूस भर उन्होंने शेर पर निशाना लगाया।

ठहरो। वरणगांव वालो ठहरो। डाकवाडी वालो थोड़ा ठहरो। देखो यह धारूअण्णा क्या चमत्कार दिखाता है। अरे तुम्हारे पुरखों ने भी शेर का शिकार किया था कभी? आज तक तुम लोग मुझे लम्बकर्णी-बाघमारने वाला कहकर मेरा मज़ाक उड़ाते रहे। पर आज—? आज तुम्हारे मुंह में और कुछ न डालता हुआ आश्चर्य की अंगुली ही डालूंगा।

बंदूक का घोड़ा दबते ही गोली छूटी और वरणगांव का सारा जंगल थर्रा गया।

वरणगांव विलासपुर नामक शहर से लगभग पांच मील दूर पर बसा हुआ है। एक बार थोड़ी-सी प्रसिद्धि प्राप्त प्रो० लांडगे का सर्कस जगह-जगह का दौरा समाप्त करने के बाद जैसे-तैसे विलासपुर पहुंचा। वस्तुतः कम्पनी का दिवाला निकालकर स्वयं दिवाले की अर्जी देने के लिए प्रो० लांडगे विलासपुर आए हुए थे। थोड़े दिनों में ही उन्हें अपने बचे-खुचे सामान को भारी हृदय से बेचना था। बुढ़ापे के कारण निरुपयोगी पर शोभा के लिए शेर किसी ने नहीं लिया। अतः वही उनके पास बचा हुआ था। उसका क्या किया जाय, यह प्रो० लांडगे के सामने एक भारी समस्या थी। आज मरे, कल मरे, इसी आशा पर उन्होंने बहुत से दिन बिता दिए थे। किसी धनिक बूढ़े के मूर्ख पुत्र ने भी ऐसी प्रेमल आशा न संजोयी होगी। एक दिन प्रो० लांडगे को बड़ी अच्छी तरकीब सूझी और उन्होंने तुरन्त ही उसे कार्यान्वित कर डाला। दो घनिष्ठ मित्रों की सहायता से उन्होंने उस शेर को एक लारी में डालकर चुपचाप जंगल में ला पटका और मुक्ति की सांस ले वह मंडली बड़ी सफाई से लौट आई। प्रो० लांडगे ने इतनी फुर्ती स्वयं सर्कस में भी नहीं दिखाई होगी। बेचारा वृद्ध शेर जानवर होते हुए भी मानों सारी बात समझता था। अपने द्वारा किसी समय धन कमाने वाले अपने स्वामी के ऐसे कृतघ्नतापूर्ण अन्तिम व्यवहार से क्षुब्ध होकर ही मानों थोड़ी देर में उस सिंह ने गूलर के पेड़ के नीचे अपने प्राण त्याग दिये और स्वर्गारोहण किया।

धारूअण्णा ने जिस शेर को अपनी गोली का निशाना बनाया था, वह यही शेर था, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अण्णा सिंह के पास गए। सिंह को मरा देखकर उन्होंने अपने भाग्य को सराहा। वह पागलों की तरह शोर मचाते हुए गांव में आए। गला पड़ने तक उन्होंने जोर-जोर से गांव वालों को अपने शेर के शिकार की बात सुनाई। पहले तो उन्हें शंका हुई कि कदाचित् अण्णा पागल हो गये हैं। फिर भी 'यह जो कुछ कहते हैं।' उसकी परीक्षा तो कर ही लेनी चाहिए, यह सोचकर कुछ लोग लालटेन, मशाल आदि लेकर जंगल में गए। अपनी पत्नी

को भी अण्णा वहां ले गए। गूलर के पेड़ के नीचे मृत सिंह को देखकर गांव वालों को बड़ी प्रसन्नता हुई। अण्णा की पत्नी सारे प्रसंग को बड़ी सावधानी से देख रही थीं। उन्होंने शेर की बड़े निकट से परीक्षा की और एकदम जोर से चीख पड़ीं, "इश्श। शेर के शरीर पर गोली का जख्म तो दिखता ही नहीं?" पत्नी का यह कथन सुन सारी मंडली क्षण भर को स्तब्ध रह गई और फिर शेर के शरीर को देखने लगी। कुछ गड़बड़ाए हुए अण्णा बोले "अरे, जब मैंने गोली चलाई थी तब वह जंभाई ले रहा था, अतः वह मुंह के रास्ते उसके पेट में चली गई होगी। फिर जख्म कैसे दिख सकता है उसके शरीर पर?" समयसूचकता शिकारी का विशिष्ट गुण होता है न!

तभी उनकी पत्नी पुनः जोर से हँसती हुई गूलर के तने की ओर संकेत करती हुई बोलीं, "वह देखो, गोली तो पेड़ में लगी है।" वस्तुतः शिकारी अण्णा द्वारा चलाई गोली शेर को न लगकर पेड़ में लगी थी।

तो भी अधिक छानबीन न कर तथा यह समझकर कि अण्णा का शेर से कुछ न कुछ सम्बन्ध तो है ही, गांववालों ने दूसरे दिन प्रातः अण्णा और शेर का जुलूस गांव भर में निकाला। अण्णा द्वारा शेर के शिकार की बात दावाग्नि की तरह चारों ओर फैल गई। विलासपुर के एक समाचारपत्र में अण्णा का शेर एवं 'पुरणपूरी' के साथ एक फोटो भी प्रकाशित हुआ।

प्रो० लांडगे ने संयोगवश वह फोटो देखा तो उन्हें पल भर को ऐसा लगा जैसे सर्कस का तम्बू ही भहराकर उनके सिर पर गिर पड़ा हो।

वरणगांव के धारूअण्णा आज भी किसी की पर्वाह न कर शिकार के हेतू जंगल में घूमते हैं। और जाड़े के दिनों में उसी शेर की खाल पहनकर घूमना भी कभी नहीं भूलते।

रविवार

वी० वी० बोकील

विगत तीस वर्षों से भी अधिक से अनवरत साहित्य-सेवा में रत श्री बोकील उच्च कोटि के उपन्यासकार, कथा-लेखक तथा नाटककार हैं। अब तक के रचे उनके ग्रन्थों की संख्या लगभग ८२ है। उनके उपन्यासों में यदि विषादपूर्ण सामाजिक विश्लेषण दृष्टिगत होता है, तो अनेक कथाओं में सामाजिक व्यंग-चित्र मिलते हैं। यद्यपि अधिकांश मराठी पाठकों में वह अपने विनोदपूर्ण चरित्र-चित्रण तथा स्पष्ट कथन के लिए प्रसिद्ध हैं, तथापि उनके चरित्र-चित्रण के पीछे व्यंग तथा कचोटने वाले एवं स्पष्ट संभाषणों के पीछे विषाद की कटुता झांकती दिखाई देती है। उनकी एक अन्य विशेषता बाल-मन का नवीन विश्लेषण भी है। प्रस्तुत कथा उनके कथा-संग्रह 'थोर तुझे उपकार' से संकलित की गई है। इसमें उन्होंने आधुनिक जीवन की व्यस्तता, पड़ोसियों के अनुचित हस्तक्षेप और रिश्तेदारों की गड़बड़ पर व्यंग कसा है। उनके विनोद की विशेषता है कि वह मनोरंजन के साथ-साथ पाठक को जीवन की यथार्थ झांकी भी प्रदान करता चलता है। उनका क्षेत्र सीमित है। उन्होंने पूना के सदाशिव पेठ और नारायण पेठ को ही चुना है और वहां के भी केवल मास्टर या क्लर्क ही उनकी कथाओं के विषय बन पाए हैं।

बहुत दिन से एक रम्य-स्वप्न मन में बसाये हुए था। पर किसी न किसी कारण वह आज तक साकार नहीं हो पाया। इस रविवार को मैंने निश्चित कर लिया था कि चाहे आकाश ही क्यों न टूट पड़े, स्वप्न को साकार बनाकर ही छोड़ूंगा (आकाश कभी टूट कर नहीं गिरेगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास था।) अभिप्राय यह था कि चाहे कितनी ही अड़चनें क्यों न आएं, मैं डरूंगा नहीं, पीछे नहीं हटूंगा।

रविवार आलस्य में बिताना था!

खाना पीना और लोट लगाना...बस! बिल्कुल मनमाने ढंग से! कहीं भी

बाहर जाना नहीं है। मालतीं को पहिले से ही कह दिया था कि वह भूलकर भी सिनेमा का नाम न ले, नहीं तो मैं चिढ़ जाऊंगा।

वैसे वह मेरे चिढ़ने की रत्ती भर पर्वाह नहीं करती। विवाह को दो-चार वर्ष वीते कि पत्नी पति के सम्बन्ध में राई-रत्ती जान लेती है। क्या कर लेंगे? गुस्सा होंगे, चिड़चिड़ाएंगे, दुखी होंगे, मुंह में झाग आने तक चीखेंगे-चिल्लाएंगे। खुशी से चिल्लाएं! थक कर अपने आप चुप होकर बैठ जाएंगे। संध्या होते-होते अपने आप दुम हिलाने लगेंगे! इस प्रकार की विचारधारा बन जाती है। हमारी श्रीमती जी की भी यही धारणा बन चुकी थी। मैं उसे अच्छी तरह पहिचान गया हूं न अब!

मैं क्रुद्ध होकर बोलने लगूं, तो एक अक्षर भी नहीं बोलेगी। बिल्ली की तरह निश्शब्द मेरे चरणों में चक्कर काटती रहेगी। मैं जो मांगूंगा, चुपचाप दे देगी, पर जहां मैं शान्त हुआ कि सब बदला ले लेगी।

इस प्रकार उसकी व्यवहार-पद्धति को ध्यान में रख मैंने शनिवार की रात को ही उसे ठोक-पीट कर समझा दिया था, मैंने कहा था "देखो जी, कुछ भी कहो, मैं साफ बताए देता हूं कि कल मैं तुम्हारी एक न सुनूंगा और न कोई काम करूंगा···"

"स्वीकार है। मेरा कुछ भी, कैसा भी काम आप मत कीजिएगा। चाय प्लेट में उंड़ेलकर तुम्हारे मुंह से लगा दूंगी, फिर तो ठीक है, न! पर चाय सटकने का तो काम आप कर लेंगे, न? किसी काम की बात कहते ही आप मेरे पुरखों का उद्धार करने लगेंगे, यह मैं जानती हूं।"

उसके वचनों की निरीहता देखकर मैं उदारता पूर्वक बोला—

'चाय प्लेट में न उड़ेलो, तो भी काम चल जायगा।"

"बड़े भाग मेरे······।" यह कह वह हँस पड़ी।

क्या मोहक हँसी है। उसके इसी हास्य पर तो मैं मुग्ध हो गया था। कोई स्त्रियों के दांतों की तुलना कुंदकली से, कोई अनार के दानों से···कोई किसी से और कोई किसी से करता है। हमें यह उपमाएं और उनका झंझट समझ में ही नहीं आता। पर, इतना सच है कि माला के हँसते समय बस यही मन करता है कि उसके मुख की ओर निरन्तर देखता रहूं। और यद्यपि उसे अच्छी तरह पता है कि मैं टकटकी लगाकर क्यों देखता रहता हूँ, तथापि भोलेपन का स्वांग धारण कर वह सदा पूछने लगती है, "इश्श! मेरी ओर ऐसे क्यों देखते हो?"

मैं भी कोई कम थोड़े ही हूं! तुरन्त ही बात बदलते हुए कहता हूं, "तुम्हारी नाक पर यह काला-सा क्या लगा है, वही देख रहा हूं···"

फिर किस प्रकार संकुचित हो उठती है, न पूछिए!

अब तो आप उसकी चतुराई समझ गए होंगे, मेरे मुख से अपनी स्तुति सुनने

के लिए ही यह सारी खटपट होती है।

अ रे ऽ ऽ

हम संसारी पुरुषों को पत्नियों के ये दांब-पेच सदा याद रहते हैं।

अस्तु, शनिवार की रात को इस बात की ठीक व्यवस्था करने के उपरान्त कि रविवार को सारा समय पूर्ण आलस्य में बिताना है, मैं सो गया।

आप कहेंगे यह मेरा क्या नवीन उपद्रव था ?

माला का भी यही प्रश्न था, केवल शब्द तनिक भिन्न थे। हँसते-हँसते बोली, "आज यह क्या नया पागलपन सवार हुआ है ?" मैं गम्भीरता पूर्वक बोला, "पागलपन कहो, स्वांग कहो, उपद्रव कहो, इसे कुछ भी नाम दो, पर आज मैं तुम्हारी एक नहीं सुनूंगा। भगवान की कसम तुम्हीं बताओ, आज विवाह को चार वर्ष हुए, क्या एक दिन भी फ़ुर्सत से बातचीत करने और मजे से समय काटने का अवसर मिला है ? हमने क्या किसी दिन भी साहित्य और कला पर चर्चा की है ?"

"इश्श ! गर्दन को झटका देती हुई बोली, तो क्या चार वर्ष तक हम ओठ सीयें हुए बैठे रहे हैं ?"

"हां, मुझे तो ऐसा ही लगा है। माला, क्षमा करना, तुम्हारा बौद्धिक स्तर अत्यन्त निम्न है। क्या रोज रोटी-दाल की बातें तुम्हें साहित्य-कला सम्बन्धी चर्चा प्रतीत होती हैं ? धन्य है तुम्हारी बुद्धि को !"

"बस रहने दो ! बत्ती बुझा दो। मुझे नींद आ रही है। अगर तुम्हें बातें करने की हड़कल उठ रही है, तो बाहर आंगन में चले जाओ और सारे पड़ौसियों को एकत्र कर उनके सामने व्याख्यान देते रहो।"

मन ही मन मुझे उसकी अरसिकता पर दया आ गई। साधारण अनुभव यह है कि यदि स्त्री का मुख आकर्षक हुआ, तो उसकी बुद्धि कम होती है। अच्छा ही हुआ। यदि सारी सुन्दर स्त्रियां बुद्धिमती होतीं, तो पुरुषों को इस संसार से भागना ही पड़ जाता।

इस पर मैं कुछ न बोला और चुपचाप सो गया।

भगवान सहस्ररश्मि, नहीं जी वह अपना सूर्य ! सीधे-सीधे यह न कहकर कि सूर्य निकला, व्यर्थ का शब्द-जंजाल किस लिए ! कुछ लोगों को आदत ही होती है—पानी न कहकर पानीयम् कहते हैं। मूर्ख कहीं के !

हां, तो क्या कह रहा था ?

हां, सूर्य निकला, रविवार शुरू हुआ, धूप देखकर उठने का इरादा कर ही रहा था कि स्मरण हो आया, आज रविवार है। अतः तुरन्त दूसरी ओर करवट लेकर लेट गया। आंखें मिचमिचाते हुए देखा कि मालती का बिस्तर खाली पड़ा है। जरा बुरा लगा। मुझे तो पड़े-पड़े आज उसे आज के दिन का महत्त्व

समझाना था। पर वह उठकर चली भी गई थी। पुरुषों का मन मारने में स्त्रियों को क्या मजा आता है, भगवान जाने! आज उसे अच्छी तरह बताना चाहता था कि हे अज्ञ ललने! रविवार एक कंघी है। छः दिन तक जमे हुए मैल को निकालने वाली सुन्दर कंघी, विचारों को नया मोड़ देने वाली एक कंघी, इत्यादि इत्यादि।

पर भाग्य तो देखिए! उसे सूझता ही नहीं कि चार अंगुल की दूरी पर ही साढ़े तीन हाथ का ज्ञानकोश पड़ा हुआ है। बगल में छोरा लिए, गांव में ढिंढोरा पीटने वाली कौन बुद्धू स्त्री है? वह कोई भी क्यों न हो! पर, उसकी बहिन मेरे घर में अवश्य है। समझ गए न?

जरा आंख लगने वाली ही थी कि महामाया आकर गरजने लगी, "हां जी! साढ़े आठ बज गए हैं। मैं कहती हूं, अब उठो न और आशा के अनुकूल उसने मेरी चादर को हाथ लगाया। पर मैं तो पहिले से ही सावधान था। झट चादर कसकर दबा ली।

"साढ़े आठ? ऊं-हूं। घड़ी आधा घंटा तेज कर दी दिखती है···"

"आपने ही तो आधा घंटा सुस्त कर दी थी, वही मैंने आज ठीक कर दी है। अब उठोगे या यूंही बड़बड़ाते रहोगे? नहीं मानोगे, तो पानी लाकर अभी डाल दूंगी···"

बच्चे को जिस प्रकार पुचकारते हैं, उसी प्रकार उसे पुचकारते हुए बोला, "माले—मालती, ऐसा झगड़ा करना ठीक नहीं! देखो आज रविवार है। रविवार! रविवार को क्या तू मजाक समझती है? अरे! रविवार तो एक साबुन है। ठहर, थोड़ी गल्ती हो गई। साबुन नहीं कंघी है।"

"तुम ऐसे थोड़े ही मानोगे?" यह कहकर वह तुरन्त घर में गई और सचमुच ही पानी की बाल्टी ले आई और फिर पहलवान की-सी मुद्रा में खड़ी होकर बोली, "अच्छा, अब उठोगे कि नहीं? चाय ठन्डी हो रही है···"

उठकर बैठ गया। भला कानों पर नगाड़ों जैसी आवाज़ होने पर नींद कहां से आती! पर बिस्तर नहीं छोड़ा। पराभव स्वीकार करते हुए भी सिंहासन से चिपटा रहा, ठीक पुराने राजाओं की तरह। बोला, "माले! चाय रोज की ही तरह होगी।" उसने उसका गलत अर्थ लगाया और बोली, "क्या मतलब? क्या मैं तुम्हें रोज ठंडी चाय देती हूं?"

"अरे! मेरा यह मतलब नहीं। मेरा कहना तो यह है कि चाय तो मैं रोज ही पीता हूं। तुम्हारे द्वारा बनाई हुई अमृत सरीखी चाय तो प्रतिदिन ही मिलती है। पर, रविवार क्या रोज आता है?"

और फिर एकदम स्मरण हो आने के कारण बोला, "अरे हां, हमने कल निश्चय किया था? भूल गईं? चलो निकलो बाहर, फौरन निकल जाओ यहां

से। मैं नहीं उठूंगा। लेकिन ठहरो, यहां आओ, मैं तो उठूंगा ही नहीं तुमको भी नहीं उठने दूंगा···"

उसे हाथ पकड़कर पास बिठाने लगा, वह हाथ छुड़ाने का प्रत्यन करने लगी, पर पुरुषों का शौर्य कोई ऐसा-वैसा थोड़े ही होता है ? वह अपने को संभाल न पाई और मेरे ऊपर गिर पड़ी···और···और द्वार पर धोबिन खड़ी दिखाई दी ।

बिच्छू ने काट लिया हो, ऐसी मुद्रा में माला उठ खड़ी हुई। मुझे भी तनिक लज्जा अनुभव हुई और क्षण भर को क्रोध भी आया उस धोबिन पर। सदा सुबह के समय ही आ खड़ी होती है।

आंचल मुंह पर रखती हुई धोबिन माला से बोली, "कपड़े देने हैं क्या ?" पर सदा की आदत के अनुसार मैं चिल्लाया, "रविवार को आना।" मालती हँसने लगी। धोबिन ने भी उसका साथ दिया और तब मुझे अपनी गल्ती मालूम हुई। जो काम न करना हो···उसे रविवार पर टाल दो। इस आदत पर मुझे स्वयं हँसी आई। अब तो उठना ही पड़ गया, क्योंकि मालती पर मेरा विश्वास नहीं था। करें तो क्या ? वह जो भी कपड़ा हाथ लगता, उसी को धुलने के लिए डाल देती है न !

कल ही ट्रंक से निकाले हुए कोट को भी वह भट्टी के सुपुर्द करने में नहीं हिचकती ! अतः मैं यह काम उसको नहीं सौंपता। और यह भी सत्य है कि एक बार मजा गया, तो बस गया ! बासी कढ़ी गर्म नहीं करनी चाहिए, यह उक्ति कोई गलत थोड़े ही है। धोबिन चली गई थी। मालती सामने खड़ी थी। फिर भी वह लहर न आई, जो थोड़ी देर पहिले आई थी।

उसे रसोई में ढकेलते हुए बोला, "चल, अपनी चाय उड़ेल दे मेरे गले में।"

मेरे चाय पीते समय वह बोली, "मैं कहती हूं कि इस प्रकार शरीर से लिपटने का ऊधम अच्छा नहीं···"

मैं उसकी बात पर ध्यान न देकर बोला, "वाह। फर्स्ट क्लास चाय है। इसे अच्छा कौन नहीं कहेगा ?"

मालती बोली, "अब धोबिन मन में क्या कहती होगी। अब वह गांव भर में उसका ढिंढोरा पीटे बिना थोड़े ही रहेगी। तभी तो कहती हूं···"

"तुम जो कुछ कहती हो, वह मेरी समझ में नहीं आता।" मैं बुद्धू की तरह बोला और प्लेट-प्याला नीचे रख कर उठ पड़ा।

"पानी गरम हो गया है।"···मालती बोली।

मन ही मन बोला, "मैं भी गर्म हो गया हूं। पर लाभ क्या ? मुझे अकल आये तब न !"

"स्नान करलो और बाहर जाओ, ठीक है न !"

मैं चौंक कर खड़ा हो गया और राक्षस की तरह चीखा, "बाहर ? कहां जाऊं मैं ? एक बार कह दिया, आज मैं बाजार नहीं जाऊंगा। नहीं का मतलब है, नहीं। अब एक भी अक्षर न बोलना। आज रविवार है।"

जैसे पालतू बिल्ली पैरों में लिपटती है, उसी लाड़ से वह मेरे निकट आई। धीरे से मेरा हाथ अपने हाथों में लिया और बोली, "कितने अच्छे हो !" उसका हाथ झिड़कते हुए बोला, "हूं ही, पर तू मुझे यह क्यों बता रही है ? और हां, यह शरीर से लिपटना क्या ठीक है ? अभी धोबिन आयी थी। अब कहीं कलई-वाला न आ जाय। उसने देख लिया तो गांव में ढिंढोरा पीटे बिना रह जायगा क्या ?"

पुनः मेरा हाथ पकड़ कर वह बोली, "इश्श ! नाराज हो गए ? छिः छिः ?"

"प्रसन्न हूं ! पुत्र प्राप्ति का वर मांग डालिए···" मैं सुध भूलकर चिल्लाया।

"इश्श !" वह बोली, और हँस पड़ी।

मैं भी हँसने लगा और उसके मुख की ओर देखता रहा। क्या इसीलिए रूपवती भार्या शत्रु कहलाती है कि पति को क्रोध करने की भी स्वतंत्रता नहीं रहती ?

इसके बाद गले में हाथ डालती हुई मालती बोली, "कहती हूं, नाराज मत हो। आज मां खाना खाने आएगी···"

भ्रांति हो जाने के कारण मैं बोला, "अरे, पिछले महीने तो मां का श्राद्ध किया ही था। अब फिर किसलिये ? क्या प्रति मास किसी सौभाग्यवती को भोजन कराने का नया निश्चय कर लिया है···?"

"इश्श ! तुम्हारी नहीं, मेरी मां। यदि हो सके तो बन्टू और शशी को भी ले आएं, यह मैं कह आई हूं···"

एकदम आवेश में आकर मैं बोला, "ठीक ! मां, भाई, बहन ! अरे तुम्हारे बाप ने ही क्या पाप किया है ? उनको भी निमंत्रण क्यों नहीं दे आई ?"

"इश्श ! पिता जी को निमंत्रण देना क्या मुझे शोभा देता है ? तभी तो मैं कह रही थी कि झटपट स्नान कर लो और पिता जी को खाने के लिए कह आओ ?"

अब बताइये, है कि नहीं मेरी पत्नी चतुर !

कल इतना समझाया था, फिर भी आज वह रिंगमास्टर की तरह चाबुक फटकारने के लिए तैयार थी।

दोनों हाथों से सिर पकड़ कर बैठ गया। मालती और भी अधिक प्रेम प्रदर्शित करती हुई बोली, "क्या मुझसे कोई गलती हो गई ?"

"नहीं, नहीं, भला तुमसे गल्ती हो सकती है कभी ? दुनियां में गल्ती करने वाला गधा तो केवल पति होता है ! पर हे प्राणेश्वरी ! आज ही यह भोजन कराने की तुम्हें कैसे सूझी ? क्या अन्य दिन हड़ताल रहती है ?"

इस पर वह तड़क कर दूर हट गई और क्रोध में बोली, "अभी ऐसे ही जाती हूं और मां से कहे आती हूं कि यदि कहीं भी खाने को न मिले, तो कुएं में कूद पड़ें, पर हमारे घर की ओर रुख भी न करें। हमारे इन्हें यह अच्छा नहीं लगता। फिर आईं—तो याद रखना···"

महिषासुरमर्दिनी को मैंने प्रत्यक्ष नहीं देखा है। वैसा भाग्यशाली मैं कहां? पर मालती की उस समय की मुद्रा देखकर कल्पना अवश्य कर सकता हूं।

एकदम गाय बनकर बोला, "यह बात नहीं, पर मैं कह रहा था···"

"अब एक अक्षर भी मत बोलो। मुझे कुछ नहीं सुनना है।"

लो हो गया। रविवार, साबुन, कंघी। यह मेरी सारी मधुर कल्पनाएं हवा में उड़ गईं। चिढ़ गया, खूब नाराज हुआ, मुंह में जो आया सो बक गया।

पर बाद में स्नान किया, बाजार से सामान भी लाया और ससुर महोदय को निमन्त्रण भी देने गया। निमन्त्रण देकर घर लौटा।

मालती ने मुझे देखते ही हाथ से मस्तक का पसीना पोंछा और बड़े विनीत स्वर में बोली, "क्या जरा गोला कस दोगे?" मन में तो आया कि कह दूं कि मेरे सिर से दे मार उसे। पर बोला कुछ नहीं। वर्ना देवी जी की चंडी फिर चढ़ जाती और मेरा रविवार का पवित्र वातावरण गदला हो जाता।

गोला कस देने पर बोलीं, "जरा आलू और छील दीजिए।" अब मेरे क्रोध का पारावार न रहा, बोला, "क्यों, तुम्हारा इरादा क्या है? आलू छील दूं? थोड़ी देर में कहोगी चावल धो दो—"

"थोड़ी देर में क्यों? अभी देती हूं ताकि अंगीठी बेकार न जाय।"

मित्रो! अब बताओ मैं क्या करता?

झट से उठ खड़ा हुआ, आवेशपूर्वक सिंह की सी ऐंठ में। इतने में मालती के मुख से चीख निकल गई। गल्ती मेरी ही थी। पटला उसके पैर पर गिरा दिया था।

पुनः चुपचाप बैठ आलू छीलने लगा, क्योंकि क्रोध करने या रूठने के कारण हाथ-पैर का अपघात हो और उसका फल मुझे भुगतना पड़े, इससे तो हजारगुना यही अच्छा था कि मैं आलू छील दूं।

बारह बजे का निमंत्रण था, पर सासू जी तथा बच्चे आये साढ़े बारह बजे और पैन्शनर ससुर साहब का आगमन हुआ एक बजे, खाना समाप्त होते डेढ़ बज गया। अर्थात्, जैसे प्रातः का समय व्यर्थ गया, वैसे ही दुपहरी भी।

एक आशा अभी तक मन में टिमटिमा रही थी कि खाना खाने के बाद यह मंडली तुरन्त चली जायगी, तो कम से कम तीसरे पहर को तो सोने को मिलेगा।

पर भोजन के बाद ससुर साहब जहां बैठे थे, वहीं ऊंघने लगे। इन पेन्शनर बूढ़ों को ऊंघने की बड़ी बुरी आदत है। रात में दमे के कारण जागरण करेंगे और

दिन में झपकी ले लेकर हम तरुणों को कठिनाई में डाल देंगे।

हां, यह कठिनाई ही तो है ?

अब आप ही देखिए कि उन जामवंत के पलंग पर उल्टे-तिरछे पसर जाने पर भला मैं क्या करता ?

अतः कुछ नहीं किया। केवल बाहर कुर्सी पर बैठा-बैठा मां-बेटी की अन्दर होती हुई बातों को कान लगाकर सुनने लगा !

मालती कह रही थी, "वैसे तो अच्छे हैं, पर गुस्सा चढ़ता है, तो बस पूछो मत···"

मन में सोचा, "यह क्या ? मेरी निन्दा कर रही है ? इसे सती-साध्वी कौन कहेगा ?"

उसकी मां ने कहा, "अरे ! ये पुरुष सभी एक-से होते है, पुचकारने लगेंगे तो भी बिना खरोंचे नहीं मानेंगे। पर कुछ भी कहो, हमारे जमाता बड़े शांत स्वभाव के मिले हैं। तेरा कितना ध्यान रखते हैं ! अपना बड़ा सौभाग्य समझ बेटी।"

मन में सोचा कुछ भी हो, चलो एक स्त्री तो है इस संसार में जो मुझे अच्छा कहती है।

इस पर मालती हँसते हुए बोली, "आज आलू उन्होंने ही छीले थे।"

"अरे सच ?"

"हां, और फिर पूरी तलने बैठे थे···"

"इश्श। तू बड़ी नटखट होती जा रही है। पुरुषों से कहीं यह काम कराया जाता है। तुझे स्वयं सोचना चाहिए···"

तीन बजे मां-बेटी बाहर आईं। सास जी ने अपने पति को एक शाब्दिक धक्के से इस जागरण के जगत में ला पटका।

साढ़े तीन बजे आगे का द्वार बन्द कर भीतर आया। मालती घर में कुछ धरा-उठाई कर रही थी। उसे पुकारा। पन्द्रह बार पुकारने के बाद महारानी मुंह पोंछती हुई बाहर आई।

साड़ी से मुंह मत पोंछो कहने पर लज्जा से झट साड़ी नीचे डाल दी। सुपाड़ी का टुकड़ा मुंह में डालती हुई बोली, "मां बड़ी प्रसन्न हुई, कहने लगी···

मैंने वह सब सुन लिया था।

"चोरी-चोरी न !"

"हां अपने ही घर में अपनी निन्दा यदि चोरी-चोरी सुन ली, तो इसमें इतना फुंफकारने की क्या जरूरत है ? जाने दो, इधर आकर बैठो न···"

"नहीं, मैं इधर ही ठीक हूं।"

"अरे इतनी दूर बैठोगी, तो मुझे लाउड-स्पीकर लगाकर बोलना पड़ेगा। कुछ गपशप करने का विचार है, पास आकर बैठो न···"

उल्टे दो कदम और दूर चली गई और बोली, "वही सुबहवाला साबुन, कंघी-कंघा मेरे सिर पर पटकोगे और क्या ? नहीं बाबा। उससे तो मैं यहीं अच्छी !"

पर मैं कृत-निश्चय हो उठा, उसका हाथ पकड़ा और पास खींचने लगा।

तभी द्वार पर थाप ! चूड़ियों की आवाज। कोमल स्वर, "अरे मालती बाई। द्वार खोलो न ! छिः दिन में द्वार बन्द कर क्या कर रही हो ?"

अब सन्देह न था। वही सामने रहने वाली नकटी कुंदा थी। आवाज से ही पहचान गया। हमेशा की तरह आ टपकी थी। इतना गुस्सा आया कि पूछो मत। यदि पुरातन काल का ऋषि-मुनि होता, तो शाप देकर उसका प्राणान्त ही कर देता। अरे, यह भी कोई शिष्टाचार है ? पति-पत्नी के साहित्य-कला-संभाषण में जो विघ्न डालता है, उसे सात जन्म तक चमगादड़ बनना होता है, ऐसा शास्त्रों का बचन है।

मेरा हाथ ढीला पड़ते ही मालती मुस्कराती हुई दरवाजे की ओर भागी।

द्वार खुलते ही कुंदा की आवाज सुनाई दी, "अरे गलत समय पर तो नहीं आ गई न ? और फिर मुझे देखते ही दांतों तले उंगली दबा कर रसोई-घर की ओर भाग गई।

उसके हाथ में लटकते हुए ऊन के पिन्डे को देखते ही मैंने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। हमारी मालती का यह अवकाश समय का धन्धा है। भगवान जाने कहां सीखने गई थी, पर आज सारी गली की स्त्रियों की वह मास्टरनी बनी हुई है। अतः अब घण्टे-दो-घन्टे तक छत की कड़ियों की ओर देखते रहने के अतिरिक्त और कोई काम मेरे पास न रह गया था।

क्षणभर को सोचा, अरे पत्नी नहीं तो न सही।

आराम से दिन बिताने की योजना में पत्नी पास बैठे ही, यह कोई आवश्यक नहीं ? चार वर्ष पूर्व जब वह घर में ही न थी, तब भी उसके बिना क्या अटका था ?

इस विचार से तनिक-सा उत्साहित हो मैं आंखें बन्दकर पलंग पर लेट गया। एकदम हलका-हलका-सा लगा। स्त्री जीवन में कोई अनिवार्य नहीं, ऐसी भी अनुभूति हुई। प्राचीन काल में भी तो ऋषि सहस्र वर्ष तक तपस्या करते थे ! उन्हें कब पत्नी की याद सताती थी ?

बीच में ही चौंक कर नेत्र खोले। वैसे स्त्री की आवश्यकता नहीं, पर विचार उसी का कर रहा था !

छिः ! कुछ भी कहो ! स्त्री सरीखा पदार्थ त्रिभुवन में नहीं है। कुछ भी बड़बड़ाओ, भक्तिभाव से सुनती रहती है। अय्या कहेगी, इश्श कहेगी पर इस समय किसको लाड़ करूं ? खूब चिड़चिड़ाया, घायल सिंह के सामान गले से अद्भुत् आवाज निकालते हुए निरन्तर इधर से उधर चक्कर काटता रहा।

साढ़े पांच बज गए। पर मालती की शिष्या अब भी कुछ नहीं सीख पाई थी। इतना बुद्धू शिष्य भगवान करे किसी भी गुरु को न मिले !

एक बार सोचा भीतर जाऊं और उससे साफ कह दूं।

पर यह क्या ? मुझे साहस ही न होता था। इसका अर्थ यह नहीं कि मैं उससे डरता था। बस यही चिन्ता थी कि मालती क्या कहेगी। शिष्टाचार, लाज-शरम आदि विषयों पर उसने मुझे इतनी सुनाई होती कि कुछ पूछो मत।

इतने में ही पड़ौस के नारायणराव तौंद हिलाते हुए जाते हुए दिखे। मैंने सोचा यह युक्ति अच्छी रहेगी, मालती को तंग करने की। इसे अन्दर बुला लूं। चाबी लगाते ही इसका ग्रामोफोन शुरू हो जायगा। उसकी बड़बड़ मालती को तनिक भी पसन्द नहीं। बस उसकी नाक पर बिठाकर नारायणराव की चखचख शुरू करा दूं।

नारायणराव पुकारते ही आ गया।

घर में भेड़ की तरह दबा-दबा रहता है। किसी पाठशाला में मास्टर है। वहां लड़कों पर इसका बड़ा दबदबा और आतंक है। पर घर में पत्नी का आतंक इस पर है। रोज मैं देखता हूं न !

इनका प्रिय विषय है बाजार-भाव, मंहगाई और वर्तमान सरकार। वैसे पत्नी के आंखें निकालते ही इसकी छाती धड़-धड़ करने लगती है, पर सारे रिश्वतखोर अधिकारियों को फांसी देने का इसका विचार है।

अन्दर आते ही नारायणराव बोले, "क्या आज घर में ही हो ? कहीं सिनेमा बगैरा नहीं गए ?"

"आज रविवार है न। कहीं नहीं गया, जरा आराम करने का···।"

एकाएक आवेश में महाशय जी बोले, "आराम ? और दफ्तर में रोज क्या करते हो ?"

"अरे दफ्तर में कौन आराम करने देता है हमको, नारायणराव ?"

"बातें मत बनाओ। आजकल सरकारी नौकरों को दफ्तर में आराम करने के अतिरिक्त और दूसरा काम ही क्या रह गया है ? तनख्वाह मिलने के दिन बिजली की फुरती से हाथ आगे पसार देते हैं। बाबू साहब ! यह अच्छी स्वतंत्रता है। आजकल हम स्वतंत्र हो गए हैं न ! फिर काम क्यों करे। 'आराम करना हराम है' के विज्ञापन-पत्र दीवार पर चिपका दो और फिर मजे में आंखे बंद कर सोओ।"

"खैर, आजकल बाजार के क्या समाचार हैं ? मैथी की गड्डी सस्ती हुई की नहीं ? प्याज का भाव बढ़ गया है, या कम ?" मैं बीच ही में बोला।

"अरे सब्जी सस्ती नहीं होगी।"

"क्यों जनाब ?" आश्चर्यान्वित होते हुए मैं बोला।

"अरे, रुपये की कीमत घट गई है न ? नोट छापते रहते हैं और फिर कहते हैं..."

घड़ी ने सात का घंटा बजाया जिसे सुनकर मैं होश में आया। मालती नाक-भौं सिकोड़े द्वार पर खड़ी थी। मैंने संकेत से पूछा।

उसने संकेत समझकर कहा, "उसे गए तो एक घण्टा हो गया...।"

अब मेरे सामने समस्या खड़ी हो गई कि उस मास्टर को कैसे टरकाया जाय ? उन्होंने तो अब विश्व की राजनीति पर बातें करनी आरम्भ कर दी थीं। उन्हें अब रोकना असम्भव था।

पश्चाताप हुआ। उद्देश्य था मालती को चिढ़ाना, पर अब तो वह महाशय मुझे ही सता रहे थे।

लगभग एक घन्टा तक गम खाना पड़ा। अन्त में असहाय मुद्रा में मालती की ओर देखा; वह जगह से उठी और थोड़ी देर में द्वार तक जाकर लौट आई और बोली, "आनन्दीबाई बाहर आई खड़ी हैं और नारायणराव जी को पूछ रही हैं...।"

यह सुनते ही नारायणराव मुंह और आंखें दोनों बंद कर अपनी जगह से उठे, जैसे उन्हें भूत दिख गया हो और मुझसे बोले, "फिर कभी बुला लीजिएगा ? हमारी इनका स्वास्थ्य जरा नाजुक है। समय पर खाना खाने नहीं बैठता, तो मस्तक में पीड़ा होने लगती है इनके। फिर पित्त भी इनका बिगड़ा हुआ है। अरे भाई, अपनी पत्नी का ध्यान हम ही नहीं रखेंगे, तो और कौन रखेगा ? क्यों न ? भैया, तुम्हारे मज़े है। राजा-रानी दो ही व्यक्ति हो। और उसमें भी मालती बाई का स्वभाव बहुत ही मधुर है।"

यह कहते-कहते वह द्वार तक गए, पर तुरन्त पीछे लौटे जैसे कोई भूली बात याद आ गई हो और मेरे कान में कहने लगे, "अरे एक बात तो कहनी रह ही गई ! बाबूराम ! मालती बाई गाना बड़ा सुन्दर गाती हैं। हमने सुन रखा है। साने की पुत्रवधू की मंगलगौर के अवसर पर इन्होंने जो गाना गाया था 'तो आवडतो सर्वांना' (वह सबको अच्छा लगा) वाह ! क्या गला पाया है !"

नारायणराव के चले जाने पर मालती रोषपूर्ण मुद्रा में बोली, "लबरा मरा !"

मैं चौंक कर बोला, "अरे वह मास्टर जी हैं। गुरुजनों को गाली देना उचित नहीं..."

"तो वह आंखें फाड़कर मेरी ओर क्यों देखता रहता है ?"

ये स्त्रियां भी बड़ी अद्भुत होती हैं। इनकी ओर कोई देखे, तो भी उन्हें अच्छा नहीं लगता और न देखे, तो भी ये चिढ़ जाती हैं। अब बताइए इनसे बोलने में क्या लाभ ?

द्वार से किसी ने धीरे से झांक कर देखा। मैं चिल्लाने ही वाला था कि कौन है कि हमारे साले साहब का मुंह दिखाई दिया। आश्चर्य हुआ, सोचा इस समय यह हजरत यहां कैसे आ धमके ?

मालती आश्चर्य के स्वर में बोली, "क्यों रे इस समय कैसे···?"

"मुझे क्या मालूम ? मां रास्ते में बाहर खड़ी हैं।"

"अभी आई, अच्छा···" कहकर मालती उसका हाथ पकड़कर घर के बाहर जो निकली, तो फिर डेढ़ घन्टे बाद अर्थात दस बजे के लगभग लौट कर आई।

और आई तो हँसते-हँसते। अपने हाथ पीठ के पीछे छिपाते हुए बोली, "अच्छा बताओ तो मां ने मुझे क्या दिया है ?"

हँसी मजाक का वह समय न था। मेरा मुंह बन्द था। पर, भीतर ही भीतर मैं दग्ध हो रहा था, भड़क रहा था।

आज रविवार है···छिः, था ! चूल्हे में जाय ऐसा रविवार, जब एक भी बात मन के अनुकूल न हुई हो। मनुष्य की सहनशीलता की भी सीमा होती है न !

एकदम झल्लाकर बोला, "कहां गई थीं इतनी देर तक ?"

"इश्श ! पर इतना चीखते क्यों हो ठीक से पूछो ना ?"

"चिल्लाकर ही पूछूंगा ? तू कौन है मुझे धमकाने वाली ?"

"इश्श, ऐसे चिड़चिड़ाते क्यों हो ? मां ने कहा था, चल। अतः चली गई। और पता है क्यों ले गई थीं। मां ने मुझे झुमका खरीद दिया है। देखो न कितना सुन्दर है। ७५ रु० का है।"

"नक़ली झुमका ! उस पर क्या अभिमान करना ?"

फिर सोचा अब बात ज्यादा नहीं बढ़ानी चाहिए। चलो झुमके खरीदने का मेरे पीछे आग्रह अपने आप ही मिट गया ! अरे हां, और अभी रविवार कहां समाप्त हुआ है ? रात अभी शेष है। शेष समय का तो कम से कम सदुपयोग कर लें।

एक बात सूझी।

ढूंढ़कर ताला निकाला। मालती बोली, "यह क्या, ताले का क्या करोगे ?"

"तू चुप बैठ—" कहकर उसे डांट दिया। बाहर से ताला लगा दिया और खिड़की के रास्ते भीतर आ गया। स्पष्टीकरण करते हुए बोला, "अब कोई तंग करने नहीं आएगा। आएगा भी, तो बाहर से ताला लगा देखकर चला जाएगा।"

"कमाल है भाई तुम्हें भी। अरे, इतनी रात को कौन आने बैठा है—?"

मालती के इस प्रश्न का उत्तर मुझे न देना पड़ा। उसका उत्तर दिया बाहर से नारायण राव ने चिल्लाकर—

"अरे, बाबू साहब द्वार खोलो, पहिले बाहर आओ। स्वांग मत करो। हमने

तुम्हें ताला लगाते हुए देख लिया है।"

अब मैं क्या कहता, तो भी बोला, "अब तो भाई नींद आ रही है..."

"अरे, कैसा सोना ? उधर के मकान में रहने वाला वह गोविन्दराव चल बसा। ऐसे समय न नहीं करते...चलो...अरे हरेक पर यह प्रसंग आता है..."

मन ही मन भाग्य को कोसा। दिन भी इसी प्रकार बीता और रात अब ऐसे जाएगी...श्मशान में।

चुपचाप दरार से ताली बाहर कर दी।

घर से निकलते ही मालती बोली, "जल्दी आना, मुझे अकेले डर लगता है..."

"अब तुम्हें मेरी जरूरत महसूस हुई है ? इससे पहिले कभी नहीं कहा कि जल्दी लौट आना।"

पर मुझे उस पर दया आ गई। उसकी पीठ सहलाते हुए बोला, "अरे घबराने की क्या बात है ? पगली कहीं की !"

"पर जाना क्या जरूरी है !" बड़े करुण स्वर में वह बोली।

"अरे ऐसे समय में क्या आनाकानी करना शोभा देता है।"

"पर मुझसे तुम्हें कुछ बातें करनी थीं न ! मेरा दिन जैसा आया वैसा ही चला गया। एकान्त में फुरसत से बातचीत करने का समय ही नहीं मिला।"

"अरे, करेंगे-करेंगे। अगले रविवार को बातें करेंगे, निश्चित रूप से। तू और मैं, बस हम दो होंगे। कहीं बाहर नहीं जाना है। दिन भर घर में ही रहेंगे। चिड़िया-चिरौंटा जैसे चोंच में चोंच डालकर बातें करते हैं, वैसे ही..."

'इश्श !" कहकर वह हँस दी।

अधूरी इकसठवीं सालगिरह

शामराव नीलकंठ ओक

सन् १९०७ में उत्पन्न श्री ओक का आधुनिक मराठी साहित्यकारों में प्रतिष्ठित स्थान है। आपने सन् १९३२ से साहित्य-साधना प्रारम्भ की और अब तक साहित्य की अनेक विधाओं को अपनी लेखनी से सम्पन्न बना चुके हैं। यद्यपि प्रारम्भ में उन्होंने विनोदी ललित-लेख ही लिखे, परन्तु अब तक वे कहानी, व्यंग्यलेख, एकांकी नाटक और रेडियो-फीचर भी लिख चुके हैं। साथ ही फिल्मों के लिए पट-कथा भी लिखते हैं। अब तक उनके बारह ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें कथा-संग्रह और तीन नाटक भी सम्मिलित हैं। प्रस्तुत कथा में उन्होंने ऐसे ढोंगी नेताओं पर कसकर व्यंग कसा है जो भीतर ही भीतर अपने कर्मचारियों का शोषण करते रहते हैं, परन्तु बाहर से दिखाते हैं कि वे बड़े परोपकारी, सहृदय एवं उदार हैं। उनकी विनोदपूर्ण पुस्तकों में "चौरबाजारांतील चिजा" तथा "मालगाड़ी" उल्लेखनीय हैं।

अन्त में वह दिन उदय हुआ। इस दिन की प्रतीक्षा वह पिछले एक वर्ष से कर रहे थे। इस दिन के उदय की उत्सुकता के कारण उन्हें पिछली रात नींद भी नहीं आई थी। वस्तुतः वह उनके जीवन का स्वर्ण-दिवस था। उसी दिन तो उनके सफल जीवन के कृतित्व पर स्वर्णिम मुकुट का अभिषेक होने को था। उस अभिषेक का स्वरूप था—एक जरीदार सुनहरी पगड़ी का उनके सिर पर रखे जाने का समारंभ। आज ही तो सुनहरी स्याही में छपा उनके गुणों का आलेख एक मानपत्र पढ़ा जाने वाला था। सुनहरी फूलों की वर्षा भी आज उनपर होने को थी, सुनहरी चंपा के फूलों का हार भी उनके गले में पड़ना था। आज ही यह घोषणा होनी थी कि उनके जन्म-स्थान में रहने वाली और उनकी जाति की सोनी नाम की प्रत्येक कन्या को एक-एक तोले के सोने के आभूषण मिलने की बात उनकी वसीयत में लिख दी गई है।

आज भाभासाहब मांजणीकर के जन्म की स्वर्ण-जयन्ती थी। आज उनका

इकसठवां जन्म दिन मनाया जाने वाला था।

एक वर्ष पूर्व साठवां वर्ष लगते ही उनके मन में इकसठवें जन्म-दिन के विषय में विचार आने प्रारम्भ हो गये थे। एक वर्ष तक निरन्तर आते रहने वाले विचारों को जो अब परिपक्व हो चुके थे, आज कार्यान्वित करने के हेतु ही उत्सव मनाया जा रहा था। आज के प्रतिस्पर्धापूर्ण युग में अपना जन्म-दिन स्वयं ही समारोह-पूर्वक मनाना चाहिये, यह उन्होंने प्रारम्भ में ही समझ लिया था। अतः उन्होंने कई मास पूर्व ही एक चतुर विज्ञापनकार को बुलाकर उससे उस सम्बन्ध में परामर्श कर लिया था। और उसके बताए कार्यक्रम में स्वतः कुछ परिवर्तन कर अपनी इकसठवीं सालगिरह की विज्ञप्ति देनी प्रारम्भ कर दी थी।

भाभासाहब 'मोजणीकर एन्ड कम्पनी' नामक कास्ट-अकाऊंट्स फर्म के एकमात्र मालिक थे। महाराष्ट्र में इस प्रकार का विशिष्ट कार्य करनेवाली वही एकमात्र संस्था है, ऐसी उसकी कीर्ति थी। बड़े-बड़े व्यापारियों के कार्य वह करती थी। बड़े-बड़े लोगों के यहां उनका आना-जाना था। महत्त्वपूर्ण संस्थाओं में एक-एक कुर्सी रिजर्व कराने का उनका उपक्रम चलता ही रहता था। चुने हुए समाचार-पत्रों में अपनी कम्पनी का नाम निकलता रहे, इसका समुचित प्रबंध कर लिया गया था और अब साठ वर्ष पूरे होने के समय सबको यह ज्ञात हो गया था कि भाभासाहब एक सम्पन्न व्यवसायी एवं शिष्ट नागरिक हैं।

अब तक स्वर्ण-जयन्ती के जितने समारोह उन्होंने देखे थे, वे नेताओं के शिष्यों अथवा अनुगामियों द्वारा अपने उल्लास और हर्ष को व्यक्त करने के हेतु उन्हीं के द्वारा आयोजित किये गए थे। परन्तु भाभासाहब ने ऐसी मूर्खतापूर्ण भ्रान्ति को अपने पास भी नहीं फटकने दिया था कि उनकी स्वर्ण-जयन्ती का आयोजन करने के हेतु कोई अपनी स्फूर्ति से स्वयं आगे बढ़े। उन्होंने शुरू से ही यह पहिचान लिया था कि उनकी स्वर्ण-जयन्ती मनाने की आवश्यकता अन्यों से अधिक स्वयं उन्हीं को है। उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया था कि इस सम्बन्ध में जो कुछ भी व्यय पड़ेगा, वह उचित ही होगा क्योंकि उससे उनके व्यवसाय का विज्ञापन भी होगा। खर्च व्यवसाय के खाते में पड़ने के कारण उस दिन प्राप्त होने वाला सम्मान और यश लभाव में ही मिल जायेंगे, यह सोच-सोचकर उन्हें अपूर्व सन्तोष मिल रहा था।

उसके लिए उन्होंने समाचार-पत्रों में तीन-चार महीने पूर्व ही जगह रिजर्व कराकर अपनी आगामी स्वर्ण-जयन्ती का विज्ञापन अपने फोटो सहित देना शुरू कर दिया था। उसके उपरान्त उन्होंने अपना यह विनम्र विचार प्रकाशित कराया था कि स्वर्ण-जयंती के अवसर पर कोई विशेष समारोह न कर केवल लोकहित के कार्यों में कुछ धन खर्च किया जायगा। उसके तुरन्त बाद प्रकाशित विज्ञापन में यह छपवाकर कि 'एक हज़ार अंकलिपि, सौ स्लेट-पैन्सिल तथा पच्चीस तख़्ती

सत्पात्र गरीब बच्चों को उस दिन बांटी जाएंगी' अर्जी मांगी थीं और इस प्रकार प्रारम्भिक-शिक्षा में अपनी गहरी रुचि व्यक्त की थी। उसके बाद दस लोगों के रहट ठीक कराने का खर्च देने की इच्छा प्रकट कर उन्होंने प्रार्थियों को बंगले पर बुलाया था। इसी प्रकार हाई-स्कूल के पांच चुने हुए विद्यार्थियों को पुरानी पुस्तकें देने की इच्छा दिखाकर उनकी परीक्षा लेने की व्यवस्था की थी। पुनः एक बार, मोजणीकर उपनाम वाले किसी योग्य लड़के को अपनी कम्पनी में अवैतनिक उम्मीदवार की तरह रखने को वह प्रस्तुत हैं, यह विज्ञापन दिया गया था। उसके बाद क्रमशः प्रकाशित होनेवाले उनके छोटे-छोटे विज्ञापनों में कभी 'योग्य निर्धन गृहस्थ को पुराना पर काम चलाऊ बिछौना देना है' तो कभी, 'तांबे-पीतल के बर्तन न पसंद करने वाले पांच नई गृहस्थी बसाने वालों को मटकी-हंडिया का सम्पूर्ण सैट देना है।' इस प्रकार की विज्ञप्तियाँ मोजणीकर-स्वर्ण-जयन्ती शीर्षक के नीचे आती रहती थीं। "बारह अनाथ विद्यार्थियों को प्रतिमास एक बार भोजन अर्थात वर्ष में कुल मिलाकर बारह दिन भोजन कराने का संकल्प किया है।" "प्रति सप्ताह एक तथा उसके ऊपर भी आठ इस प्रकार कुल मिलाकर साठ नारियल नगर के विभिन्न मंदिरों में फोड़ने का उनका विचार है" ऐसे समाचार भी इस शीर्षक के नीचे छपते रहते थे। इसके अतिरिक्त धर्मार्थ-दान करने की तो उनकी एक अलग ही विस्तृत योजना थी। उसके लिए उन्होंने 'मोजणीकर-स्वर्ण-जयन्ती-धर्मादय निधि' नाम से चौंसठ रुपये एक आने की (अथवा साठ रुपये साठ आने साठ पाई) रकम का अलग फंड खोल दिया था। उसके लिए प्रार्थियों को एक आने का अर्जी का फार्म खरीदना पड़ेगा जिस पर प्रार्थी को अपना नाम, जाति, गांव, व्यवसाय आदि सारी बातें लिखकर (तथा अपनी प्रामाणिकता के लिए तीन प्रतिष्ठित लोगों के हस्ताक्षर कराकर) वह अर्जी स्वयं लाकर देनी पड़ेगी। फंड के व्यवस्थापक उसकी अर्थात अर्जी व अर्जी देनेवाले दोनों की परीक्षा करेंगे और उनकी सिफारिश होने पर स्वयं भाभासाहब उपयुक्त पात्र का चुनाव करेंगे, तथा दान करेंगे, कुछ इस प्रकार की उनकी योजना थी।

इस कार्यक्रम में धर्मादय की रकम की अपेक्षा विज्ञापनों के बिल की रकम अधिक थी, यह स्पष्ट हो गया होगा। पर मुख्य लक्ष्य तो पूरा हो ही रहा था। भाभासाहब को पूर्ण अवगति थी कि आज का युग विज्ञापन का युग है। यदि ब्रिटिश सरकार स्वयं अपना विज्ञापन-विभाग रखती है, बड़े-बड़े कलाकार और साहित्यकार अपनी डौंड़ी पीटने के लिए समाचार-पत्रों को चलाते या उनकी सहायता करते हैं, नाटक-सिनेमा के विज्ञापन पर खर्च हुई रकम नट-नटी को मिलने वाली रकम से अधिक होती है, विद्वान संपादक दूसरे के नाम से लिखकर अपनी प्रशंसा अपने-आप करते हैं, लोकप्रिय होने के लिये कतिपय व्यक्ति गांव-गांव में अपनी स्तुति करनेवालों के झुंड के झुंड भेजते हैं, तो फिर भला व्यापारी

आदमी को विज्ञापन करने में कैसी लाज और कैसी शर्म—यह बात भाभासाहब को प्रारंभ में ही किसी वाक्योद्धा अथवा प्रसिद्ध पंडित ने समझा दी थी। और यह बात उन्हें इतनी जंची थी कि वह अपनी स्वर्ण-जयन्ती के निमंत्रण-पत्र भी घर-घर जाकर बांटने को तैयार हो गए थे। पर विज्ञापन में भी इतनी प्रत्यक्षता नहीं आनी चाहिये, खर्च भले ही देना पड़े पर अपना नाम अलग ही रहना चाहिए, यह उत्सव दूसरे लोग कर रहे हैं, ऐसा दिखावा करना चाहिए आदि बातें उनके परामर्शदाताओं ने समय पर उन्हें समझा दी थीं, अतः भाभासाहब बड़ी कठिनाई से स्वयं को रोक पाए थे।

सारांश यह कि यद्यपि उन्होंने स्वयं मूल्य तथा अपने सिर का नाप देकर सुनहरी पगड़ी मंगाई थी, तथापि आज वह कहीं के एक बाबा साहब के करकमलों द्वारा उनके सिर पर रखी जाने वाली थी। मान-पत्र भी उन्होंने स्वयं लिखा था और उसकी मुद्रण-परीक्षा (Proof-reading) भी उन्होंने स्वयं की थी, पर उसको पढ़ने का कार्य 'मोजणीकर स्वर्ण जयन्ती समारोह' के स्वागताध्यक्ष करने वाले थे (और इस प्रकार यद्यपि इस उत्सव का खर्च, उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति भाभासाहब ही जुटाने वाले थे, पर प्रकट में वह सारा समारोह स्वयं-स्फूर्त दिखाई देने वाला था)। सुनहरी पुष्पों की वर्षा करने के लिये उन्हें एक कन्या-पाठशाला को नाश्ते के दोने देने का वचन देना पड़ा था, पर वह भी भाभासाहब ने स्वयं अपनी देख-रेख में किया था, इतना ही नहीं, सुनहरी चंपा के फूलों के हार का आर्डर भी उन्होंने सस्ती दर पर स्वयं माली को बुलाकर दिया था, हां वे हार अवश्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं की ओर से उनके गले में पड़ने वाले थे।

और आज यह सारा परिश्रम प्रतिफलित होने को था, सारा खर्च सार्थक होने वाला था। इतने सारे रिहर्सल के बाद आज मुख्य नाटक खेला जाने को था। यदि वह काम निर्विघ्न हो जाय, मुझे चारों ओर से तालियां मिलें, तो सारा खर्च कम्पनी के नाम डालकर सारा लाभ मुझे ही प्राप्त हो जायगा, साठ वर्ष की आयु के भी पांच दर्जन वर्ष वसूल हो जाएंगे और स्वर्ण-जयंती मनानेवाले महान पुरुषों की सूची में भी मेरा नाम समाविष्ट हो जायगा···यह विचार भाभा साहब को निरन्तर गुदगुदा रहा था···अर्थात इकसठवें साल में प्रवेश करने वाले हिसाबी-किताबी प्रवृत्ति के आदमी को जितना गुदगुदा सकता था, उतना ही।

सूर्योदय के साथ उठकर ही वह प्रातविधि से निबटे। जरीदार किनारी की धोती पहनकर अपने कार्यालय में जा बैठे। मेज पर अभिनन्दन पत्र आए पड़े थे, व्यापारी संस्थाओं को पूर्व-सूचना मिल जाने के कारण उनके पत्र भी आए हुए थे। पर वह कम होते, अतः कितने ही परिचितों को टिकट लगे तथा पता लिखे पत्र

भेजकर उनसे अभिनन्दरपरक संदेश मंगवाये गए थे, जो आशानुरूप आ गए थे। (कितने ही बेईमान लोगों ने संदेश न भेजकर टिकट हड़प ली हैं, यह संदेह अवश्य भाभासाहब को हुआ) जब वह संतुष्ट मुद्रा से उस डाक को देख रहे थे उसी समय उनके हैड क्लर्क ने आकर कहा कि आज दफ्तर के लोग छुट्टी मांग रहे हैं। भाभासाहब का दफ्तर घर से मिला हुआ ही था। उसमें अधिकतर दस रुपये प्रतिमास पानेवाले स्थायी कर्मचारियों से लेकर दो पैसे प्रति घंटा पानेवाले अस्थायी कर्मचारी तक···कुल मिलाकर बारह-पन्द्रह लोगों का स्टाफ बिना छुट्टी के काम किया करता था। आज कहने को कम्पनी बंद थी, पर प्रतिदिन की तरह आज छुट्टी के दिन भी सब लोग आए थे। भाभा साहब माथे पर सिल-वटें डालते हुए बोले "छुट्टी ?" इतने में ही उन्हें उस दिन का महत्त्व स्मरण हो आया, "ठीक है, आधी नागा लगाकर सारे दिन की छुट्टी कर दो।" वह उदा-रतापूर्वक बोले। पर संध्या समय उन सबको आना है। वहां रखा है हाज़िरी का रजिस्टर, और हां आज तुम मत जाना, यहीं रहना, बीच में एक-दो बजे के लगभग जाकर खाना खा आना।"

हैडक्लर्क के चले जाने पर नौकर ने एक कार्ड मेज पर लाकर रख दिया।

"कौन तुणतुणकर ? हँ, हँ, आने दो।"

दीन मुद्रा बनाए एक व्यक्ति अन्दर आया और विलक्षण दैन्य-भाव बनाकर नम्रतापूर्वक खड़ा रहा।

"तुणतुणकर, तुम्हें इसलिये बुलाया है कि तुमने वह याद किया या नहीं ?"

"क्या ?"

"अरे, वही जो कविता तुमने लिखी थी···"

शं० का० तुणतुणकर (अथवा कवि तुंग) को स्वर्ण-जयन्ती के निमित्त अपनी प्रशस्ति पर महाकाव्य लिखने के लिये भाभासाहब ने पन्द्रह रुपये की बड़ी रकम देना ठहरा रखा था। एक रुपये की सौ पंक्तियों की दर से उसने पन्द्रह सौ पंक्तियां समय पर प्रस्तुत कर दी थीं और उनके मुद्रित होने पर उनके बंडल भी लाकर डाल दिये थे। संध्या के समारोह में उसकी प्रतियां बांटने का काम उसने स्वयं स्वीकार कर लिया था। पर यह उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि अपना काव्य याद कर उसे उसका पाठ भी करना होगा। इसके विपरीत भाभा साहब समझते थे कि उस व्यक्ति को उन्होंने लगभग राज-कवि का सम्मान प्रदान किया है, अतः स्वर्ण जयन्ती-समारोह पर उसे अपना कविता-पाठ, यदि संभव हो तो साभिनय गाकर करना चाहिये।

"पाठ ! ···पाठ करने की अब क्या आवश्यकता है ! अब तो वह छप ही गई है ···?" तुणतुणकर हिचकते हुए बोला।

"वाह ! बड़े चतुर हो ! फिर तुम कविता-पाठ कैसे करोगे ?"

"मैं पढ़ूंगा ?"

"तो क्या मुफ्त में पन्द्रह रुपये लोगे ?" भाभासाहब बिगड़े।

रुपयों की याद कर तुणतुणकर एकदम घबरा गया और उसकी सारी धूर्तता एकदम जाग पड़ी।

"पढ़ने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, प्रत्युत आनन्द ही होगा, पर पन्द्रह सौ पंक्तियां पढ़ने में लगभग एक घंटा लग जायगा।"

"लगने दो।"

"पर कार्यक्रम का इतना समय कहां है ? और फिर लोग ऊब जाएंगे। फिर स्वागत-गीत भी तो पढ़ा जाना है···"

तुणतुणकर ने स्वागत-गीत भी खंड-काव्य की शैली पर मुफ्त ही लिख दिया था। लाचार होकर भामासाहब को उसकी बात माननी पड़ी। उन्होंने बातचीत का विषय बदल दिया।

"उस स्वागत-गीत की प्रति आ गई क्या छपकर ?"

"कल ही आ गई थी।"

तुणतुणकर बच जाने के आनन्द में बोला। छपाई का सारा काम उसे सौंपा गया था।

"और मान-पत्र की साधारण प्रतियां ?"

"वे भी छपकर आ गई हैं।"

"कार्यक्रम-पत्रिका ?"

"वह भी, इस अलमारी में सारे बंडल रखे हुए हैं।"

"अच्छा लाओ तो कार्यक्रम की एक प्रति जरा देखूं, और तुम चाहो तो जाओ। सायं काल को समय पर अवश्य आ जाना।"

संध्या काल के कार्यक्रम की मुद्रित प्रति बार-बार पढ़ते हुए भामासाहब के मन में कृतार्थता की उर्मियां तरंगित हो रही थीं।

स्वागतगीत:—मानो महर्षि का ही स्वागत हो रहा हो, ऐसी कल्पना कर कवि ने कुबेर, कर्ण और चित्रगुप्त से उनकी उपमा दी थी। "महाराष्ट्र के एकमात्र कॉस्ट-एकाउन्टेंट" यह परिचय भी उस गीत में बड़े कौशल से गुम्फित कर दिया गया था। समारोह में सम्मिलित होनेवाले सभी लोगों के आ जाने तक यह गीत चलना था।

तदुपरान्त सन्देश-पाठ के बाद प्रास्ताविक भाषण:—इसके लिए चिडगुपीकर शास्त्री नामक निष्णात भाषणकर्ता को बुलाया गया था। उस भाषण द्वारा भामासाहब के गुणों का गद्यमय वर्णन होने के साथ-साथ कम्पनी की प्रगति की कल्पना भी श्रोताओं को मिलनेवाली थी।

स्वागताध्यक्ष का भाषण एवं अभिनन्दन-पत्र भेंट करने के लिए गांव के एक

सुप्रसिद्ध-अण्णासाहब को दो मास पूर्व ही ठहरा लिया गया था। इस अभिनन्दन-पत्र के पाठ के समय ताली बजाने के लिए दफ्तर के कर्मचारियों की उपस्थिति सभा में आवश्यक कर दी गई थी।

हार:—दस-बारह चुनी हुई संस्थाओं के नामों की चिटें हारों पर लगा दी गई थीं। उन संस्थाओं को बदले में आर्थिक सहायता देने का सौदा पहिले ही तै हो गया था।

स्वर्ण जयन्ती मुकुटार्पण विधि:—उस सुनहरी पगड़ी को सभानायक के सिर पर रखने के लिये एक सत्तर वर्ष के लम्बे डीलडौल वाले बाबासाहब चुने गए थे।

आभार प्रदर्शनः—यह भामासाहब को स्वयं करना था। अतः वह गत एक मास से उसको रट रहे थे। उस भाषण को पुनः एक वार मन ही मन दुहरालें, यह सोचकर भाभासाहब ने धीरे-धीरे बोलना शुरू किया—"इस सम्मान से मैं—मैं गदगद हो उठा हूं—"भाऊ" एक क्षीण स्वर ने उनके स्वागत-भाषण में विघ्न डाल दिया। भाभासाहब के मुख पर उमड़ रहा हर्ष क्षण भर में ओझल हो गया और उसके स्थान पर कठोरता उभर आई। उनका तीसरा पुत्र द्वार पर खड़ा था। उन्होंने झिड़कते हुए पूछा, "क्या है ?"

"दादा और अण्णा पूछते हैं कि क्या आज के समारोह के लिए नई धोती पहन लें ?"

दादा, अण्णा और उपर्युक्त प्रश्न को पूछने वाला मधु ये तीनों भाभासाहब के पुत्र थे। सस्ती से सस्ती तथा पुरानी से पुरानी पुस्तकें पढ़कर मोटे से मोटे और गन्दे से गन्दे कपड़े पहनकर उनका शिक्षण-क्रम क्रमशः बी० ए०, छठी तथा तीसरी कक्षा तक पहुंच गया था। भाभासाहब के बैंक में जमा लाखों रुपयों की गर्मी उनको छू तक नहीं गई थी। डरपोक, मैले-कुचैले और उदास मुद्रा वाले इन बालकों को देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि वे मोजणीकर के उत्तराधिकारी हैं। बड़े लड़के ने एक बार नए कोट के लिये शोर मचाते हुए जब यह कहा कि अब वह बड़ा हो गया है, तो तुरन्त ही उससे भाभासाहब ने कह दिया था, "घर से निकल जा।"

"नई धोती ? बिल्कुल नहीं। अभी धोती खरीदे आठ मास भी तो नहीं हुए हैं।"

"पर आज हमें वहां जाना है न !"

"हां, तो क्या हुआ, वैसे ही आ जाना। उन्हीं धोतियों को पहनकर। और नहीं आना है, तो मत आना।"

मधु लौट गया। इतने में नौकर आकर खड़ा हो गया।

"क्या है रे ?"

"चमके आए हैं।"

"क्यों आए हैं ?"

तब तक चमके नामक व्यक्ति स्वयं वहां आ पहुंचा।

"साहब, आज तो कम से कम मेरा हिसाब-किताब कर दीजिये।"

"चल निकल यहां से, हरामखोर। नहीं तो धक्के दिलवाकर निकलवा दूंगा। तूने ठेके पर ही तो काम किया था, अब झगड़ा क्यों करता है ?"

थोड़े दिन पूर्व ही दफ्तर के लिए बिजली ली गई थी और चमके ने सस्ती से सस्ती दर पर बिजली का तार लगाया था। सौदा जबानी हुआ था—सामान और मजदूरी चमके की, एक महिने तक यदि गड़बड़ न हो, तो उसे पूरे पैसे दिये जाएंगे, पर कुछ भी गड़बड़ हुई तो सिर्फ आधे पैसे मिलेंगे। संयोग की बात बिजली लगने के तुरन्त बाद ही दो बार शार्ट-सर्किट के कारण बत्ती बुझ गई थी और चमके ने तुरन्त आकर उसे ठीक भी कर दिया था, फिर भी भाभा ने उसके पचपन रुपये काट लिये थे। वह था बेचारा गरीब वायरमैन, भला कोर्ट-कचहरी क्या करता ?"

"पर साहब मैं नुकसान में ही हूं। सामान तक के पैसे मुझे नहीं मिले हैं, साल-भर तक आपकी सर्विस मुफ्त करता रहूंगा, पर इतने पैसे मत काटिए।"

"अब ये सारी बातें किसको बताता है, जो तै हो गया सो हो गया। अब जाता है या।"···भाभासाहब उस पर टूट पड़े।

चमके बड़बड़ाता हुआ चला गया। बाहर भाभासाहब के लड़के चिढ़कर फुसफुसा रहे थे। दफ्तर के कुछ कर्मचारी असन्तोष के से कुढ़ रहे थे। चमके, भाभासाहब के पुत्र तथा वे कर्मचारी आपस में धीरे-धीरे बातें करते हुए दूर चले गये। दफ्तर में भाभासाहब पुनः आभार-प्रदर्शन के भाषण को रटने लगे।

जिस उत्साह और सन्तोष-भाव के साथ भाभासाहब स्वर्ण-जयन्ती-समारोह के मंडप में प्रविष्ट हुए थे, वे उत्साह और सन्तोष के भाव कुछ देर बाद ही शिथिल पड़ने लगे। यह सच है कि आगन्तुकों में कुछ निमन्त्रित, कुछ भूखे तथा कुछ तमाशबीन सम्मिलित थे, पर सभा-मंडप अभी भी खाली-खाली दिखाई देता था। (कदाचित् इसीलिए बालिकाएं स्वागत-गीत की एक-एक पंक्ति को चार-चार बार दुहरा रही थीं) धीरे-धीरे पहिले से ही तै किये हुए कुछ बाबा साहब, तात्या-साहब, और काकासाहब उपस्थित होने लगे, संध्या समय खाली बैठे कुछ अन्य लोग भी कुतूहलवश वहां आ गए। स्वागत-गीत के उपरान्त संदेश पढ़े जाने लगे और कुछ बच्चों ने व्यास-पीठ पर सुनहरे फूल भी फेंके।

सभा में कौन-कौन आए हैं, यह देखने के लिए भाभा ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि चारों ओर घुमाई, तै किए हुए सज्जन काफी संख्या में आए हुए थे, उत्सव में पैसा लेकर भाग लेनेवालों की संख्या भी पर्याप्त थी। नाश्ते के दौने लेने वाली कन्या-पाठशाला की लड़कियां, निमन्त्रित लोगों में से कुछेक, नौकर-चाकर आदि

सब लोग अपनी-अपनी जगह बैठे हुए थे। पर दफ्तर के सारे कर्मचारी वहां नहीं दिखाई देते थे। हैड क्लर्क को भाभासाहब ने इशारे से अपने पास बुलाया और उसने भी उनके संदेह की पुष्टि की। अस्थायी कर्मचारियों में से भी चार-पांच व्यक्ति उपस्थित नहीं थे। उनको नौकरी से बर्खास्त करने का हुक्म तो हैड-क्लर्क को वहीं मिल गया। धर्मादय से दान लेनेवालों का समूह अवश्य एक ओर ईमानदारी से खड़ा हुआ था।

संदेश पढ़ने के बाद शास्त्री जी का प्रस्ताविक भाषण शुरू हुआ। प्रत्येक श्लेष पर शास्त्री जी सभानायक की ओर आशापूर्ण दृष्टि से देखकर थोड़ा-सा रुकते और भाभासाहब हर बार अपने दांत निपोरकर उन्हें प्रोत्साहित करते। अतः काफी समय उसमें नष्ट हो गया और अंधेरा छाने लगा। बिजली भी एक बार आकर चली गई थी। बार-बार बिजली बुझ जाने के कारण श्रोताओं की पिछली भीड़ में से हँसी व तालियों की आवाज आनी शुरू हो गई थी। भाभा साहब ने हैड क्लर्क को बिजली ठीक करने के लिये भेज दिया। स्वागताध्यक्ष के भाषण तक तो बिजली जलती रही पर ज्योंही अभिनन्दन-पत्र के पढ़ने की बारी आई वह फिर चली गई। अतः सम्मानित भाभासाहब के उच्चारण के बाद श्रोताओं को दो-तीन मिनिट तक अंधेरे में बैठा रहना पड़ा। बिजली आने पर जब अभिनन्दन-पत्र पुनः पढ़ा जाने लगा, तभी भाभासाहब को सामने बैठे संवाद-दाताओं के मुस्कराते चेहरे दिखाई दिये। मान-पत्र के अन्त में हलकी-सी तालियां भी बजीं। पर तभी कहीं से लाउडस्पीकर द्वारा 'हा, हा, हा! क्या कहने!' की व्यंगपूर्ण हँसी सुनाई दी। इससे श्रोताओं को बड़ा मजा आया। हैड-क्लर्क इस विघ्न का कारण ढूंढने गए, और इधर हार पहिनाने का कार्यक्रम शुरू हुआ। जिन्हें कुछ न कुछ देने का वचन दिया गया था, ऐसे व्यक्तियों में से हरेक ने हार डालना शुरू किया। बीच में ही लाउडस्पीकर चीखा, "अपने आप खरीदे हुए हार सावंत माली के यहां से।" दर्शकों में हँसी व तालियां। इस गड़बड़ में भाभासाहब के ध्यान में यह नहीं आया कि हार डालने वालों में स्वयं उनके दो लड़के भी थे। पर अन्धेरे में यह तथ्य लाउडस्पीकर ने श्रोताओं को बता दिया, "देखो अपने पुत्रों से हार डलवाए जा रहे हैं। उनको भी कुछ दान-धर्म कर दो।" इससे उत्पन्न कोलाहल में वे बच्चे मंच से उतर कर कब भीड़ में मिलकर प्रकाश के बाहर अन्धकार में ओझल हो गए, किसी को पता ही नहीं चला।

सभा में रंग भंग हो रहा था। सम्वाददाता परस्पर हँसते हुए कुछ टिप्पणी लिख रहे थे। भाभासाहब का चेहरा त्रस्त था। उनका हैड-क्लर्क इधर से उधर व्यर्थ दौड़कर लाउडस्पीकर की खोज कर रहा था। मंडप के चारों ओर के घरों में अन्धेरा था और यह पता लगाना कठिन था कि आवाज़ किधर से आ रही है। बीच-बीच में सभा में हँसी और तालियां बजने के कारण अपार भीड़ एकत्र हो गई

थी। वहां कोई "तुंग" कवि सभा में बांटी हुई कविता की पंक्तियां जोर-जोर से पढ़ रहा था।

कार्यक्रम का अन्तिम समारंभ था मुकुट-अर्पण का, पर इस काम के लिए नियुक्त सज्जन बीच ही में कहीं उठकर चले गए थे। अतः समय-सूचकता दिखाते हुए भाभासाहब आभार-प्रदर्शन के लिए उठे। उनको आशा थी कि उनके बोलना आरम्भ करते ही सभा शांत हो जायगी।

"इस अत्याधिक सम्मान को पाकर मैं गदगद हो गया हूं।" उन्होंने अपना भाषण प्रारम्भ किया, पर अदृश्य लाउडस्पीकर ने पहिले से भी अधिक मोटी आवाज में उनकी ओर से भाषण देना शुरू कर दिया। उसकी आवाज में भाभा साहब का एक शब्द भी नहीं सुनाई देता था।

"आज के समारोह के लिये मैंने इतना खर्च क्यों किया—" लाउडस्पीकर से आवाज आ रही थी—"केवल, केवल अपनी आरती उतरवाने के लिए। जीवन-भर मैंने किसी की चिरी अंगुली पर भी नहीं मूता, घर में अन्नवस्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य बात में कौड़ी भी खर्च नहीं की, व्यवसाय में कर्मचारियों को आधा-पेट भोजन देकर रगड़ा, पर आज का धर्मादय, आज की खैरात, आज की दान-दक्षिणा और इस समारोह का खर्च अपनी खुशी के लिये किया है। साठ वर्ष बीत जाने पर भी मेरा अभिनन्दन करने के लिए मेरे अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है, यह मैं पूरी तरह जानता था। अतः आज का उत्सव मैंने स्वयं किया। परमात्मा मुझे दीर्घ आयु दे, तो मैं एक लाख और जमा कर सकूंगा।"

इस आकाशवाणी को सुनकर सामान्य मनुष्य तो वहीं का वहीं ठंडा पड़ गया होता। पर सुनहरी पगड़ी सिर पर रखी जानी अवशिष्ट थी (उसके लिये साढ़े चौबीस रुपये दिये गए थे!) और वह लम्बे वृद्ध अण्णासाहब भी लौट आये थे। उनको भाभासाहब ने संकेत किया। वे दोनों हाथों में पगड़ी लेकर उठे और उन्होंने अपना रटा-रटाया अंश बोलना शुरू किया, "आज के इस मंगलमय स्वर्ण-जयन्ती अवसर पर मैं यह शिरोभूषण भाभासासब को सम्मानपूर्वक भेंट करता हूं।"

यह कह उन्होंने वह सुनहरी पगड़ी भाभासाहब के सिर पर रख दी और भाभासाहब ने अपनी पहिली पगड़ी उतारकर गर्दन नीचे झुका ली। इतने में ही मंच के पीछे अन्धेरे में से एक लम्बा बांस आगे बढ़ा। और उसके नुकीले सिरे ने वह पगड़ी अलग उछाल दी। एक ही झटके में वह बांस पीछे हट गया और वह पगड़ी चक्कर काटती-काटती कहीं पीछे अन्धकार में जा गिरी।

बिजली चली गई और दर्शक बहुत देर तक जोर-जोर से ताली बजाते रहे।

भाभासाहब मोजणीकर की इकसठवीं सालगिरह के समारंभ का विवरण

कहीं प्रकाशित नहीं हुआ। वह प्रकाशित न हो, उसके लिए बड़ी-बड़ी रकमें भरनी पड़ीं। उनका ज्येष्ठ पुत्र घर से भाग गया है, यह समाचार शीघ्र ही गांव-भर में फैल गया, उनके दफ्तर के अस्थायी कर्मचारी स्वतः ही नौकरी छोड़कर चले गए। वायरमैन 'चमके' यह कह-कह कर कि उसके पचपन रुपये वसूल हो गए मित्र-मंडली में ताली पीटता फिरता रहा—पता नहीं क्यों···?

भागवत का सितार

वि० मा० दी० पटवर्धन

गत ३० बर्षों से भी अधिक से साहित्य-सेवा में रत श्री पटवर्धन व्यवसाय की दृष्टि से रसायन-शास्त्र के प्राध्यापक हैं। मराठी हास्य-विनोदपूर्ण साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें केवल विशुद्ध साहित्य-कारों का ही योगदान नहीं रहा है, अपितु डाक्टरों, व्यापारियों, अध्यापकों, शासनाधिकारियों ने भी सहयोग प्रदान किया है। श्री पटवर्धन रसायन-शास्त्र के प्राध्यापक होते हुए भी मुख्यतः साहित्यकार हैं। यह आज तक के उनके कृतित्व से ही प्रमाणित हो जाता है। उनकी साहित्य-रचना के प्रकार हैं—हास्य-कथा, विनोदी लेख, प्रहसन, आलोचनात्मक लेख, बाल-कथा, उपन्यास एवं नाटक। आपके प्रकाशित दस ग्रंथों में से 'साहित्य गुदाम' विनोदी लेखों का संग्रह है और 'जीते रहो जिवा', 'जिवा ची मर्दुमकी', 'दीड शहाणी' आदि हास्यकथा के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त बालकों के लिए भी हास्य-कथाएँ लिखी हैं। आपकी निरीक्षण-शक्ति अत्यश्त पैनी, अनुभव अत्यन्त व्यापक और भाषा बहुत सरल है। प्रस्तुत कहानी में जीवन के प्रतिदिन में आनेवाले अनुभव पर ही व्यंग कसा गया है।

"अरे मित्र, मेरा एक काम कर दोगे क्या?" पूना स्टेशन से गाड़ी छूटने ही वाली थी कि भागवत एकदम बोला। अपने घनिष्ट मित्र को विदा करते समय की उसके कण्ठ की आर्द्रता अभी भी मुझे स्पष्ट अनुभव हो रही थी, अतः मेरे लिए उसकी बात ठुकराना असंभव था। "वैसा कोई विशेष काम नहीं है।" वह बोला, "धारवाड़ में उस बंडूनाना के पास मेरा सितार रह गया है, बस वही···"

"ऐसा नाजुक काम मत सौंपिए, भाई जी।" पत्नी अपने दूरदर्शी स्वभाव के अनुरूप एकदम बोली, "रेल में कैसे लाया जा सकता है, व्यर्थ में टूट-फूट जायेगा।"

भागवत ने मुंह बना लिया। सचमुच ही ये स्त्रियां पूर्व जन्म में पता नहीं

क्या थीं ? परोपकार, लोक-सेवा आदि शब्द तो मानो उनके कोष में ही न थे। पत्नी के असमय हस्तक्षेप पर बड़ा क्रोध आया उस समय।

"उसकी बात पर ध्यान क्यों देते हो ?" मैं सिगरेट की राख के साथ ही पत्नी की बात अलग झाड़ता हुआ बोला, "बस सितार ही तो लाना है न ? मैं ले आऊंगा। कौन बहुत बड़ा काम है। बस बंडूनाना को लिख देना।"

"धन्यवाद। जरा संभालकर लाना बस।" गला भर आने के कारण आर्द्र-स्वर में भागवत बोला और इतने में ही गाड़ी छूट गई।

"अंग्रेज लोग तुम स्त्रियों की उपमा बिल्ली से करते हैं, सो ठीक ही है। स्वार्थ-त्याग किसे कहते हैं, यह तुम लोगों को क्या पता ?" मैंने व्याख्यान देना प्रारंभ कर दिया।

"नाना, खाना निकालिए न।" लंका मेरे गले में हाथ डालते हुए बोली। "अभी निकालता हूं"—मैं रुष्ट स्वर में बोला, "ठीक अपनी मां पर गई है।"

"इश्श। मैं कब आती हूं आपकी लोक-सेवा के मार्ग में ?" पत्नी ठसक के साथ बोली। "पर सितार लाना क्या आपने आसान काम समझ रखा है ? जरा ठेस लगी कि उसका तूंबा (मोपला) फूट जायगा।"

"अय्या।" पुनः लंका ने गप्प हांकी, "मोपला (कद्द) फूट जायगा, तो हम उसकी सब्जी बना कर खा लेंगे।"

"सुन री।" पत्नी ने उसे डांटा।

"कहीं नहीं फूटता।" मैंने शान मारी, "नाजुक चीजों को उठाने का मुझे पर्याप्त अभ्यास है। दोनों हाथों में कांच के फ्लास्क लेकर हम अनुसंधान-शाला में कबड्डी खेल चुके हैं। उस समय घुटने भले ही फूट गए हों, पर फ्लास्क को कभी धक्का तक नही लगा। आह-ओह-ओय स्स्म्" मैं एक दम चीख पड़ा क्योंकि गाड़ी के वेग पकड़ते ही खिड़की की किवाड़ मेरे हाथ पर धड़ से गिर पड़ी थी।

"अंतर, मंतर, छूमंतर। सियार की मां प्याज खाए, लंका की मां लड्डू देवे; नानाकी बांह अच्छी होवे" बड़बड़ाती हुई लंका मेरी अंगुलियों पर फूंक मारने लगी।

"चल दूर हो" मैं क्रोध में उसे ढकेलते हुए बोला "नाजुक वस्तुओं को संभालने के लिए ऐसी ही नाजुक अंगुलियों की आवश्यकता है।"

"और यदि नाजुक वस्तु किसी ऐसे धिप्पाड़ के हाथ पड़ गई, तो उसका ऐसे ही चकनाचूर होता है।" पत्नी मेरी ओर घूरती हुई देखने लगी।

"कहती हूं, जरा अंगुलियों को चूस लो, चैन···"

"बस, बस, अधिक सयानापन मत दिखाओ।" मैं गुर्राया, "सितार तो क्या, साबुन के झाग का बबूला भी मैं हिमालय से कन्याकुमारी तक ले जा सकता हूं। यह मित्र का काम है, मजाक नहीं।"

"पर नाना, भला बबूला तूंबे के बराबर कैसे हो सकता है।" लंका ने अपनी शंका प्रकट की "और फिर उसके पैसे भी नहीं लगते। भागवत काका तो कहते थे कि उनका सितार तीन सौ रुपये का है।"

"हां, और वह भी सूरत के हुंडी (एक विशिष्ट प्रकार का कद्दू) कद्दू का बना है।" पत्नी ने शह दी "और मिरज (महाराष्ट्र में एक स्थान) के डांगरे का बनाया हुआ है।"

धारवाड़ पहुंचकर हम अभी घर उतरे ही थे कि तभी सितार लेकर द्वार पर बंडूनाना का नौकर आ खड़ा हुआ। जैसे कोई गावतकिये जैसे मांड (एक प्रकार का व्यंजन जो बहुत ही पतला एवं जिसका आकार पराठे की तरह गोल होता है) को अचक से उठाये, उसी प्रकार वह सितार को अपने दोनों हाथों पर संभाले हुए था। साथ में बंडूनाना का पत्र था।

"साष्टांग नमस्कार, विनंती विशेष,

श्री भागवत का वाद्ययंत्र भेज रहा हूं। आप उसे पूना भिजवा देने की व्यवस्था कर देंगे, ऐसा उन्होंने लिखा है। अतः आप आगे का सब प्रबन्ध कर दें तथा मुझे सूचना दे दें।

आपका

बंडूनाना

"देखा," पत्नी मेरे कंधे पर से झांकती हुई पत्र पढ़ते हुए बोली।

"उन्होंने पहले से ही सारा कार्यक्रम बना लिया था। यूं ही मित्र के प्रति प्रेम नहीं उमड़ा था? यों ही स्टेशन पर पहुंचाने थोड़े ही आए थे?"

भागवत की कारस्तानी मेरी समझ में भी आ गई थी, पर एक बार मित्र का कार्य स्वीकार कर लेने पर पीठ थोड़े ही दिखानी थी। अतः सितार रखवा लिया और लानेवाले से पूछा—

"इसका खोल कहां है?"

"खोल, वह क्या चीज होती है?" वाहक ने उल्टा प्रश्न किया।

"बिल्कुल गधा दिखता है—" मैं कह गया।

"हां, हां, जरा होश में बातें करना, साब। कौन गद्धा? मैं?" एकदम आवाज़ चढ़ाकर तथा टेढ़ा-मेढ़ा मुंह करते हुए वह बोलने लगा। कदाचित् वह बहरा था। "ऐ तू ही समझा इसको—" मैंने वह काम समझदारी से अपनी पत्नी पर छोड़ दिया। फोन पर बोलने के स्वर में उसने उसे समझाया कि खोल क्या होता है। इस पर वह बोला—

"वो कपड़ा? वो तो हमारे चचा साहब के कफन के लिए दे दिया।"

"ऐं? सितार का खोल क्यों दे दिया जी?"

"वो भी तो बड़े खानदानी थे।" नौकर मूंछें मरोड़ते हुए बोला।

"और हमारे साहब भी बहोत मानते थे उनको। तोते खां उनका नाम···"

"अच्छा, अच्छा। बहोत सलाम बोलो—" यह कह उसे रवाना किया।

उसके चले जाने पर मैं श्रीमती जी से बोला, "देखो। उस खोल को धारण कर तो तोते खां स्वर्ग चले गये। अब तो इसके लिए दूसरा खोल सिलना ही पड़ेगा।"

"आप ही सीं लीजिए।" वह बिगड़ कर बोली।

"ठीक है।" कहते हुए मैंने टेबल की दराज में से तुरन्त अपना पायजामा निकाला और उल्टा कर उसमें सितार ठूंसने लगा। इसपर मेरे हाथों से उसे छीनती हुई श्रीमती जो चिल्लाईं। "अरे, अरे, यह क्या करते हो? मित्र के काम के लिए क्या घर के कपड़ों को फाड़ डालोगे? कल फुर्सत से सीं लेना।"

उस लम्बे-चोड़े वाद्ययंत्र को देखने के लिए अड़ौस-पड़ौस के बच्चे एकत्र हो गए। उनमें चिटणीस के चंदू ने ढिठाई से सितार के तार छेड़ना आरम्भ कर दिये। उसकी टुंग-टांग टुंग-टांग ध्वनि सुनकर बाल-गोपाल मंडली अत्यन्त आनन्दमग्न होकर उस पर टूट पड़ी। और—और जो होना चाहिए था, वही हुआ। फटाक की आवाज करता हुआ एक तार टूट गया।

"अब उसे उठाकर रख दो, नहीं तो यह नटखट मंडली तमूरे के टुकड़े-टुकड़े कर डालेगी।" श्रीमतीजी ने आदेश दिया।

मैंने सितारा उठाया, जैसे कोई दस दिन के बच्चे को सावधानी से उठाता है, उसे पेट से लगाकर। उसकी गर्दन के नीचे हाथ रखा और कमर के नीचे अपनी धोती के छोर की गेंडुरी बनाई और···और फिर ध्यान आया कि सितार के लिए सुरक्षित स्थान अभी हमने ढूंढ़ा ही कहां है? उदास चेहरे से देखते हुए मैंने श्रीमती जी से पूंछा, "कहां रखूं?"

"रख दो मेरे सिर पर।" वह तड़क कर बोली।

"ऐसा क्यों करती हो? बतलाओ न, क्या खाट के नीचे रख दूं।" मैं विनय-पूर्ण स्वर में बोला।

"वाह क्या कहने। फिर तो बच्चों का प्रतिदिन का खेल हो जायगा।"

"हां, बात तो ठीक है। फिर कहां रखूं?"

"उस ऊपर के टांड़ पर रख दो।"

"और वहां रखी हुई मेरी पुस्तकों का क्या होगा?"

"नाली में पटक दो न उन्हें। मित्र का काम है भाई।"

"पति से अच्छा सहयोग कर रहा हो।"

"मरा बित्ते भर का तो घर है। सितार रखने के लिए ही किराये पर लिया है न?"

"तो क्या दुछत्ती में पटक दूं?" आकाश की ओर देखते ही दुछत्ती का द्वार

मुझे दिखाई दिया।

"पर वहां चढ़ेगा कैसे ?"

"ऐसा करूं कि उस स्टूल पर कुर्सी रख लूं। ये बच्चे उसे पकड़ लेंगे। उसके बाद तू कपड़े धोने के डंडे से दुछत्ती का द्वार खोल देना···"

श्रीमती जी ने, कुरकुराते हुए ही क्यों न सही, पर अन्त में सर्कस जैसा कर-तब कर दिखाया। मैं भी सितार को तथा स्वयं अपने शरीर को सन्तुलित करते हुए ऊपर चढ़ गया। उस समय जाले के अन्तिम छोर तक चढ़ जानेवाली मकड़ी का मुझे स्मरण हो आया। मैं मुक्ति की निश्वास लेने वाला ही था कि सितार का तंबूरा दुछत्ती के छोटे से द्वार में अटक गया। हरे राम! अब न वह अंदर जाता था और न बाहर ही आता था। मेरे होश-हवास उड़ गए। यह दशा देख चंदू दौड़कर भीतर की कोठरी में गया, और पता नहीं कहां से, एक दरांत निकाल लाया। मैं तंबूरे को बाहर निकालने की खटपट में लगा हुआ था। इतने में पैर में चिकोटी काटते हुए तथा हाथ का दरांत ऊपर करते हुए वह बोला।

"हां, नाना, काट डालो, सपासप, सपासप···"

"क्या काटूं बदमाश ? तेरी नाक ?" मैं बिगड़ा और उसके हाथ में लगे दरांत को दूर फक दिया।

"अरे, अरे, संभलो···" श्रीमती जी चिल्लाईं, पर इससे पूर्व कि मैं समझता कि क्या बात है, मेरे पैरों तले की कुर्सी डगमगाई और मैं कलामुंडी खाता हुआ नीचे पृथ्वी पर आ गिरा। चंदू के दोस्त, जो पहिले ही कुर्सी छोड़ अलग हट गए थे, यह देख कूदते-फांदते, ताली पीटते और अनाप-शनाप आवाज़ें करते हुए बाहर भागे।

"बुराई में भी कोई न कोई भलाई होती है, यह इस बात का प्रमाण है।" यह विश्वास होने पर कि मेरे पेट से चिपका हुआ सितार साबुत है, श्रीमती जी बोलीं।

"भलाई क्या हो गयी इसमें ?" मैं चिढ़कर बोला, "कमर का कचूमर निकल गया है यहां ? सी—अरी मैया।"

"पर तंबूरा तो निकल गया उस द्वार से ? इतना क्या कम है। गिरने से ऐसी क्या हानि हो गई ? फुटबाल खेलने में भी तो बचपन में गिरने के अतिरिक्त और तुम क्या करते थे ? अच्छा, अच्छा। अब तो उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रख दो···मैं कहती हूं, अलमारी पर रख दो···" श्रीमती जी ने सुझाव दिया। परन्तु पुनः किसी चीज़ पर चढ़ना होगा, इस विचार से ही मेरा चेहरा उतर गया। वह मुस्कराते हुए बोलीं, "घबराओ मत, अबकी बार मैं कुर्सी पकड़ लूंगी।"

भोजन करते समय मेरा ध्यान तो दफ्तर के काम की ओर लगा हुआ था और श्रीमती जी का अलमारी की ओर। भोजन की ओर किसी का भी ध्यान न

था। अंत में मैं बोला, "क्या देख रही हो ?"

"उसके ऊपर जो हाथीदांत का मोर है, वह कितना सुन्दर दिखता है ?" वह तंबूरे की ओर संकेत करती हुई बोलीं।

"हाथीदांत का मोर ?"

"वह देखो न, कैसा चमक रहा है ?"

"हे भगवान, धूप में ?" मैंने चौंककर पूछा और देखा तो बात ठीक ही थी। खपरैल के कांच में से सूर्य की एक तेज़ किरण ठीक उस तंबूरे पर पड़ रही थी।

"छिः छिः, वहां यह ठीक नहीं है।" मैं कुल्ला करते हुए बोला, "संध्या तक तो उसका सत्यानाश हो जायेगा।"

"अरी दैय्या !" उन्होंने भी घबराकर कहा" "सोडावाटर की बोतल की तरह क्या यह भी खुल जायेगा ?"

"वैसा तो नहीं, पर गर्मी के कारण उसके सारे जोड़ खुल जायेंगे।"

"अरे, तो फिर उसे वहां से हटा दो।"

"तू ही हटा दे। अबकी बार यदि और गिर पड़ा, तो तंबूरे के स्थान पर मेरे ही जोड़ खुल जाएंगे।"

"हे भगवान, क्या बला ले आए हैं।" वह बिगड़ कर बोली, "स्वयं ही तो गले में फांसी बांध ली है और अब दूसरों को दोष देते हैं।"

ठीक उसी समय एक पत्थर खिड़की से घर में आ गिरा और चट से ठीक अल्मारी के शीशे पर लगा। मेरी तो जान ही निकल गई। बाहर घोरपड़े का बंडू हाथ में गिलोल लेकर अपनी निशानेबाजी के चमत्कार अपने साथियों को दिखा रहा था। सितार का तम्बूरा निशाने के लिए सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है, यह कदाचित सबके द्वारा निश्चित हो चुका था। दूसरा 'शाट' आने से पूर्व ही मैंने दौड़कर बंडू के हाथ से गिलोल छीन ली और उसे पकड़कर पास के ही आंगन में ढकेल दिया। फिर क्या था, बंडू ने जोर-जोर से रोना प्रारम्भ कर दिया और घोरपड़े की पत्नी हाथ की कलछी को तलवार की तरह चलाती हुई झांसी की रानी की तरह बाहर आई। उससे प्रसंगोचित (!) बातचीत करने का काम श्रीमती जी को सौंप कर में चुपचाप दफ्तर चला गया।

घर लौटा तो देखा कि मेरी खाट पर मजे से एक मेहमान मुंह ढके हुए सो रहे हैं। पहिले से ही अपने बिस्तर को दूसरे के द्वारा इस्तेमाल करना मैं सहन नहीं कर पाता। उस पर उस दिन तो उस सितार-प्रसंग के कारण में बहुत ही झल्लाया हुआ था। अतः सामने दस फुट के अतिथि को लेटे हुए देखकर मेरा पारा एकदम चढ़ गया। मैंने पत्नी से क्रुद्ध स्वर में कहा, "संकट और मेहमान, कभी अकेले नहीं आते।"

वह आंचल मुंह में लगाकर हँसने लगी। मैं चिल्लाया।

"हँसती क्यों हो? पीहर का कोई दिखता है।"

"छिः, मेरे पीहर का नहीं।" वह हँसी दबाती हुई बोली, "आप ही के यहां का है, देख लीजिये।"

यह कहते-कहते उसने चादर एकदम हटा दी। देखता क्या हूं कि मेरे मित्र का सितार खाट पर आराम से पड़ा हुआ है।

"है कि नहीं सुरक्षित?" पत्नी ने पूछा।

"हां, भाई!" मैंने स्वीकार किया। सितार को खाट पर सुलाने के कारण वह रात हमने किसी तरह चटाई पर काटी। दूसरे दिन श्रीमती जी ने जब उसको खोल में रखकर खूंटी पर उल्टा टांग दिया, तब जाकर कहीं चैन मिला। कुछ प्रसन्न होकर मैंने श्रीमती जी से कहा, "कभी-कभी तुम यूंही हारमोनियम पर स्वर निकाला करती हो, अब जरा सितार पर तो निकाल कर दिखाओ।"

"इश्श!" गर्दन झटकती हुई वह बोली, "मेरे बस का नहीं है, मरे इस भारी-भरकम अजगर को अपनी जांघ पर रखकर बैठना। कृपा करके इसे शीघ्रातिशीघ्र पूना पहुंचवा दो।"

प्रो० खांडेराव पूना आते-जाते रहते हैं, यह सोचकर मैंने उन्हें चाय पर निमन्त्रित किया और फिर धीरे से बात चलाई—

"क्यों प्रोफेसर साहब, हमारा एक काम कर देंगे क्या?"

"हां, हां, बताओ न!"

"हमारी एक चीज है, साथ ले जाएंगे पूना—?

"चीज?" सरकार द्वारा पाबंदी लगाई कोई चीज भेजना चाहते हैं, यह विचार आते ही कान खड़े कर बिल्ली की तरह पैरों को पेट की ओर सिकोड़ते हुए खांडेराव बोले।

"ऐसी कोई बात नहीं है। चीज बहुत हल्की है—मूल्य की दृष्टि से नहीं, वजन की दृष्टि से।" मैं स्पष्टीकरण करने लगा। इतनी देर में पत्नी ने चाय तथा गर्म-गर्म उपमा (एक प्रकार का हलवा) तैयार कर मेज पर सजा दिया था। उसका स्वाद लेते हुए खांडेराव बोले—

"अरे, बस इतना ही न? तो फिर इसमें इतने संकोच की क्या बात है? भाभी, वह चीज कहां है? बांध दीजिए।"

"बंधा हुआ तो है ही।" पत्नी बोली और घर में जाकर सितार ले आई।

"हां, यह लीजिए!" मैं सितार उनकी तरफ बढ़ाते हुए बोला।

खांडेराव का चेहरा पहले से ही वराहमूर्ति सदृश है। भारी-भरकम सितार देखकर तो वह जानवर की तरह लटक गया। आंखों की पुतलियां कोनों में चली गईं, और गला सूखने के कारण वे थूक सटकने लगे। रविवर्मा के चित्र

में जैसे मेनका हाथों में शंकुतला को उठाये विश्वामित्र के सम्मुख खड़ी होती है, उसी प्रकार पत्नी खोल सहित सितार को हाथों में लिए खड़ी थीं। और उसी चित्र के विश्वामित्र सदृश खांडेराव हाथ ऊपर किए खड़े थे।

"देखिए भाभी, अभी नहीं" वह बोले, "मुझे पहिले बाजार जाना है। दोपहर को जब स्टेशन जाऊंगा तो इधर से ही तांगा ले जाऊंगा, और उसी समय यह सितार भी।"

और फिर जो खांडेराव खिसके तो फिर कभी हमारी ओर मुंह भी नहीं किया। पसन्द न आनेवाली लड़की को देख गए वर के पिता के समान दोपहर को उनका पत्र आया—

"स० न० वि० वि।

पूना जाने का मेरा कार्यक्रम अनिश्चित होने के कारण आप अपनी चीज पूना भेजने के लिए मेरा भरोसा न करें। क० लो० अ० हे० वि०।

—खांडेराव"

उसके उपरान्त भागवत के एक दो पत्र मेरे पास आए कि मैं उसका सितार किसी के हाथ भेज दूं। पर पूना जानेवाले मित्रों को कदाचित् पहिले ही खांडेराव से संकेत मिल चुका था, अतः वे मेरे घर झांकते तक न थे, और यदि मैं उनके पास संदेश भी भेजता था, तो डर के कारण रात्रि की गाड़ी से ही चुपचाप चले जाते थे।

धीरे-धीरे दिवाली की छुट्टी आ गई और सितार पहुंचाने का भार हमारे ही ऊपर आ पड़ा। श्रीमती जी बोलीं, "ऐसा करो कि दूसरे दर्जे की एक बर्थ रिजर्व्ह करा लो।"

"एक से कैसे काम चलेगा?—हम लोग भी तो हैं?"

"हम लोग तीसरे दर्जे में बैठ जाएंगे। सितार को बस जगह मिल जानी चाहिए।"

"नॉनसैन्स—इससे तो उसे पैक कर ले चलें।"

"शव-पेटी बनवानी पड़ेगी उसके लिए।"

"ऐ! अमंगल बात क्यों मुंह से निकालती हो?"

अन्त में खोल सहित सितार को विश्व के 'आठवें आश्चर्य' के सदृश लेकर हम स्टेशन पहुंचे। बड़ा साहस करके केवल उस 'आठवें आश्चर्य' के कारण हम ने इन्टरक्लास का टिकट लिया। स्टेशन पर धारवाड़ के एक थिएटर के असिस्टेंट मैनेजर रुद्राप्पा मिले। हमारा सामान देखकर उन्होंने आश्चर्यपूर्ण स्वर में कहा, "अरे वाह, हमें तो मालूम ही न था?" और पान खाने के कारण लालिमा-युक्त मुंह को फैलाकर हँसने लगे।

"क्यों क्या मालूम न था, भाई?" असमंजस में पड़ कर बोला।

"आपने रत्न तो काफी छिपाकर रखा था नानासाहब, पर वह अन्ततः प्रकट हो ही गया—" रुद्राप्पा अपनी भाषा को यथाशक्ति मराठी घुमाव देते हुए बोला। पर मेरी समझ में कुछ न आया। लंका के विषय में तो यह बात वह कह नहीं सकते थे, क्योंकि उसके नामकरण के अवसर पर तो वह उपस्थित थे ही, यह बात मुझे स्पष्ट याद थी।

"कैसा-कैसा ?" मैं केवल शिष्टाचारवश बोला।

"आप लोगों में कला-प्रेम बहुत अधिक है। वस्तुतः अपना बहुत थोड़ा संगीत अवशिष्ट रह गया है (उन्हें कहना चाहिए था थोड़ा-बहुत)

"नहीं-नहीं, ऐसी बात नहीं है।"

"हां, हां, बहिन जी का प्रोग्राम है, शायद बम्बई में !" पुनः अट्टहास करते हुए और श्रीमती जी की ओर आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखते हुए उन्होंने जब यह प्रश्न किया, तब जाकर उनकी बात का रहस्य खुला। 'इश्श' करती हुई श्रीमती जी मुंह मोड़कर खड़ी हो गईं। वह पुनः बोले—

"अपने थियेटर में बहिन जी का चैरिटी-प्रोग्राम करा दें, रेडक्रॉस-फंड के लिए।" "नहीं जी !" मैंने कहा, "प्रोग्राम बगैरा कुछ नहीं है। हम तो छुट्टी में बम्बई जा रहे हैं। और यह सितार हमारे एक मित्र का है। तुम्हारी बहिन जी को इसका शौक नहीं है—।"

पर मुझे अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। रुद्राप्पा ने नाक में हुलास की गोली ठूंस रखी थी अतः वह धकाधक छींकने लगे और तभी गाड़ी भी आ गई।

श्रीमती जी, लंका तथा सितार को स्त्रियों के इंटर के डिब्बे में ठूंसकर मैं दूसरे डिब्बे में घुस गया। परन्तु अगले एक स्टेशन पर यह देखने के लिए कि वे लोग ठीक-ठाक बैठ गए हैं, मैं जब उनके डिब्बे के पास गया तो क्या देखता हूं कि डिब्बा 'अंधेरी-कोठरी' बना हुआ है। छत्री के कपड़े की काली पोशाक पहने हुए दस-बारह ईसाई स्त्रियां, एक वैगन-भरघर का सामान, मुर्गियों का एक पिटारा, पानी गर्म करने का हमाम—इन सब से डिब्बा भरा हुआ था। रविवर्मा के एक चित्र में पूंछ की कुण्डली पर बैठे हुए अंगद के समान श्रीमती जी उस हमाम के मुंह पर अपने शरीर को संतुलित किए बैठी थीं और सितार का तूंबा उनकी जांघ पर रखा हुआ था। उसका दूसरा सिरा सिर पर रंगीन रूमाल बांधे एक गोआ-रमणी ने अपने एक हाथ पर संभाल रखा था। दूसरे हाथ से वह सितार के तार छेड़ते हुए बिल्कुल मग्न होकर गा रही थी। और ऊपर की सीट पर बैठी लंका ताली बजाकर ताल दे रही थी।

मुझे देखते ही श्रीमती जी अपनी जगह से ही चिल्लाईं।

"अजी, पहले यह सितार यहां से निकालो।"

वैसे मुझसे यह कहने की आवश्यकता न थी, क्योंकि मैं समझ गया था कि उस दशा में वह वाद्ययंत्र पूना सुरक्षित नहीं जा सकता। अतः मैंने तुरन्त सितार उस पुर्तगाली दानवी के हाथों से खींच लिया और प्लेटफार्म पर कूद पड़ा।

पर आज दुर्भाग्य हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ा हुआ था। प्लेटफार्म पर अभी पैर लगे ही थे कि गार्ड ने सीटी बजाई। सीटी सुनते ही मेरे होशहवास उड़ गए और सिर पर पैर रखकर दौड़ने लगा। बचपन से ही मेरी यह कमजोरी रही है कि मैं किसी अन्य वस्तु से नहीं डरता, परन्तु स्टेशन पर गार्ड की सीटी सुनते ही मेरे सिर में खतरे की घंटी बजने लगती है। इस समय भी यही हुआ। कहां घुसूं, कुछ सूझता ही न था। "अरे जल्दी बैठो" कुली चीखने लगा, "साले कलाकार ऐसे ही उल्लू होते हैं।" पहिले दर्जे में बैठे एक सेठजी जोर से बोले। मैं दौड़ रहा था। "खांसाहब, जरा द्रुत ख्याल होने दो, झप ताल में" मेरे सिर में एक चांटा रसीद करते हुए तीसरे दर्जे में बैठा एक ड्राइवर बोला। अन्त में आगे-पीछे का कुछ भी विचार न करते हुए जो डिब्बा मेरे सामने आया, उसी में घुस गया।

वह डिब्बा पहिले दर्जे का निकला, अतः उसका दंड भुगतान करने में जेब ही खाली हो गई। डिब्बे में एक पंजाबी डाक्टरनी थीं। उसके नटखट बच्चों ने सितार पर अपना हस्त-कौशल अज़माना चाहा, अतः उसकी सुरक्षा के लिए रात-भर मुझे जागते रहना पड़ा। अंत में पूना में उस डाक्टरनी का सामान स्टेशन पर निकालते हुए श्रीमती जी ने मुझे कैसे देख लिया, और पहिले ही जगने के कारण लाल हुए उनके नेत्र और भी लाल होकर स्टेशन पर अरुणोदय की कैसी प्रभा विकीर्ण करने लगे, इत्यादि बातें बताने से अब क्या लाभ ?

दूसरे दिन प्रातः ही भागवत मिलने आये। इस पर मुक्ति का विश्वास छोड़ते हुए मैंने कहा।

"अच्छे आए, अब सितार आप को सौंप दूं, तो मुक्ति मिले।"

"क्या मतलब ?" उन्होंने चौंककर पूछा, "सितार अपने साथ ले आये, क्या नाना ?"

"खूब रही, और क्या उसे डाक से भेजता ?"

"सॉरी।" वह सिगरेट का धुंआ मज़े से ऊपर की ओर छोड़ते हुए बोले, "तुम्हें लिखना ही भूल गया ?"

"क्या लिखना ?"

"अरे हमारी शरयू का विवाह निश्चित हो गया है, मुहुर्त जल्दी का ही है।"

"वाह। यह तो बहुत अच्छा हुआ।" मैं उल्लसित होकर बोला, "पीहर की विशिष्ट भेंट के रूप में वधू के साथ सितार भी भेज देना।"

"वह तो ठीक है" भागवत चेहरा लटकाते हुए बोला, "पर उसका पति

संगीत के सम्बन्ध में पूरा औरंगजेब है। सितार का थर्मामीटर बना डालेगा अपने कारखाने में। बड़े ही अरसिक होते हैं ये सायन्स के लोग भी।" अंतिम ताना देते हुए उसने तिरछी नज़र से मेरा ओर देखा। तब तक मेरे हृदय में आशंका के कारण धड़धड़ होनी शुरू हो गई थी।

"धीरे-धीरे अच्छा लगेगा!" मैंने अपने को संभालते हुए तर्क किया "आजकल पत्नी ही अपने पतियों में हर प्रकार की सुरुचि उत्पन्न करती है। क्यों ठीक है न?"

"क्या बात है?" श्रीमती जी ने आते हुए पूछा।

"पर उसने विवाह से पहले ही यह शर्त रख दी है, नाना, कि सरयू बिल्कुल ही संगीत छोड़ दे। तोपखाने के वीभत्स भवन में रहते हैं न ये बम्बवाले। उस इमारत में ये लोग गानेवाले को नहीं रहने देते।"

"बेचारी सरयू!" श्रीमती जी ने नाटक की नायिका के समान निश्वास छोड़ा।

"ऐसी कोई बात नहीं है, वह प्रसन्न है। उसका पति गाना-वाना छुड़वाकर उसे मोटर चलाना सिखाने वाला है।"

"देखा, संस्कृति का यह अधःपतन" मैं भी नायक के से आवेश में बोला।

"अतः अब यह सितार तुम्हीं रख लो।"

"भागवत के यह बम्ब छोड़ते ही मैं एकदम ऐसा चौंक कर उठा कि मेरी कमीज चर्र से फट गई। मुझे यह स्वप्न में भी आशा न थी कि सितार का यह प्रकरण इस तरह मेरे पीछे पड़ जायगा। मेरी यह दशा देख भागवत समाधान करने की चेष्टा करता हुआ बोला, "मैं उसकी कीमत नहीं मांगता हूं। तुम और भाभी जी जो कीमत ठहराओ, वही मैं ले लूंगा।"

"प…प…र…तु मुझे नहीं…"

"अरे तुझे नहीं। तू कहने को सायंटिस्ट अवश्य है फिर भी ऐसा नीरस नहीं कि भाभी के कला-प्रेम के मार्ग में रोड़ा अटकाए, ऐसा मुझे विश्वास है। और उन्हें इस कला से प्रेम है ही, क्यों? कला-प्रेम और संस्कृति-संरक्षण दोनों काम हो सकेंगे, इसके द्वारा, क्यों? अच्छा मैं चलता हूं, नमस्ते।"

पाठको! हम जब पुनः धारावाड के लिए चले तो वह 'आठवां आश्चर्य' हमारे साथ ही था, यह बताने की कदाचित् आवश्यकता नहीं है।

अड़तालीस अंडों की कहानी

भा० रा० भागवत

पूना से प्रकाशित होने वाले दैनिक 'सकाल' के उप-सम्पादक के रूप में कार्य आरम्भ करने वाले श्री भागवत आज मुख्यत: बाल-साहित्य के निर्माता के रूप में ही अधिक विख्यात हैं और इसका कारण भी है कि उनकी ३५ से अधिक प्रकाशित पुस्तकों में से अधिकांश बाल-साहित्य से ही सम्बन्धित हैं। पुस्तकों के अतिरिक्त आपने बालकों के हेतु एक पत्रिका 'बालमित्र' भी निकाली, पर बाद में आर्थिक कारणों से बन्द करनी पड़ी। बाल-साहित्य के अतिरिक्त आप कहानियां और प्रहसन भी लिखते हैं। विनोदी-साहित्य में आपके दो ग्रंथ विख्यात हैं 'वेतागवनांतील वाफारे' जिसमें बम्बई-निवासी के जीवन के कष्टों का चित्रण है और 'माझा विक्रम' जिसमें हर क्षेत्र में रिकार्ड ब्रेक करने के पागलपन का विनोदपूर्ण शैली में चित्रण किया गया है।

"मनु काकी का राजरोग उन्हें नहीं छोड़ रहा है, फिर भी भगवान जाने वह वायु-परिवर्तन के लिये गांव छोड़कर क्यों नहीं जातीं? चली जायं तो उनका भी कल्याण और हमारा भी।" टोल गाँव के वे आठ प्राणी सदा मन ही मन यही मनाते रहते। बंडू ने तो आवेश में आकर यह मनौती मनाते हुए हनुमान जी के मन्दिर में नारियल तक चढ़ा दिया। और संयोग देखिए कि इधर बंडू के चढ़ाये नारियल के खोपटे से उसकी गिरी पूरी तरह निकली भी न थी कि मनु काकी अपने पीहर के लिए निकल पड़ीं। जिस समय उनके पतिराजा उनका बिस्तर मोटर में रख रहे थे, उस समय बंडू 'भद्रकाली होटल' में 'सिंगल चाय' पी रहा था। उसने अरुणिम नेत्रों से वह दृश्य देखा और मोटर के फर्र से जाते ही वह पीछे उड़ाई धूल में से होकर सदूभाऊ के पास दौड़ा आया।

कंपित स्वर में उसने जैसे-तैसे पूछा, 'स-स-सदूभाऊ चली गई क्या?'

'हां' उसी प्रकार अवरुद्ध कंठ से मनु काकी के पतिराज सदूभाऊ बोले।

उनके मुख से एक भी स्पष्ट शब्द नहीं निकल पा रहा था। पर स्पष्ट शब्दों की उन्हें आवश्यकता भी न थी। 'बोलने से पूर्व ही प्रमेय उलझ गए हों' ऐसी उन लंगोटिया दोस्तों की विचार-शृंखला चुपचाप टूट गई थी। बस, यंत्रवत् कुछ उद्‌गार उनके मुख से निकल रहे थे।

"क्यों, बिल्कुल ही अचानक कैसे चली गई ?" बंडू ने हथेली से अपना मुख पोंछते हुए कहा।

सदूभाऊ ने रूमाल से अपने मस्तक का पसीना और धूल पोंछी। ओर फिर बंडू के दोनों हाथ पकड़ कर वे एकदम बोले—

"बंडू, शुभस्य शीघ्रम्। मैदान खाली है, शीघ्र काम निबटा लें···"

"आज ही प्रोग्राम बना डालें क्या ?" बंडू ने ओठों पर जीभ फिराते हुए कहा।

"और नहीं तो क्या ? लगे-हाथ आज रविवार भी है। अब तुरन्त मैदान मार लेना चाहिए, रुकना कैसा ? वैसे दस-बारह दिन रहने के लिए कहकर गई है; पर औरतों का निश्चय सावन की वर्षा के समान होता है न ! उसका क्या भरोसा ?"

"बिल्कुल सच" बंडू गीले ओठों से बोला।

"अच्छा, तो तू अब ऐसा कर कि सीधा गजा गुप्ते के पास चला जा और (अंगुलियों से गोलाकार बनाते हुए) इनकी व्यवस्था कर। चार बजे अड्डे पर हाजिर करने के लिए कह देना। चार-पांच दर्जन चाहिएं। पहले इतना कर और फिर अपने शेष पांच घरों में सूचना दे आ। सावधानी से सूचना देना—अन्दर-बाहर सब तरफ का ध्यान रखना। दीवारों के भी कान होते हैं।"

बंडू का भावावेग अभी भी स्थिर नहीं हो पाया था। उसने बार-बार गर्दन हिलाकर सारे आदेश स्वीकार कर लिये। बीच-बीच में उसके नेत्र जल्दी-जल्दी खुले-मुँदे और कंठ जोर-जोर से कंपित हुआ। बंडू के मनश्चक्षु सुखस्वप्न देख रहे थे।

सदूभाऊ ने जनरल करिअप्पा के से जोश में आज्ञा दी "सावधानी से सबको निमंत्रण दे आ और आते समय बनिये की दूकान से "प्रोकन ब्रीको" चाय लेते आना। नाम याद रखना, नहीं तो गड़बड़ हो जायगी। और काली चीनी ले आना दो सेर। उसका रंग शुद्ध श्वेत हो। यह ले पांच रुपये।"

सदूभाऊ का दिया हुआ दस का नोट जेब में रखते हुए बंडू जल्दी-जल्दी बोला, "और तुम ?"

"मैं तो अब सीधा घर जाऊंगा। नौकर से कमरा साफ कराऊंगा। बैठक ठीक कराऊंगा और फिर सब नौकरों को छुट्टी दे दूंगा। इस प्रोग्राम की सूचना किसी को नहीं होनी चाहिए।"

"अरे यह भी कोई बताने की जरूरत है, सदूभाऊ ? मनु काकी को यदि लौटने पर मालूम हो गया, तो हमारी-तुम्हारी सबकी अच्छी खबर लेंगी।"

और यह कहकर बंडू अपने काम पर चला गया। सदूभाऊ भी जल्दी-जल्दी अपने घर की ओर बढ़े।

जिन पांच घरों का उन्होंने उल्लेख किया था, उनके पांच प्रमुख और स्वयं बंडू, सदूभाऊ तथा गजाभाऊ —इन सबकी एक 'संस्था' थी। उसका मूल नाम था "अनध्यायी अष्टक" पर मनु काकी ने उसको अपने अशुद्ध उच्चारण के कारण बना दिया था "अनाठायी अड्डा"। अनाठायी अड्डे ने अब तक अनेक उल्टे-सीधे कार्य किये थे—राजारानी का विवाह कराया था, हाथी-घोड़े की शह दी थी, चालू घटनाओं का पिष्टपेषण किया था। मनु काकी उन सब कार्यों को तुच्छतापूर्ण दृष्टि से देखतीं और सदस्यों को खूब फटकारतीं। पर सदस्यगण सब कुछ चुपचाप सुन लेते और नौकर के द्वारा भेजे गए मनु काकी के चिवड़ा-चाय पर मजे से हाथ साफ करते। अड्डे के मेम्बर चाय पीकर प्रसन्न होते, चिवड़ा खाकर खुश होने, इतना ही नहीं उनकी फटकार खाकर भी प्रसन्न होते।

उस मंडली को केवल एक ही कमी खटकती रहती थी। अड्डे पर अबतक आमलेट कभी नहीं बना था। आमलेट बनाने की विद्या तो अनेक सदस्यों को ज्ञात थी, पर बिना अंडे तोड़े आमलेट कैसे बनता ? और सनातन धर्म की संरक्षिका मनु काकी के घर से जाए बिना घर में अंडे कैसे तोड़े जा सकते थे ? अनाठायी अड्डे और आमलेट के बीच मनु काकी के रूप में शत्रु की सेना-पंक्ति खड़ी थी। उसके टूटते ही अंडे टूटने में विलम्ब न होता।

सदूभाऊ और बंडू के अचानक भावोद्रेक का कारण अब पाठकों की समझ में आ गया होगा। सदूभाऊ द्वारा की गई जल्दी तथा हाथों द्वारा किये गए संकेत का अर्थ भी उन्हें ज्ञात हो गया होगा। अतः अब उन्हें बंडू के पीछे चलना चाहिये।

गजाभाऊ गुप्ते के पास जाकर बंडू ने हक्की-बक्की मुद्रा में उसे सब बातें बताईं और एकटक उसकी ओर देखते हुए बोला, "अच्छा, तो अब ?"

गजाभाऊ केवल उपहासपूर्ण हंसी हंस दिये। उनका बांई हथेली पर तम्बाखू मलने का काम तनिक भी नहीं रुका।

"अरे तू बैठ तो जा" वह क्षण भर बाद बोले। "नौसिखिये नट की तरह घबरा क्यों रहा है ? यह ले, सुपारी-तम्बाखू खा। अंडों को इतना महत्त्व क्यों दे रहा है ?"

"क्या मतलब ?" हृदय विदीर्ण हो जाने की सी मुद्रा में बंडू बोला "मुझे तुम्हारा आर्शीवाद-सत्कार नहीं चाहिए। तुम अंडे लेआओ न ?"

"हां, हां, ले आऊंगा।" गजाभाऊ शांतिपूर्वक तम्बाखू की फंक्की मारते हुए

शेखी से बोले, "अरे तू इतना नर्व्हस क्यों होता है ? पांच मिनट में पांच सो अंडे ले आऊंगा ।"

और वस्तुत: गजाभाऊ गुप्ते अंडे खाने वालों के मुकुट-मणि थे। बंडू को यह बात पता न हो, ऐसी बात नहीं। दृष्टिसुख एवं घ्राणसुख प्राप्त करने के लिये वह प्राय: पीछे के द्वार से उनके यहां जाया करता था। उस समय आंगन में पड़े अंडों के छिल्कों पर धीमे-धीमे पैर रखते हुए चलने में उसे पुलक-रोमांच हो आता। रसोई-घर से अल्प-परिचित व्यंजनों के वनाने की सुगन्ध आती पर फिर भी बंडू को यह साहस कभी नहीं हुआ कि वह भाभी के पास सीधे पहुंचकर उन व्यंजनों को खाए। वह अनेक बार स्वप्न देखता कि गजा अंडों के ढेर पर बैठा हुआ है क्योंकि वस्तुत: गजा के यहां ढेरों अंडे रहते थे। उसने मुर्गियां पाल रखी थीं। पर आगे चलकर मुर्गियों ने अपनी पारस्परिक लड़ाई में एक दूसरे को मार डाला और फिर मनुष्यों की लड़ाई (महायुद्ध) आरम्भ होने पर गजा पुन: उस मंहगे व्यापार के झंझट में नहीं पड़ा। यद्यपि आजकल वह स्वयं अंडों का व्यापार नहीं करता था तो भी कहीं न कहीं से अंडे एकत्र करना उसके बाएं हाथ का खेल था।

हथेली पर तम्वाखू मल लेने के बाद गजाभाऊ उठा और सायकिल पर थैला लटकाकर बोला, "अरे, यदि पहले से पता चल गया होता, तो अब तक तेरे पास अंडों की वर्षा हो जाती। अब खैर, देर तो हो गई है। पैंठ, मेला-तमाशा, विवाह यह, वह···इन सब के कारण अंडों की कमी हो गई है। तो भी देखता हूं। उस 'पेटफोड़ू' हनुमान-मन्दिर के पास एक मुर्गी-बन (पोल्ट्री) है। वहां के किसी वृक्ष पर चढ़कर कोई डाली हिलाकर देखता हूं······"

गजा के सायकिल चलाने तक बंडू ने उस पर नजर रखी और जब उसे विश्वास हो गया कि वह पोल्ट्री ही गया है, तब अन्यों को निमंत्रण देने के लिये चल दिया। सौदे के समय स्वयं उपस्थित रहना खतरे का काम था क्योंकि फिर बंडू गांव में मुँह कैसे दिखाता ? अत: जैसे-तैसे स्तोत्रों का उच्चारण करने वाले अपने मुख को सब को दिखाता हुआ वह बाजार से गुज़रने लगा।

"अरे, जरा दो कप चाय तो बना दो, देखो तुम्हारे बंडू देवर आए हैं।" शित्रे वकील ने हंसते-हंसते आर्डर दिया। "और देखो···आज रात को मैं खाना नहीं खाऊंगा। (धीरे से) ठीक है न ? भरपेट खाने को मिलेगा न ?"

"पेट भर" बंडू ने गारन्टी दी।

"अभी-अभी पी कर उठे हैं, फिर भी कहते हैं कि दो कप और बनाओ।" अन्दर वकीलनी किसी बोकीलबाई से बोलीं।

"यह तुम्हारे कौन से देवर हैं" बोकीलबाई ने पूछा।

"मेरे देवर ? अरे वह मरा बंडू है। आज कहीं खाने-पीने का प्रोग्राम दिखता है। (जोर से) बनाती हूं एक कप चाय अभी।"

पत्नी के जोड़-घटाने का अर्थ वकीलसाहब को मालूम हो गया। अपने पीछे चिपटे घटाने के चिह्न की उन्हें पूरी जानकारी थी। उन्होंने चुपचाप लांग-कोट पहना, पगड़ी सिर पर रखी दुपट्टा गर्दन में डाला और तिलक जो जरा सा पुंछ गया था, उसे ठीक किया। जब तक बंडू की चाय समाप्त हुई, तब तक वकील साहब तैयार हो गए।

मित्र के साथ चार पग ही चले होंगे कि कुछ याद आ जाने के कारण शित्रे रुक गए और बोले, "मित्र, तुझे अभी औरों को भी निमंत्रण देना है न? तो भाई मैं तेरे साथ नहीं चलता। मैं इधर से जाता हूँ। तू सबको निमंत्रण देकर घर आ जाना।"

बंडू हंस पड़ा—पर प्रेम भाव से। चोर की चतुराई चोर जानता है न! जूता कहां काटता है, वह बात जूता पहनने वाला ही तो जानेगा। बंडू पावसकर मास्टर को बुलाने के लिये कीचड़ से भरी गली में घुसा और शित्रे वकील मेन रोड पर सबको अपना मुखड़ा दिखाते हुए चले।

वस्तुतः वकील साहब का उद्देश्य यह था कि उनकी उस शीघ्रता और खास कपड़ों को देखकर सब यह सोचें कि आज वह कोर्ट के किसी विशेष कार्य के लिये जा रहे हैं अथवा उन्हें किसी बड़े समारोह में भाग लेना है। इतने ठाठ से जाने वाला व्यक्ति केवल आमलेट खाने जा रहा है, ऐसा कोई न कहे। वकील साहब सोचने लगे कि प्रत्यक्ष खाने के समय भी यदि इसी प्रकार दिमाग लड़ाकर एकाध 'एलिबी' हम ऐस्टाब्लिश कर दें, तो कितना अच्छा हो! पर जो नितान्त असंभव हो उसकी आशा करना ही व्यर्थ है। उन्हीं से मिलती आकृतिवाला उनका एक भाई था अवश्य, पर आजकल वह बम्बई में नौकर हो गया था। वह यदि यहां हुआ होता, तो उन्होंने उसे अपने कपड़े पहनाकर घर बिठा दिया होता, पर जो नहीं है, उसके लिये रोना कैसा? इस समय तो चिंतू का बम्बई में लंच-टाइम होगा और हजरत अवश्य ही अभक्ष्य-भक्षण कर रहे होंगे—उसमें संदेह की गुँजायश ही नहीं···हूं।

बम्बई का विचार आते ही शित्रे वकील सदा दीर्घ निश्वास लेने लगते हैं। इस समय भी उन्होंने वही किया। कहां वह बम्बई का वैभव, बम्बई का मजा और बम्बई की आजादी। और कहां यह दरिद्र टोल गांव।

पावसकर मास्टर की इस से भी अधिक फजीहत हुई। नए नाटक के रिहर्सल की तरह वह असफल रहे, पर अंडों से, अर्थात् अच्छे अंडों से, उनका सम्बन्ध कभी स्टेज पर भी नहीं पड़ा था, अर्थात् स्टेज पर भी दर्शक उन पर सड़े अंडे ही फेंकते थे। वे खूब बौखलाए और चिल्लाये, "अरे, हम पिकनिक के लिये जा रहे हैं, देर से आएंगे। खाने की चिन्ता मत करना—मेरे लिये खाना न बचे तो भी···और देखो, वे कल की सेमई बची हैं क्या, उनकी खीर बना दो बंडू के लिये।"

"तो···तो। सेमई, आकाश से बरसी थीं क्या ? सेमई तोड़ते-तोड़ते यहां तो अंगुली घिस गई।" उनकी तरुण पत्नी मन ही मन बोलीं। पर बाहर आकर कहने लगीं, "सेमई तो बची हैं, पर दूध नहीं है। बंडू भैया, क्या आमुसला (आमसुला कोंकण में एक खट्टा फल होता है) का रस पी लेंगे ? सुबह ही गर्म-गर्म और ताज़ा बनाया है।" वैसे मास्टर की पत्नी प्रगतिवादी विचारों की थी, केवल एकाध बात से उसे चिढ़ थी। अंडों से उसे सख्त घृणा थी।

"हां, दो, उसे कुछ भी दो। ऐसा बढ़िया समाचार लाया है वह आज तो।"

"बढ़िया खबर ? वह कैसी खबर है जी ?"

अरे यही पिकनिक की, हमारी सारी मंडली जा रही है।"

"मंडली ?"

बंडू देखने में जितना काला, काना और कुरूप था, उतना ही मन का सुन्दर था। पर उसके मन को कोई नहीं देखता था और सब के मन में उसके प्रति भ्रान्त धारणा बन जाती थी। सब लोगों का मत था कि वह प्रत्येक को दुष्मार्ग पर ले जाता है।

मास्टर की पत्नी को भी यह सन्देह हुआ कि वह उसके पति को किसी कुल्टा स्त्री के पास ले जा रहा है। वह संदेह-दृष्टि से अपने पति की ओर देखने लगी।

"अरे, हमारा सारा क्लब जाने को है। तुझे भी ले चलता, पर अभी तक हमने फैमिली-सर्कल नहीं बनाया है।"

"फिर किसका सर्कल बनाया है ?"

"अपना ही, मैन ओनली।"

"और पिकनिक के लिये कहां जाओगे ?"

"चले जाएंगे कहीं। अभी निश्चय करेंगे कि गोण्गड जाएं कि पोतेश्वर के मन्दिर जाएं। सूझतों के पहाड़ पर जाएं कि अन्धों की घाटी में जाएं। यही बात है न, रे बंडू ?"

'तो फिर प्रियतम, एक काम करना, मेरे लिये वहां से कुछ ले आना।"

"हां, ध्यान रहा तो अवश्य ले आऊंगा। गोण्गड गए तो चम्पा का फूल, पोतेश्वर गए तो चना-चबेना, सूझतों के पहाड़ पर गए तो चकमक पत्थर और यदि अंधों की घाटी में गए तो······क्यों रे बंडू वहां क्या मिलता है ? हां, वहाँ तो सिर्फ मुर्गी-बतख के अतिरिक्त कुछ मिलता नहीं। अण्डे लाऊं क्या बिलकुल शुभ्र ?" 'छिः छिः ! क्या नाम ले लिया सुबह ही सुबह।"

गंगानाथ गोरे थे प्राणिशास्त्र के व्याख्याता। नौकरी छूट जाने से आजकल टोल गांव में रहने लगे थे। मेंढक से लेकर केंकड़े तक अनेक प्राणियों की वह चीर-फाड़ कर चुके थे, उन्हें न किसी का संकोच था, न लाज, न भय ? जिस

समय वे जीव-जन्तुओं की उदर-स्थित गुप्त चीजों को निकालते, उस समय बेचारा बंडू चुटकी में जनेऊ रखे (नखों में प्राण धरे) उनकी उन बातों को सुनता। जब वे मछली के पेट का धड़ाधड़ वर्णन करने लगते, तो बंडू को लगता कि वह विद्वद्रत्न वस्तुतः टोलगांव की मछली द्वारा निगले हुए माणिक्य ही हैं। उनका अण्डा-सम्बन्धी ज्ञान भी अद्‌भुत था। उन्होंने अण्डों से सम्बन्धित अनेक सुरस और अद्‌भुत कहानियां बंडू को सुना रखी थीं जिनमें तिल से लेकर नारियल तक के आकार के अंडों का समावेश था। सामन्त (अथवा सोमण) उपनाम वाली एक मछली अर्थात् मक्खी नदी में हजार मील जाकर अंडे देती है और मर जाती है। उसके बाद बच्चे अंडे के बाहर निकले कि वे माता-पिता का गृह त्यागकर पुनः समुद्र में लौट जाते हैं। गांधील नामक मछली और कुम्हारिन किसी अच्छे से कीड़े को देखकर उसकी पीठ को छेद कर वहां अंडे रखती है। आगे चलकर उन्हें सेने की सख्त कैद समाप्त होते ही वह कीड़ा मर जाता है। बीच में उसके अपने अंडों का क्या होता है, भगवान जाने! घर की मक्खी तो एक अरब अंडे देती है। उन्हें गिनने तक तो वह मक्खी भी मर जाती है और उनमें से अनेक अंडे भी नष्ट हो जाते हैं।

सारे जीवजन्तुओं के अंडे-बच्चे जाननेवाला यह हिंसक प्राणी हमारी गुप्तता पसन्द न करता होगा, ऐसा बंडू को भय था क्योंकि इस ब्रह्मचारी प्रोफेसर को किसी का भय न था। उनके वृद्ध माता-पिता न उसकी चीरफाड़ की तरफ ध्यान देते थे और न उसके खाने-पीने की ओर, यह बात भी बंडू को पता थी। उसे शंका थी कि आमलेट का निमंत्रण मिलते ही वह अकारण ही रास्ते-भर उसका विज्ञापन करता हुआ अपने साथ चलेगा। अतः अपने लिए नहीं तो कम से कम औरों के लिये उनका यह उत्साह रोकूंगा' यह सोचकर वैसी ही प्रार्थना करने के उद्देश्य से बंडू आया था। पर उसे जो अनुभव हुआ, वह निराला था।

थैंक्स फार दि इन्विटेशन्।' प्राध्यापक गोले उसका हाथ दबाते हुए बोले। "मैं अभी चलता हूं। पर यार, एक काम करना चाहिये। किसी को इस बात का पता नहीं लगना चाहिए कि मैंने इसमें भाग लिया था।"

"प्रोफेसर।" बंडू चीखा। "आप भी ऐसा कहते हैं!"

'शूः", प्रोफेसर उसे धमकाते हुए बोले, "हां, मैं भी यही करता हूं। यद्यपि यह गंगानाथ सिद्धान्त को भूला नहीं है, तथापि इसके पीछे कुछ डिप्लामैटिक कारण है।"

"डिप्ल—।"

"मैटिक" प्रोफेसर गर्दन हिलाते हुए बोले। बात यह है बंडोपंत कि मैंने अमृतसर के विद्यापीठ में प्रोफेसरशिप के लिए अर्जी दी है। उन्हें शतप्रतिशत सात्विक वृतिवाला स्टाफ रखना है। अतः, जरा सावधानी से काम करना है। अगली बार मोटी चोटी भी रख लूंगा।"

"उत्तम, उत्तम।" बंडू खुश होकर बोला और वह आगे बढ़ गया।

अब केवल रामराव-शामराव की जोड़ी रह गई थी। सौभाग्य से बंडू को वे दोनों सुरय्या-नर्गिस पर झगड़ा करते हुए रास्ते में ही मिल गये। दोनों कितने ही वर्षों से फिल्मी पागलपन से ग्रस्त थे। चित्र-तारिकाओं की बात चली नहीं कि वे दोनों पक्षी वहां चक्कर काटने लगते और वादविवाद की आंधी उठने लगती और फिर उन्हें यह भी पर्वाह न रहती कि वे घर में हैं, द्वार पर हैं या देहरी पर खड़े हैं।

बंडू पर दृष्टि पड़ते ही उनका झगड़ा समाप्त हो गया क्योंकि दामुकाका का कार्य दोनों को अच्छा लगता था। और उस पर जब बंडू ने अपने आने का कारण बताया तब तो उनका झगड़ा तुरन्त समाप्त हो गया और वे दोनों हाथ में हाथ डाले निर्धारित स्थल के लिये चल दिये।

बंडू प्रसन्न चित्त से बनिये के पास पहुंचा। जब सामान खरीदकर वह सोमण के घर पहुँचा, तब तक अनाठायी अड्डे का फुल कोरम हो चुका था। सदाभाऊ ने अपनी तरफ से पूरी तैयारी की थी। दीवानखाने में नया फर्श बिछाया था। पान-सिगरेट के डिब्बे और फूलों की डलिया भी रखी हुई थी। स्टोव्ह धीरे-धीरे जल रहा था, अंगीठी में कोयले डाल दिये गए थे। तवा दीवार के सहारे रखा हुआ था। डालडा के डिब्बे का भी उद्घाटन हो चुका था। बेसन की पिठ्ठी की परात में कटी हुई प्याज के टुकड़े पड़े थे और उनको काटने के कारण सदूभाऊ के गीले नेत्र अभी तक नहीं सूख पाए थे।

इतना ही नहीं। बाहर गन्ध न जाये, अतः खिड़कियां बन्द कर दी गई थीं। बर्तनों में गन्ध रह जाने से कहीं भंडाफोड़ न हो जाय, अतः राख, सोडा, नारियल के रेशे, साबुन आदि सब चीजें तैयार रखी थीं और बची-खुची चीज़ों तथा झूठन को सीलबन्द कर कहीं दूर फेंकने के लिए एक टोकरी भी तैयार थी।

और इतनी तैयारियां होते हुए भी मेम्बरों के चेहरे उतरे हुए थे, क्योंकि आज का सर्वाधिक महत्त्व का मेम्बर अभी तक नहीं आया था। गजाभाऊ गुप्ते की सायकिल की घंटी सुनने के लिये सब के कान आतुर थे।

बंडू को जब यह ज्ञात हुआ, तो उसके माथे पर सिकुड़न पड़ गई। चार बजे, सवाचार, साढ़े चार हो गए, फिर भी गजाभाऊ का पता न था। अंगीठी जलाने के लिए रखी दिवसलाई की डिबिया सिगरेट जला-जला कर खत्म कर दी गई थी। प्याज के टुकड़े भी मुर्झाने लगे थे।

साढ़े पांच बजे। अब तो मेम्बरों के पेट में कांव-कांव करनेवाले कौए एकदम चिल्ल-पों मचाने लगे। समय-असमय न देखनेवाले उस मूर्ख-सेन्सलैस आदमी की तलाश करने किसी को जाना चाहिये—यह मांग हुई। पर कौन जाए, अभी यह

निश्चय नहीं हुआ था कि जीने पर पदचाप सुनाई दी।

सबकी गर्दन उधर घूम गई। गजाभाऊ के भीतर आते ही उसकी गर्दन मरोड़ने के लिए चौदह मुठ्ठियां भिंच गईं।

पर जो भीतर आया, वह गजाभाऊ न था। वह था सदूभाऊ सोमणे का पुराना स्वामिभक्त नौकर बाबू।

बाबू हांफते हुए बोला, "मालिक, आपने न आने के लिए कहा अवश्य था, पर आना पड़ गया। गल्ती जरूर हुई, उसके लिए भले ही मारें, पर मुझसे रहा नहीं गया।"

"क्यों रे, क्या बात है?"

"यों ही मोटर के अड्डे पर चला गया था···तो मालकिन उतरती दिखाई दीं। स्वयं इन नेत्रों से देखा है। म्हादू तांगेवाले के तांगे में, यही बताने आया था। अब जाता हूं।"

"क्या कहता है रे?" सदूभाऊ घबराहट में खड़े हो गए और बोले "सत्यानाश हो गया। दोस्तो, आज की बैठक बर्खास्त। पर यह महारानी लौट कैसे आई?···बाबू, मुँह की ओर क्या देख रहा है? तेरी छुट्टी केन्सल। यह फर्श समेट। वे डिब्बे ठीक से रख। टोकरी फेंक दे। अंगीठी उठा। कलछी···"

अनाठायी अड्डे की सभा बर्खास्त हो गई। सब सदस्य पिछले द्वार से भागने के लिए दौड़ पड़े, पर उसमें ताला लगा हुआ था और ताली थी आचार्य काका के पास। तो भी रामराव, शामराव क्षणभर भी न रुककर ड्रेनपाइप पर लटककर भाग गए। पावसकर मास्टर ने नारियल के रेशों को उठाकर नाक के नीचे मूंछों की तरह धारण कर लिया और इस वेषांतर की सहायता से सहज ही अगले दरवाजे से निकल गए। प्राध्यापक गोले बिना कुछ सोचे-विचारे तोप के गोले की तरह बाहर निकल गए। वह किस द्वार से निकले, यह किसी को मालूम ही नहीं पड़ा। स्वयं बंडू अगले दरवाजे से लुढ़कता हुआ बाहर चला गया, पर इतने में कहीं मनुकाकी का तांगा न आ जाय, इस डर से एक पेड़ के पीछे छिप गया। उसने शिंत्रे वकील को उसी पेड़ की आड़ से निकलते देखा। वह अपनी वकीली पोशाक में थे। बंडू मन ही मन बोला, "कदाचित् हज़रत का इरादा यह दिखाने का है कि वह सदूभाऊ को जमींदारी के बारे में परामर्श देने आये थे।" फिर उसने मन में सोचा, "वस्तुतः हम सबमें चतुर वही है। भागने का कारण आखिर क्या है? आक्षेप की मुख्य वस्तु तो आई भी नहीं है और सब के सब भाग पड़े। तभी कहते हैं कि 'चोर के पैर नहीं होते।' मनुकाकी को क्या पता नहीं है कि अनाठायी अड्डे की बैठक यहीं होती है। व्यर्थ ही गधों की तरह डर गये।"

अपनी मूर्खता पर हंसता हुआ बंडू पेड़ की आड़ से निकलकर मनुकाकी के स्वागत के लिए खड़ा होने वाला ही था कि उसे गजाभाऊ गुप्ते की बेतहाशा

दौड़ती हुई सायकिल दिखाई दी। इससे पूर्व कि वह जल्दी से संकेत द्वारा गजा-भाऊ को समझाता, उन्होंने अपनी सायकिल दीवार से टिका दी और अपने आप ही बोलने लगे क्योंकि विलम्ब के कारण उनका मन उन्हें कचोट रहा था।

"क्या करता बंडू, बिल्कुल लाचार था। सारी मुर्गियों ने हड़ताल कर दी है। यह हड़ताल की हवा उन्हें भी लग गई है। औषधि के लिए भी अंडे नहीं मिलते। जैसे-तैसे चौगुने दाम देकर चार दर्जन लाया हूं, और वे भी बतख़ के हैं। स्वाद में थोड़ा फर्क जरूर होगा, पर क्वांटिटी तो दुगनी मिलेगी खाने को। कल से तो बतख भी पन्द्रह दिन की हड़ताल कर रही हैं—ऐसा उनके दलाल कह रहे थे। सालों को चोर-बाजार करना होगा, और क्या ?...पर बंडू अब समय नष्ट मत करो। वे लोग मुझ पर क्रोध कर रहे होंगे। चल, चलें।"

यह कहते-कहते सायकिल पर बंधी हुई वह डलिया खोलकर गजाभाऊ ने कब सिर पर रखी और कब जीना चढ़ने लगा, बंडू को यह पता ही न चला। लाल रोशनी (खतरे की) दिखाने का ध्यान ही उस घबराये हुए बंडू को न रहा। वह बड़े जोर से 'आह' भरकर सड़क की ओर पागलों की तरह देखता रह गया।

सड़क पर तांगा खड़ा था। तांगेवाला मनुकाकी का बिस्तर लिये घर की ओर आ रहा था और पीछे-पीछे मनुकाकी थके पैरों से धीरे-धीरे चली आ रही थीं।

"अ...अ...अ...अभी से आगई, भाभी जी ?" बंडू के ओंठ यंत्रवत् बोल उठे।

"और क्या करती ? अभी नहीं आती तो क्या रास्ते पर बैठी रहती ? वह गाड़ी गाड़ी घाट पर ही पंक्चर हो गई। करती क्या ? लौटती मोटर से चली आई। हो गया न वायुपरिवर्तन का बंटाढार। कभी ऐसा हुआ है कि हमारा बनाया प्रोग्राम सफल हो जाय ?"

"कभी नहीं" बंडू ओठों को दांतों से चबाते हुए तीव्र स्वर में बोला और वहां से सटक गया।

"हैं, क्या बात है सदूभाऊ ? ...सामान ले आया हूं..." गजाभाऊ अपने विलम्ब पर लीपापोती करने के लिए पहले से ही मधुर स्वर में बोलने लगा "जरा विलम्ब तो अवश्य हो गया, पर धैर्य का फल मीठा होता है। अरे, मंडली कहां है ? आग जलाओ न...'

"अपनी उस डलिया में लगा आग और हो यहां से रफूचक्कर।"

सदूभाऊ चीखे। "पूछता है, मंडली कहां[1] है ? आ तो रही है तेरे पीछे-पीछे ...मूर्ख, तेरी आंखें भी हैं या नहीं ? या अंडों के कारण उनमें रतौंध आने लगी

१. मंडली का अर्थ मराठी में होता है—समूह, पत्नी।

है ? तेरी मनुकाकी जीने पर आ रही है। तुरन्त फेंक दे अंडे बाहर। फेंक जल्दी।"

गजाभाऊ हक्का-बक्का सा देखने लगा और फिर वह तुरन्त अन्दर की कोठरी की ओर भागा। उसके अन्दर घुसते ही सदूभाऊ ने चट से द्वार बंद कर दिया और हाथ मलते हुए पत्नी की प्रतीक्षा करने लगे।

"मरी, भाड़ में जाय यह मोटर-सर्विस। इससे तो यह खटार गाड़ी अच्छी। आठ दिन तो जरूर लगाती है, पर अंततः पहुंचा तो देती है। उसके पहियों में पंक्चर तो नहीं होता।"

"बैठो, बैठो, तुम थक गई होगी।" सदूभाऊ बनावटी हंसी मुख पर लाते हुए बोले" तुम्हारे आने का पता अभी-अभी लगा। पर पूरी बात तो बताओ। पहले बाबू से चाय के लिए कह दूं। वह स्टोव्ह नीचे ले गया दिखता है।"

"ले गया होगा, वह मरा अड्डे के सदस्यों को पतीला भर-भर कर चाय पिलाने के लिए।...अरे हां, मैं बिल्कुल भूल ही गई। गजाभाऊ आये थे न अभी-अभी ?"

"ग...गजाभाऊ।"

"अरे मैंने अभी तो देखा था उन्हें अपने आगे जीना चढ़ते हुए। आ गए हैं, तो अब उनको भी चाय पिला दें। मैं न हुआ करूं, तो आए-गए का ध्यान रखा करो न...केवल चाय से काम नहीं चलेगा। बाबू से जरा गर्म-गर्म हलुवा बनाने के लिए भी कह दो। हम दोनों को भी हो जायगा और गजाभाऊ भी खा लेंगे।"

पुनः गजाभाऊ। यह गजाभाऊ के सत्कार की सनक आज कैसे अचानक उत्पन्न हो गई ? सदाभाऊ की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। वह कुछ कहने वाला ही था कि मनु काकी स्नानगृह में चली गई। तब बाबू को चाय और हलुवा बनाने क लिए कहकर उन्होंने भीतर की कोठरी का द्वार खोला।

पर उन्हें गजाभाऊ वहां दिखाई ही नहीं दिये। गजाभाऊ ने खतरा देखते ही अन्दर की कोठरी की खिड़की से सारा माल फेंक दिया था। खिड़की से दूर-दूर तक धोबी-घाट दिखता था, नदी किनारे के ऊँचे-नीचे पत्थर दिखते थे।

गजाभाऊ ने ४८ के ४८ अंडे एक-एक कर उन पत्थरों पर पटक दिये। डलिया अंडों का नाम निशान तक न बचा, तो उसने डलिया भी दूर फेंक दी। कौओं ने पत्थरों को चारों ओर से घेर लिया था। कदाचित् वे मेम्बरों के पेट में उछलकूद मचानेवाले कौवे ही थे।"

फिर वह हाथ धोने के लिए ज्योंही स्नानगृह में घुसा, त्योंही उसे वहाँ मनु-काकी दिखाई दीं। गजाभाऊ का मुंह फटा का फटा रह गया "भाभी जी, आप आ गईं ?"

"हां, मैं आगई। क्या तुम्हें पता नहीं लगा ? हमारी मोटर में पंक्चर ही हो गया। पर छोड़ो उस बात को। गजानन भाई जी ! मैंने बाबू को तुम्हारे लिए

हलुवा बनाने के लिए कहा है। आप थोड़ी देर बैठक में बैठिये। ऐसे नहीं जाने दूंगी, बिना खिलाये।" यह कह मनु काकी मधुर हँसी हँसी।

जब गजाभाऊ बैठक की ओर मुड़े, तब मनु काकी किसी गूढ़ विचार में मग्न हो उनकी ओर देखती रहीं। फिर कुछ निश्चय कर उन्होंने गजाभाऊ को पुकारा "भाई साहब।"

गजाभाऊ चौंककर रुक गया और उसने जिज्ञासा-दृष्टि से मनु काकी की ओर देखा।

"भाई साहब—" उसके पास आकर बड़े धीमे स्वर में मनु काकी बोलीं, "तुमसे भेंट हो गई, एकतरह से बड़ा अच्छा हुआ। कहिए,मेरा एक काम कर देंगे ?"

पुनः प्रश्नार्थक मुद्रा।

पर बात रहस्य की है। किसी को कानों-कान खबर न हो।

"बताइये"

"आज इस दुर्घटना के कारण मेरी यात्रा तो अधूरी ही रह गई, पर एक दूसरा लाभ अवश्य हो गया।"

"वह क्या ?"

"मोटर में मुझे अपने पुराने डाक्टर मिल गए। वह मेरे पीहर के फैमिली-डाक्टर हैं। कितने ही वर्ष बाद उन्होंने मुझे देखा था और देखते ही बोले—'अरे बगे, मुझे पीहर में सब 'बगे' कहते हैं—कितनी दुर्बल हो गई है'।"

"सभी यही कहते हैं, भाभी जी।" गजाभाऊ करुण स्वर में बोला।

"सुनो तो···फिर वह बोले—बगे, तुझे क्या हो गया है री। तुझे जरूर मन्द ताप है, शरीर दुखता होगा, है न यही बात ? अच्छा मैं तुझे एक दवा बताता हूं। न वह ऐलोपैथी है, न हैलोपैथी। सब डाक्टरों की छुट्टी कर और सिर्फ एक रोज का (दोनों अंगुलियों को गोलाकार बनाते हुए) खाए जा, बस फिर सब ठीक हो जायगा। इतना कर के तो देखना ? और भैया क्या बताऊं, जो कभी मन में तो क्या स्वप्न में भी नहीं आया था, वह करना मैंने डाक्टर साहब के सामने स्वीकार कर लिया। तुम कहोगे कि मेरा दिमाग चल गया है। सचमुच मुझे यह बिल्कुल पसंद नहीं है, पर करूं क्या ? स्वास्थ्य का ध्यान तो रखना ही चाहिए—उसके लिये तो सब कुछ···।"

गजाभाऊ के मुंह से बोल न फूटता था। वह केवल अस्पष्ट ध्वनि करता रहा।

मनु काकी विनयपूर्ण स्वर में बोलीं, "प्रतिदिन एक घोलकर खाना है। और वह (अंगुलियों का गोलाकार) प्रतिदिन बिना नागा भेजने का काम तुम को सौंपती हूं। कर दोगे न यह काम ? तुम सहज ही कर सकते हो। तुम्हारे पास तो

सफेद आलुओं का ढेर का ढेर रहता है न ?"

धप्प से उस ढेर में गिरने की सी अनुभूति गजाभाऊ को हुई।

"तो···तो। तो···तो।" गजाभाऊ के मुख से कुछ देर तक बस यही शब्द निकल पाये।

"आजकल मुर्गियों की हड़ताल है, अतः बतख के से भी काम चल जायगा, ठीक है न।" मनु काकी की यह सूचना भी उन्होंने सुनी या नहीं, भगवान जाने।

चाय के समय सद्भाऊ तथा मनु काकी ने घर का कोना-कोना छान डाला, पर गजाभाऊ का कहीं पता न था।

अजीब जासूस

डा० अ०वा० वर्टी

पत्रकारिता, साहित्य-रचना एवं वैद्यक तीनों में समान ख्याति-लब्ध डा० वर्टी आधुनिक विनोदकारों में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं। अब तक कई बार कथा-स्पर्धाओं में पारितोषिक प्राप्त डा० वर्टी २५० से अधिक कहानियां लिख चुके हैं जिनमें से लगभग १०० कहानियां विभिन्न कथा-संग्रहों में संकलित की जा चुकी हैं। कथा-साहित्य के अतिरिक्त वे अब तक दो उपन्यास और एक नाटक भी लिख चुके हैं! मराठी के प्रथम डाइजेस्ट 'अमृत' का सम्पादक होने का श्रेय भी उन्हीं को है। 'चन्द्रहास प्रकाशन' नासिक के व्यवस्थापक हैं तथा 'श्रीयुत' नामक डाइजेस्ट के सम्पादक हैं। आधुनिक विनोदकारों के समान वह भी शब्दनिष्ठ हास्य की अपेक्षा प्रसंगनिष्ठ हास्य की सृष्टि करते हैं। आचार्य अत्रे के समान बिडम्बन (Parody) रचना में भी वह कुशल हैं। प्रस्तुत कहानी उसी का प्रमाण है।

जब मुझ में कुछ-कुछ समझ आ चली, तो मेरे मन में जो पहली महत्वाकांक्षा उत्पन्न हुई, वह थी एक तांगा वाला बनने की। एक छोटी-सी लकड़ी के सिरे पर एक रस्सी का टुकड़ा बांध कर और एक लाठी को घोड़ा मान कर, मैं "चल, चल" कह कर, अपनी महत्वाकांक्षा पूरी कर लेता था। तदनन्तर मुझे ड्राइवर बनने की इच्छा हुई। बस, मैं आस-पास के लड़कों को जमा करता था और उन्हें रेलगाड़ी बना कर, स्वयं इंजन-ड्राइवर तो नहीं इंजन अवश्य बन जाता। 'कऊक, झुक्-झुक्' करती, हमारी गाड़ी घर भर में शोर मचाती फिरती। लेकिन जब मैं बड़ा होने लगा, तो इंजन-ड्राइवर बनने की आकांक्षा जाती रही और गार्ड की नौकरी मेरा मन लुभाने लगी। फिर कुछ वर्ष बाद सिनेमा-स्टार बनने की महत्वाकांक्षा पैदा हुई। और इधर कुछ दिनों से जब से मैं जासूसी कथायें पढ़ने लगा हूं, एक प्रसिद्ध जासूस बनने की धुन मन में समा गई है। मेरे अन्य स्वप्न तो स्वप्न ही रहे, परन्तु शर्लाक होम्स बनने का मेरा स्वप्न बहुत-कुछ पूरा हो चुका है।

संध्या की काली छाया भूतल पर फैल रही थी। आकाश में बादल न थे, पर

क्षितिज पर बिजली चमक रही थी। हवा सूं-सूं करके बह रही थी, और दरवाजों तथा खिड़कियों से अन्दर घुस कर कष्ट पहुंचा रही थी। बाहर तालाब में मेंढक टर्र-टर्र किए जा रहा था। हवा के झोंके से टेबल पर का लैम्प कम-अधिक चमक रहा था और इस कारण वह उदास वातावरण अधिक उदास बन रहा था। दीवार पर एक छिपकिली चुक-चुक की आवाज कर रही थी।

किसी अमीर का खून करने के लिए या किसी मूल्यवान् रत्न की चोरी करने के लिए कितना उपयुक्त समय है यह, मैं मन में कह रहा था। इस समय यदि कोई खून हो जाय, तो मजा आ जाय। और मैंने माइक्रोस्कोप सामने से हटा कर, पाइप जलाया।

मैं इस नतीजे पर पहुंचा था कि शर्लाक होम्स बनने के लिए एक पाइप, एक छड़ी और डा० वाटसन् की आवश्यकता होती है। और यह सब मैंने प्राप्त भी कर लिया था। शर्लाक होम्स की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, तर्कयुक्त विचार-प्रणाली, तीक्ष्ण बुद्धि और अपराधियों को खोज निकालने की चाह तो मुझ में बचपन से ही थी। इतना ही नहीं, तरह-तरह के प्रयोग करने के लिए अपटुडेट सामानों से सुसज्जित एक प्रयोगशाला भी मैंने तैयार करवा ली थी।

मैंने अब तक जितने भी अपराधों की खोज-बीन की थी, उन्हें देख कर जन-साधारण को चकाचौंध-सी हो गई थी। परन्तु उन खोजों में मेरी इस प्रयोग-शाला का उपयोग किस हद तक हो सका था, यह बता सकना तो मेरे लिये भी कठिन है। परन्तु उस प्रयोगशाला में मैं काम करता हूं, या यों कहिए कि केवल काम करने का ढोंग ही करता हूं, यह देख कर, लोगों ने मुझे अत्यन्त बुद्धिमान जासूस मान लिया है। दूसरों की बात जाने दीजिए, स्वयं मुझे भी ऐसा प्रतीत होने लगता है।

जिस समय मैं किसी खूनी मनुष्य की तलाश में नहीं रहता, उस समय मैं अपनी प्रयोगशाला में व्यस्त रहता हूं। और कुछ इससे न हो, कम-से-कम मेरे कामों की बाबत गुप्तता और गूढ़ता निर्माण होने में इससे मदद तो मिलती ही है।

डा० वत्स्न, मेरे डा० वाटस्न, आराम-कुर्सी पर पड़े हुए, शाम का समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। मैंने ज्योंही पाइप जलाया, वे चिल्ला पड़े—"देखा ? भयानक खून।"

"क्या है ? पढ़िए।"—मैंने शांतिपूर्वक कहा।

डा० वत्सन् पढ़ने लगे—

"भयानक खून।

हजरतगंज के 'सुखनिवास' में रहनेवाले जवाहरों के प्रसिद्ध व्यापारी घनसुखलाल आज सुबह अपने पलंग पर मरे पाये गये। नित्य की तरह उनका

रसोइया उनके लिए चाय लेकर जब गया, तो उसे वह भयानक दृश्य दिखा। एक गोली सेठ जी के सीने के पार हो गई थी और उनकी चादर खून से लतपथ थी। पुलिस में इत्तला दे दी गई है। जांच हो रही है। पुलिस आश्चर्य-चकित है। एक कन्या के सिवाय सेठ का और कोई सगा-संबंधी नहीं है।

हजरतगंज का नाम सुनते ही मैंने तय कर लिया था कि यह घटना मेरी जासूसी के योग्य है। हम जासूस हमेशा धनिकों के ही मामलों की जांच करने का प्रयत्न करते हैं। क्या आपने कभी सुना है कि किसी जासूस ने किसी गरीब के मामले की जांच की हो ? अपराध में मेरे दिलचस्पी लेने का कारण एक और भी था। वह था उस समाचार का आखिरी वाक्य। हम जासूस लोग जिन मामलों में हस्तक्षेप कहते हैं, उनमें एक सुन्दर स्त्री अवश्य होती है। या यों कहिए कि यदि किसी व्यक्ति की कोई संबंधी या प्रेयसी कोई सुन्दर स्त्री न हो, तो उसका खून भी नहीं होता। उपर्युक्त समाचार में धनसुखलाल की कन्या का रूप-वर्णन नहीं दिया गया था, परन्तु मैंने तर्क से जान लिया कि वह अवश्य ही सुन्दरी होगी। शायद संवाददाता को उसका रूप दिखा ही न हो, या दिखा हो भी, तो उसका महत्त्व वह समझ ही न सका होगा। हां, ठीक तो है, यदि उसने उसका सौंदर्य देखा होता, तो साधारण संवाददाता के बजाय एक सिद्धहस्त जासूसी कथा-लेखक ही नहीं बन जाता।

"आपका इस खून के बारे में क्या ख्याल है ?" डा० वत्सन् ने पूछा।

पाइप का एक कश ले कर मैंने कहा—"डाक्टर, आपकी पत्नी की लम्बाई पांच फीट, पौने तीन इंच है, और वह अत्यन्त सुन्दर हैं न ?"

मेरा यह वाक्य सुनकर डा० वत्सन् हक्के-बक्के-से रह गये। और उनकी वह हालत देख कर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। आपको कदाचित् आश्चर्य होगा, यदि मैं कहूं कि जब मैं अपनी प्रयोगशाला में बैठा रहता हूं, तो यही सोचा करता हूं कि डा० वत्सन् को किस तरह आश्चर्य-चकित किया जाय।

आपने यह बात तो अवश्य देखी होगी कि केवल शर्लाक होम्स ही नहीं, कोई भी जासूस क्यों न हो, उसे ऐसे ही मूर्ख डा० वाटसन् की आवश्यकता होती है। हमारे साथ कोई डा० वाटसन् न हो, तो हम जासूसों का जीवन पूर्णतया नीरस बन जाय। कोई अजीब-सी लगने वाली बात हम उसे कहते हैं और उसे आश्चर्य-चकित कर देते हैं। जो बात उसे अत्यन्त कठिन तथा गूढ़तम प्रतीत होती है, उसे हम बड़ी आसानी से हल कर देते हैं और फिर अपने डा० वात्सन् को आश्चर्य और अपने प्रति आदर के भाव में डूबा छोड़ देते हैं। रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए डा० वत्सन् जो प्रश्न पूछता है, वह ऐसे ही प्रश्न तो होते हैं, जो पाठकों के मन में भी उठते हैं। या यों कहिये, पाठकों को अपनी शंका-कुशंकाओं का समाधान कराने के लिए डा० वाटसन् मिल जाता है।

मैंने जो कुछ श्रीमती वत्सन् के बारे में कहा था, उसे सुन कर डा० वत्सन् अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए। बहुत-देर तक उनके मुंह से एक शब्द भी न निकला। कुछ देर बाद जब मेरी बुद्धि की चकाचौंध कम हुई, तो उनकी मानसिक अवस्था पूर्व स्थिति पर आई। उन्होंने पूछा—"पर यह आप कैसे जान सके ? आपने मेरी श्रीमती को तो कभी देखा ही नहीं। मेरे विवाह में भी आप शामिल नहीं हो सके थे।"

"हां, उस समय मैं कनकपुर के महल वाले खून की खोज-बीन में व्यस्त था।" मैंने कहा।

"फिर आप यह कैसे जान गये ?" उन्होंने फिर पूछा।

उन्हें पूरीतौर से हक्का-बक्का-सा बना डालना और फिर अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता सिद्ध कर देना मेरे लिए आसान काम हो गया था। उनके कौतूहल पर और अधिक दवाव डालना उचित न समझ कर मैंने कहा—"आपके कोट के कालर पर एक सिंदूर का दाग है। यह यहां कैसे लगा ? इसका कारण एक ही हो सकता है। घर से निकलते समय आप अपनी पत्नी से मिलकर आये होंगे। इस दाग की ऊंचाई जमीन से ठीक पांच फीट है। आप जब अंदर आये, तो उस अलमारी के पास से होते हुए आये, और उसका ऊपरी सिरा ठीक पांच फीट की ऊंचाई पर है। ऊंचाई में यदि आपकी पत्नी के मस्तक की ऊंचाई छोड़ दी जाय, तो आपकी पत्नी की लम्बाई पांच फीट पौने-तीन इंच हुई। आपका विवाह हुए अब पन्द्रह दिन हो चुके हैं, फिर भी आप पत्नी से मिले बगैर घर से नहीं निकलते, इस बात से सिद्ध होता है कि वे सुन्दरी भी अवश्य होंगी। प्रयोगशाला में की हुई मेरी परीक्षाओं से सिद्ध हुआ है कि प्रायः हर स्त्री का मस्तक लगभग पौने-तीन इंच ही ऊंचा होता है।"

मेरा यह स्पष्टीकरण आंखें विस्फारित किये डा० वत्सन् सुन रहे थे। उनके पास जाकर और उनके कोट के कालर पर लगा सिंदूर साफ करते हुए मैंने कहा—"डाक्टर साहब, आपके कोट के कालर पर ऐसा दाग लगा न रहने पाये, इसका ध्यान रखा कीजिये। आपका विवाह कुछ दिन पूर्व ही हुआ है, इस कारण मुझे यह सलाह देनी पड़ रही है। नहीं तो किसी रात को आप ऐसा दाग लेकर घर पहुंचेंगे और श्रीमती वत्सन् उसे देख लेंगी, तो फिर बहुत बड़ी मुसीबत खड़ी हो जायगी।" कह कर, मैंने ऐसा भाव प्रकट किया जैसे बड़ी हास्योत्पादक बात कही हो।

फिर मैं जाकर अपनी कुर्सी पर बैठ गया।

मुझे कुछ बातों का स्पष्टीकरण करना ही पड़ता है। जिस तरह जादूगर मामूली हाथ की सफाइयां दिखाने के पहले भूमिका बांधते हैं, उसी प्रकार इस तरह की कुछ छुट-पुट बातें कह देने से डा० वत्सन तथा जिनके वे प्रतिनिधि हैं,

ऐसे पाठकों की उत्सुकता और कौतूहल अत्यधिक बढ़ जाता है।

मेरी बातों से हत्बुद्धि-से होकर डा० वत्सन् बैठे थे। कुछ देर बाद जब उनकी बुद्धि जाग्रत हुई, तो वे बोले—"जवाहरात के उस व्यापारी के खून के विषय में आपने कुछ नहीं कहा ?"

मैंने रहस्यश्पुर्ण ढंग से हँस कर कहा—"हूं।"

इतने में दरवाजे की घंटी बजी। मैंने डा० वत्सन् की ओर देख कर अर्थ-पूर्ण स्वर में कहा—"हियर कम्स आवर कस्टमर (हमारा ग्राहक आ गया)।"

डा० वत्सन् ने दरवाजा खोला और एक बीस वर्षीया तरुणी ने प्रवेश किया। वह गुजराती तरीके से साड़ी पहने थी। वह अत्यन्त रूपवती थी। उसकी आंखें बड़ी-बड़ी और काली थीं और उन में डर की छाया थी। उसे देख मेरे हृदय में कुछ हलचल हुई, परन्तु मैंने उसे निष्ठुरता से दबा लिया। हमारे पास जो सुन्दर स्त्रियां काम के लिए आती हैं, उनके विषय में ऐसी भावनाएं उदित होना अच्छी बात नहीं, क्योंकि वैसा करने से व्यावहारिक अड़चन पैदा हो सकती है। मान लीजिए कि एक बार कोई सुन्दरी आई और उससे हमारा प्रेम हो गया, मान लीजिए कि विवाह भी हो गया, तो फिर दूसरी बार यदि कोई दूसरी सुन्दरी आई, तो क्या होगा ? या यों कहिए कि यदि हमारा विवाह ही हो गया, तो फिर हम दूसरे कामों में ध्यान ही क्यों देंगे क्योंकि प्रत्येक मामले में एक सुन्दर तरुणी तो अवश्य ही होती है ? और पूछ-तांछ के लिए ही क्यों न हो, उससे बोलने की आवश्यकता तो पड़ती ही है। और यदि पहिला विवाह हो गया हो, तो मिसेज शर्लाक होम्स उससे बोलने की मनाही तो कर ही देंगी। तो फिर हम अपराधियों की खोज कैसे कर सकेंगे ? इसी कारण सब प्राइवेट जासूस ब्रह्मचारी ही हुआ करते हैं।

नवागन्तुक तरुणी चंचल बेन से मैंने कुर्सी पर बैठने को कहा। तीन जीने चढ़ कर आने के कारण पैदा हुई हांफी कुछ कम होने पर और पिता की अप्राकृतिक मृत्यु के कारण बढ़ी हुई उसकी दिल की धड़कन कम हो जाने के बाद मैंने उसका नाम, पता वगैरा पूछा। वह सब बता कर उसने कहा—"देखिये, मिस्टर माडर्न शर्लाक होम्स—क्या अजीब नाम है आपका।—मेरे पिता के खून का मामला आप अपने हाथ में ले लें, ऐसी मेरी हार्दिक इच्छा है। पुलिस खोज कर रही है, पर उन लोगों को कहां तक सफलता मिलेगी, यह मैं जानती हूं। मि० होम्स, आपने कितने ही खून के मामलों की खोज-बीन की है; इस मामले की भी जांच आप करें, मैं प्रार्थना करती हूं। आप सब-कुछ ढूंढ निकालेंगे और जल्द ही ढूंढ निकालेंगे, ऐसी मेरी अपेक्षा है।···मुझे बड़ा डर लग रहा है। मैं समझती हूं कि इस मामले से किसी विचित्र षड्यन्त्र का संबंध है। और···और···"

उससे आगे कुछ बोलते न बना। दोनों हाथों से मुंह ढंक कर वह रोने लगी।

डा० वत्सन उसके पास गये और उसे सान्त्वना देने लगे। मैंने अपना बुझा हुआ पाइप फिर जला लिया।

लड़की बड़ी होशियार और चालाक दिखती थी। उसके प्रति मेरे मन में अनुकूल विचार उत्पन्न हुए। विशेषतः उसने पुलिस की अक्षमता के बारे में जो कुछ कहा था, उससे मैंने जान लिया कि चंचल बेन अवश्य ही बड़ी होशियार लड़की है।

पुलिस-विभाग के बारे में मुझे हमेशा आश्चर्य ही होता रहता है। सरकार कितना अधिक खर्च कर के इस विभाग को चलाती है, परन्तु उन लोगों ने किसी खून के मामले में जासूसी तौर पर खोज-बीन की हो, क्या आपने कभी कहीं पढ़ा है ? कभी न पढ़ा होगा आपने ! ऐसा होता, तो शर्लाक होम्स, सेक्स्टन ब्लेक या मुझ जैसे जासूसों की जरूरत ही क्यों होती ? अपराधियों को ढूंढ निकालने की चेष्टा करने वाले पुलिस-अधिकारियों के विषय में मेरे इन सहयोगियों से पूछिए। वे ऐसी मजेदार बातें सुनायेंगे कि आप हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायेंगे। मुझे तो ऐसा लगता है कि उन-जैसे मूर्ख लोग शायद ही सरकार के दूसरे किसी विभाग में हों। या कहीं ऐसा तो नहीं होता कि जहां किसी विभाग में कोई मूर्ख मनुष्य दिखा कि उसकी बदली पुलिस-विभाग में कर दी गई ? जो हो, ऐसे लोगों को पुलिस में लिया जाता है, यह एक तरह से अच्छी बात है, क्योंकि खोज करते समय उन लोगों के साथ हँसी-मज़ाक करने का जो मौका मिलता है, वह न मिलता। चंचल बेन पूरी तरह पुलिस-विभाग की नालायकी समझती थी, और इसी कारण उसकी इच्छा थी कि सेठ के खून का मामला मैं अपने हाथ में ले लूं। बड़ी होशियार लड़की थी वह !

चंचल बेन के मानसिक क्षोभ को दूर करने के लिए डा० वत्सन ने जो शारीरिक प्रयत्न किए, उनसे उन्हें कुछ ही देर में सफलता मिल गई। अन्त में उसके गालों पर से बह निकलने वाले अश्रुओं को उन्होंने अपने रुमाल से पोंछा। जब वह काफी शान्त हो गई, तो उसने सेठजी की मृत्यु की आद्योपान्त कथा कह सुनाई। पाइप का कश लगा कर, छत की तरफ देखते हुए, मैंने पूरी कथा सुनी।

"रात के समय क्या आपने पिस्तौल चलने की आवाज सुनी थी ?" मैंने पूछा।

"जी नहीं। रात को बारह बजे तक मैं एक उपन्यास पढ़ती रही। फिर मैं सो गई। सुबह उठते वक्त तक मुझे इस बात का तनिक भी पता न चला।"—उसने कहा।

"आप बड़ी पक्की सुअक्कड़ लगती हैं," मैंने कहा। वह कुछ शरमा गई।

"अच्छा, आपके कोई और संबंधी नहीं हैं, क्या यह सच है ?"

"जी हां।"

"कोई नहीं ? कुत्ता तक नहीं ?" वत्सन ने पूछा।

इस प्रकार बीच-बीच में प्रश्न पूछ कर वत्सन दिखाना चाहते थे कि पूछ-ताछ में तथा रहस्य की खोज-बीन की सफलता में उनका भी हिस्सा है।

"अच्छा, मुझे आप से अब एक नाजुक प्रश्न पूछना है," मैंने कहा। और कुछ रूक कर पूछा—'आपका कोई प्रेमी है या नहीं ?"

"जी है।"

"उनका नाम बता सकेंगी आप ?"

"मोफतलाल। वे भी जवाहिरात के व्यापारी हैं।"

"सेठजी की मृत्यु के पश्चात् क्या आपको ही सारी जायदाद मिलनी थी ?"

"जी।"

"क्या सेठजी आप लोगों के विवाह के विरूद्ध थे ?"

"जी।"

"फिर पुलिस ने मोफतलाल को तो अवश्य ही गिरफ्तार कर लिया होगा ?" मैंने कहा।

"जी हां। पर मैं कहती हूं कि वे बिलकुल निर्दोष हैं। और विशेष रूप से इसी कारण मैं आपके पास आई हूं। आप असली अपराधी को खोज निकालें और मोफतलाल को छुड़वा दें।" चंचल बेन ने कहा।

"बेन, शांत होइये," मैंने धीरज देते हुए, कहा—"मुझसे जो कुछ हो सकेगा, अवश्य करूंगा। अब आप जा सकती हैं।···परन्तु जाने से पहले एक बात का उत्तर और दीजिए।"

"पूछिए।"

"सेठजी के शयन-कक्ष में क्या टेबिल रखा है ?"

"जी।"

"क्या उस पर एक गुलदान है ?"

"जी।"

"अब आप जा सकती हैं।"

विस्फारित नेत्रों से मेरी ओर देख कर चंचल बेन चली गई। डा० वत्सन के मन में था कि वे उसे पहुंचा आयें, परन्तु मेरे आखिरी प्रश्नों से वे इतने आश्चर्य-चकित हुए कि उठ ही न सके। मैं शांतिपूर्वक पाइप के कश खींचता बैठा रहा।

"आपने कैसे जान लिया कि सेठ जी के शयन-कक्ष में एक टेबिल रखा है, और उस पर एक गुलदान भी है ?" डा० वत्सन ने पूछा।

डा० वत्सन जब ऐसे प्रश्न पूछते हैं, तब मैं एक गूढ़ हँसी हँस देता हूं। मैं इस बार भी हँस दिया। फिर मैंने अपनी छड़ी उठाई और बाहर चल दिया। चलते-चलते मैंने डा० वत्सन से कहा—'मैं जरा घूम आऊं। तब तक आप यहीं रहिये।

शायद धनसुखलाल के बंगले से फोन किया जाय और एक दूसरे खून का समाचार आये।"

स्तंभित डा० वत्सन को प्रयोगशाला में छोड़ कर मैं चला गया।

पहले मैं एक होटल में गया। वहां केक, बिस्किट और चाय पर हाथ साफ किया। फिर मैंने उस दिन के सब समाचार-पत्रों पर नजर दौड़ाई और बहुत देर तक पाइप के कश खींचता रहा।

फिर मैं रायल-एशियाटिक-सोसायटी के वाचनालय में गया। वहां जा कर 'हूज हू' (कौन, कौन है) में कलकत्ता, बंबई और अहमदाबाद के जवाहरात के व्यापारियों के पते पढ़े। फिर मैंने हीरों की बाबत एक पुस्तक मंगवा कर, जो आवश्यक जानकारी मुझे चाहिए थी, वह प्राप्त की।

जब मैं थक गया, तो माल रोड वाले पार्क में जा बैठा और घंटे-भर तक ठंडी हवा खाता रहा।

रात में ग्यारह के करीब मैं फिर एक होटल में गया। चावल-बिर्यानी खाने के बहाने मैंने उस होटल के मालिक की जांच की और फिर एक टैक्सी पर अपनी प्रयोगशाला को लौट आया।

"मि० होम्स," मैंने प्रयोगशाला में कदम रखा ही था कि डा० वत्सन बोले—"चंचल बेन का अभी-अभी फोन आया था। उनके रसोइया का खून हो गया। वह रसोई-घर में मरा पाया गया।" वे काफी घबरा गये थे, यह उनकी कांपती और घरघराती आवाज से स्पष्ट था।

इस समाचार में मेरे लिए कोई अनपेक्षित बात न थी। मैंने कहा—"डाक्टर अब आप घर जाइये। आपका विवाह हो चुका है, यह न भूलिये।"

अपना हैट उठा कर डा० वत्सन घर के लिए रवाना हो गये।

मैंने अपने-ही-आप कहा—"मामला तो बड़ा गूढ़ होता जा रहा है।"

दूसरे दिन बहुत तड़के डा० वत्सन मेरे पास आये। उन्होंने हजारों सवाल मुझसे पूछे। परन्तु मैंने एक का भी जवाब न दिया। इससे वे चिढ़ गये।

"यह मोफतलाल का ही काम होगा, क्योंकि इस खून के लिए आवश्यक 'मोटिव' (हेतु) उसी का हो सकता है। पुलिस ने अब तक उससे कबुलवा लिया होगा।" वे बोले।

"अवश्य कबुलवा लिया होगा" मैंने कहा। फिर पुलिस की आलोचना करते हुए मैंने कहा—"चाहे अपराध की खोज न करते बने, परन्तु किसी-न-किसी से कबुलवा लेना तो पुलिस-विभाग के बायें हाथ का खेल है।"

"आप हमेशा पुलिस-विभाग की कटु आलोचना किया करते हैं", वत्सन ने कहा।

"मान लीजिए कि मोफतलाल ने ही सेठ जी का खून किया," मैंने कहा—

"परन्तु यह दूसरा खून ? उसे करने के लिए क्या पुलिस ने मोफतलाल को छोड़ दिया था ?"

डा० वत्सन के कथन की मूर्खता मैंने दिखा दी। वे क्या जवाब देते ?

मैं फिर बाहर चला। होटल में जाकर भर-पेट नाश्ता किया और फिर वाचनालय में जाकर 'अणु-युग' नामक पुस्तक के कुछ पन्ने पढ़े और फिर टैक्सी पर इधर-उधर घूमा। बाद में एक दवा की दूकान में जा कर मैंने दमे की दवाइयों और उनके सेवन के तरीकों के बारे में पूछ-ताछ की। और फिर लौटते समय हाशिम की दूकान से सिंदूर की दो-तीन डिब्बियाँ खरीदीं।

"खूनी का पता मिला ?" मुझे देखते ही वत्सन ने प्रश्न किया।

"मैंने तर्क से पता लगा लिया" मैंने कहा—"परन्तु अब एक आखिरी सबूत और देखना बाकी है।"

इतना कह कर मैं वत्सन् के पास गया। उनके कालर पर लगे हुए कल के सिंदूर के कुछ कण खुरच कर मैंने कांच पर रखे और माइक्रोस्कोप के नीचे वह स्लाइड लगाई।

"डा० वत्सन, आप जरा अपना रूमाल दें।" मैंने कहा।

उनके रूमाल से भला मैं क्या करूंगा ?

वे आश्चर्य-चकित दृष्टि से मेरी ओर देख रहे थे। मैंने जेब से बृहद्दर्शक काँच निकाला और रूमाल को गौर से देखने लगा। आखिर मुझे जिस लाल दाग की जरूरत थी, वह मैंने पा लिया। एक चाकू से उस दाग के कुछ कण मैंने खरोंच लिए और फिर माइक्रोस्कोप से उनकी जांच की।

तब मैंने डा० वत्सन की तरफ देखा। उनके चेहरे पर हलचल मची थी। अब तक हम जासूसों ने न जाने कितने मामलों कीं जांच की होगी, पर इस तरह के मामले की जांच कदाचित् आज तक किसी ने न की होगी। कितने ही लोगों को, जिन पर शंका भी नहीं हो सकती थी, हम लोगों ने खूनी करार दिया है। और तो और, जांच करने वाले पुलिस-अधिकारी तक को हम लोगों ने खूनी करार दिया है। अब तक सिर्फ दो ही प्रकार के लोग खून से अछूते थे—एक तो हम जासूस लोग और दूसरे हमारे सहकारी।

मैंने डा० वत्सन की ओर घूर कर देखा और कहा—"डा० वत्सन जेब से पिस्तौल निकालने का प्रयत्न न कीजिए क्योंकि उसमें की गोलियां मैंने पहले ही निकाल ली हैं। धनसुखलाल और उनके रसोइये का खून करने वाले आप ही हैं।"

मेरी बात सुनकर उनका चेहरा सफेद हो गया। उन्होंने कांपते स्वर में पूछा—"आप···आपने यह कैसे जाना ?"

"आपके कोट का सिंदूर और रूमाल का सिंदूर एक ही है। कल चंचल बेन को सान्त्वना देते समय आपने अपने रूमाल से उसके आंसू पोंछे थे। उस समय

उसके माथे की बिन्दी का सिंदूर भी उसमें लग गया था। सिंदूर की १०७ किस्में हैं और यह किस्में उसके कणों के कोनों की संख्या से निश्चित की गई हैं", मैंने शांति से कहा—"चंचलबेन का यह सिंदूर हाशिम की दूकान से खरीदा गया था। धनसुखलाल के खून में कोई रहस्य नहीं है। आपका चंचल बेन से प्रेम है। धनसुखलाल की संपत्ति आप चाहते हैं। उनका खून आपने ही किया है, क्योंकि आप को विश्वास था कि पुलिस मोफतलाल को ही पकड़ेगी और इस तरह आप के मार्ग का कांटा दूर हो जायगा। परन्तु डा० वत्सन, इस शर्लाक होम्स को आप भूल गए। चंचल बेन की लम्बाई पांच फीट पौने तीन इंच है, यह मैंने कल देख लिया था, जब वह अलमारी के पास खड़ी थी।"

अब वत्सन बड़े जोर से हँसने लगे जैसे कोई पागल हो।

हँसने की आवाज सुन कर मैं जाग पड़ा। देखा, सामने मेरे फैमिली-डाक्टर डा० वत्सन बैठे हुए जोर-जोर से हँस रहे हैं।

उन्होंने कहा—"मैंने आपसे कहा न था कि आप बीमारी में जासूसी कथाएं न पढ़ें? जासूसी पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते ही आपको नींद आ गई, यह देखकर कहना पड़ेगा कि मेरी नींदवाली दवा पूरी तरह कामयाब हुई।"

पेट का पाप

अनन्त अन्तरकर

मराठी मासिकों को नई दिशा एवं नवस्वरूप प्रदान करनेवाले श्री अन्तरकर का जन्म सन् १९११ में हुआ था। १९३३ से १९४३ तक आप विभिन्न साप्ताहिक और मासिक पत्रों के उपसम्पादक रह कर साहित्य-सेवा करते रहे। आज भी आप एकसाथ तीन मासिक-पत्रों 'हंस', 'मोहिनी' तथा 'नवल' के सम्पादक हैं। आपने कविता, ललित निबन्ध, विनोदी कथा और लेख तथा समालोचनात्मक लेखों द्वारा मराठी साहित्य को सम्पन्न बनाने का सतत प्रयास किया है। रेडियो-नाटक लिखने में भी आप सिद्धहस्त हैं। 'चोरटे हलने' तथा 'गाळींव रत्नें' नामक आपके दो विनोदी लेख-संग्रह १९४२ तक ही प्रकाशित हो चुके थे। आज के विनोदी साहित्यकारों में आपका नाम प्रमुख है!

प्रातःकाल चाय पीते हुए लाम्बणकर द्वारा समाचार-पत्र में बताए भविष्य-कथन पर दृष्टि डाली और उसे एक ओर पटक दिया। इस सप्ताह के भविष्य-कथन में आज के दिन मेरी राशि के लिए लिखा हुआ था "आश्चर्यकारक घटना घटेगी, निश्चित कार्यक्रम में विघ्न पड़ेगा।" सदा के अनुभव के आधार पर मैंने सोचा, "आज कोई आश्चर्यकारक घटना नहीं घटेगी, सारे कार्यक्रम सरलतापूर्वक सफल हो जायेंगे और निश्चिन्त हो गया। पर लाम्बणकर का भविष्य-कथन आज अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुआ। पहली अद्‌भुत् बात तो यही थी कि वह भविष्य-कथन ठीक निकला। पर उस दिन रात तक घटित घटनाएं तो उससे भी अधिक आश्चर्यकारक सिद्ध हुईं।

वस्तुतः इस समय—रात्रि के साढ़े नौ बजे—मुझे एक विराट सभा में 'साम्यवाद का टौना' पर व्याख्यान देना था। पर यकायक तबियत खराब हो जाने की बात कहकर वह कार्यक्रम मुझे रद्द कराना पड़ा। दो दिन पूर्व ही मैंने व्याख्यान देना स्वीकार किया था और रात को ही नहीं, दिन में भी अपने व्याख्यान द्वारा उत्पन्न खलबली के स्वप्न देखता रहता था। विराट जन-समूह, तालियों की गड़गड़ाहट, हंसी की गूंज और इन सब के अखबारों में छपे रसमय वृत्तान्त गत

दो दिन से निरन्तर मेरे नेत्रों के सम्मुख नाचते रहे थे। ऐसा होते हुए भी मुझे वह कार्यक्रम रद्द करना पड़ा। यह घटना आश्चर्यकारक नहीं तो क्या थी ? केवल बारह घंटों में मेरा निश्चय बदल गया, इस पर किसे आश्चर्य न होगा ?

हुआ यह कि सुबह नौ बजे डाकिये ने मुझे एक पत्र लाकर दिया। पत्र के लिफाफे पर अक्षर नितान्त अपरिचित थे। अतः उसे देखते हीआश्चर्य का आघात-सा लगा और बड़ी उत्सुकता से मैंने लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़ा। पत्र था—

———निवास
दादर,मुंबई
ता: ४-९-३८

श्री शंकर राव भोले के कर कमलों में—
साष्टांग नमस्कार विनती विशेष—

'युगान्तर' में प्रकाशित आपकी 'पोटाचं पाप' लघुकथा मुझे बड़ी ही पसन्द आई। इससे पूर्व भी मैं आपकी अनेक कहानियां पढ़ चुका हूं, और वे मुझे अच्छी भी लगी हैं। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में विषमता के कारण उत्पन्न दुर्दशा का चित्रण आपने बड़ी कुशलता तथा हृदयद्रावक शैली में किया है। पर आज की लघुकथा तो मुझे इतनी सरस लगी है कि मैं आपसे प्रत्यक्ष मिलने के लिए बड़ा उत्सुक हूं। आप मुझे नहीं जानते, पर मैं आपको अच्छी तरह जानता हूं।

···यह मैं अच्छी तरह जानता हूं कि आप जैसे महापुरुषों का मूल्यवान समय लेना उचित नहीं है। पर जिन गरीब लोगों के लिए आप परिश्रम करते हैं, उन्हीं में से मैं भी एक हूं और उनकी उन्नति के लिए काम भी करता रहता हूं···आदि आदि। पत्र के अंत में हस्ताक्षर थे 'कामरेड घोरपडे' के।

पूरा पत्र पढ़ने पर तो मैं स्तब्ध रह गया। कामरेड घोरपडे मुझसे मिलने के लिये आने वाले थे। बेचारा सज्जन व्यक्ति ! आज तक मैं उसका नाम भी नहीं जानता था। मेरी अल्प साहित्यिक सेवा का सम्मान करने के लिए वह इतना कष्ट उठा रहा था, यह सोचकर जहां एक ओर मुझे स्वयं अपने ऊपर गर्व होने लगा, वहां दूसरी ओर कामरेड घोरपडे के उदार हृदय का विश्वास भी हो गया।

और 'युगांतर' मासिक के प्रति अपनी कृतज्ञता का तो वर्णन ही क्या करूं ? अन्य मासिक और पाक्षिक पत्र-पत्रिकाओं से साभार लौट आनेवाली मेरी कहानियों को जो थोड़ी बहुत पत्रिकाएं छापती थीं, उनमें से एक और बढ़ गई थी। क्या यह कम आश्चर्य की बात थी ?

बस एक बात से मैं रुष्ट था। मेरी कहानी छापकर भी 'युगांतर' के उस अंक की 'काम्पलीमैंटरी प्रति' मुझे नहीं भेजी गई थी। पर यह कोई नई बात नहीं थी। मेरी कहानियां छापनेवाली अन्य पत्रिकाएं भी यही करती रही थीं। अतः मैंने

यह समझ लिया था कि सम्पादकों की रीति ही यही है।

इसके अतिरिक्त कामरेड घोरपडे आज मुझसे मिलने आनेवाले थे। मैं खुशी से फूला नहीं समा रहा था। ऐसी दशा में भला क्रोध को जगह कहां मिलती ?

कामरेड घोरपडे आने वाले थे। अतः उनके आदर-आतिथ्य की व्यवस्था करना मेरा पहला कर्त्तव्य था। पर उससे भी अधिक चेष्टा यह करनी थी कि मेरे सम्बन्ध में जो उन्हें महान साहित्यकार होने का भ्रम हो गया है, वह कायम रहे।

कोठरी की सफाई करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। वह लेखक ही क्या जो व्यवस्थित ढंग से रहता हो। अब रह गया दरिद्रता का प्रदर्शन। वह करने में भी कोई खास अड़चन नहीं थी। बस थोड़ा फर्निचर अधिक था, उसे पड़ौसी की कोठरी में पटक दिया (बच्चों ने एक दिन तक उस पर खूब ऊधम मचाया) कुछ बड़े शौक से खरीदी हुई वस्तुएं जैसे तस्वीरें, फ्लावर-पॉट आदि ट्रंक में बन्द कर दीं। मेज़ पर रखी 'बेबी बेन' घड़ी को भी वहां से हटाने की सोच रहा था, पर पाँच बजे महत्वपूर्ण अपांइटमेंट जो था। अतः कहीं गप्पों में समय निकल न जाय, इसलिए पांच बजे का अलार्म भर कर रख दिया था। फिर घड़ी कोई ऐश्वर्य की वस्तु तो है नहीं, जो लेखक के दारिद्रयपूर्ण रहन-सहन पर बट्टा लगाए। यह सोचकर मैंने उसे मेज़ पर ही रहने दिया। विषमता से उत्पन्न दारुण स्थिति का कटु अलोचक, साम्यवाद का समर्थक ऐसा लेखक दिखाई देने के लिए जिन पुस्तकों का संग्रह होना चाहिए था, बस वह मेरे पास नहीं था। पर एक पुस्तकालय में दस रुपये डिपाज़िट कर तथा एक कामरेड के गले पड़कर, दो-चार मोटी-मोटी पुस्तकें जमा कर ली थीं और उन्हीं को व्यवस्थित ढंग से मेज पर सजा लिया था। उनके अतिरिक्त कबाड़ी की दूकान में से दो-दो आने में कुछ अंग्रेजी नाविल और 'स्ट्रेन्ड' तथा 'ग्रेंड' की पुरानी प्रतियां भी उस ढेर में शामिल कर ली थीं। मुझे क्या पता था कि इसी ढेर के कारण मुझे प्रवंचित होना पड़ेगा।

इस प्रकार मैंने अपनी कोठरी साहित्यकार के उपयुक्त सजा ली थी—अथवा खाली कर दी थी।

चार बजने को आए। तब भी मैं अपने मित्र से मांगी हुई, कम्यूनिज्म पर लिखी एक पुस्तक छाती पर रखे आरामकुर्सी पर लेटा हुआ पढ़ने का ढोंग कर रहा था। थोड़ी देर में ही दरवाज़े पर टक् टक् की आवाज हुई। मैंने उठकर द्वार खोला। द्वार पर खड़ा व्यक्ति कामरेड ही है, इस सम्बन्ध में तनिक भी शंका नहीं हुई। कुर्ता, पायजामा, नंगा सिर, यह जो कामरेड का ट्रेडमार्क होता है, वह सब तो उसके पास था। प्रश्न यही था कि वह कामरेड घोरपडे है या नहीं।

"आइये, आप कामरेड घोरपडे ही हैं न ?"

"हां" वह मुस्कराते हुए बोला और कामरेड के उपयुक्त ही आवश्यकता से अधिक हेलमेल दिखाते हुए एक चिर-परिचित मित्र की तरह बेधड़क मेज़ के पास

पड़ी कुर्सी पर जाकर बैठ गया।

"अरे आरामकुर्सी पर बैठिए न।" मैं जरा सम्मानपूर्वक पर लेखक की अकड़ न भूलता हुआ बोला।

"नहीं, रहने दीजिये आप ही बैठिये। हमें बैठने की आदत कहां है ? कभी-कभी तो एक साथ सात-सात सभाओं में भाषण देना पड़ता है। जेल में भी भला बैठने को कहां मिलता है !"

कामरेड घोरपडे भी एक महान व्यक्ति है, यह बात मुझे पहले नहीं सूझी। इसके लिये मैं कुछ लज्जित-सा हुआ।

मैं आराम-कुर्सी पर लुढ़क गया।

"आपकी कहानी हमें बड़ी अच्छी लगी, भई ! आज की सामाजिक विषमता पर तुमने इस लघुकथा द्वारा कड़ा प्रहार किया है।"

"श्रमजीवी दलितवर्ग के समर्थन में लिखने का तो मेरा सिद्धान्त ही है। क्षणिक मनोरंजन के लिये मैं कोई कभी कोई चीज़ नहीं लिखता। मेरा यह दृढ़ मत है कि आज ऐसे लेखकों की आवश्यकता है जो आधुनिक समाज में हो रही घटनाओं के प्रति जागरुक हों और उन्हीं का चित्रण करें।" मैंने कहा।

"धनिक लोग पैसा होने के कारण मन-चाहे पाप करते हैं और उन्हें पचा भी जाते हैं। और गरीब लोग पैसा न होने से पाप करते हैं और बहुधा समाज की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण कष्ट उठाते हैं, यह बात आपकी कहानियों में बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिपादित की गई है। विशेषतः निम्न वाक्य तो बड़ा ही सुन्दर और प्रभावशाली है, "जिसकी जेब में पैसा नहीं है, उसके पेट में भूख का गोला भी न उठे, ऐसी व्यवस्था तो उस दयालु परमेश्वर ने की नहीं। पर उस भूख को शांत करने के लिए यदि कोई लाचार होकर पाप करता है, तो उसके लिए स्वर्ग के दरवाजे बन्द करने में वह परम न्यायशील ईश्वर अत्यन्त तत्पर है।" पर साम्यवाद के सिद्धान्तों की दृष्टि से मुझे आपकी विचारधारा में एक बड़ी विसंगति दिखाई दी। कदाचित् आप भूल गए हैं कि साम्यवाद ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करता।"

"यह आप नहीं समझ सकेंगे"—इतना कह मैंने एकदम अपनी जीभ काट ली। अपनी कहानी के उस पहिले और इकलौते प्रशंसक का मन यदि मैंने दुखा दिया, तो फिर भला वह मेरा अभिनन्दन क्यों करने लगा, यह बात यकायक मेरे दिमाग में कौंध गई।

"—ईश्वर का अस्तित्व यद्यपि मैंने स्पष्टतः अस्वीकार नहीं किया है, तथापि मेरी व्यंग्यपूर्ण वाक्य-रचना से उसके प्रति थोड़ा-बहुत तिरस्कार तो प्रकट होता ही है। और सच्ची कला में व्यंग्य का ही महत्त्व अधिक होता है। कहिए आपका क्या मत है ?" मैंने जैसे-तैसे वाक्य पूरा किया।

"ठीक कहते हैं आप। इस कहानी में मुख्यतः आपको यही दिखाना था कि पेट के लिए चोरी करना गरीबों के लिए अपरिहार्य हो जाता है। और यह उद्देश्य आपने इस कुशलता से पूरा किया है कि लगता है थोड़े-से अभ्यास के साथ फडके-खांडेकर को भी आप पीछे छोड़ देंगे। मुझे तो भई इसमें तनिक भी शंका है नहीं। मुझे लगता है आप शीघ्र ही कोई उपन्यास भी प्रकाशित कराने वाले हैं।"

मैंने कोई उपन्यास लिखा है, यह स्वयं मुझे आज तक पता नहीं था। पर 'संकल्पित' पुस्तकों की सूची जिसकी जेब में नहीं, वह लेखक कैसा। अतः अधिक विचार न कर मैं तुरन्त बोला' "हां, है ऐसा कुछ विचार। उसमें भी मुझे यही विचार प्रतिपादित करना है कि पापपुण्य की कल्पना केवल गरीबों को ही अतंकित करती है और उन बेचारों को ही पाप की शरण लेनी पड़ती है। जिस समाज ने यह विषम स्थिति उत्पन्न की है, वही इस सब के लिए दोषी है···आदि आदि।" रात में जो व्याख्यान मुझे देना था, उसी का रिहर्सल मैंने कामरेड घोरपडे के सम्मुख कर डाला। बोलते-बोलते मेरा गला सूख गया। अचानक चाय की याद आ गई।

कामरेड घोरपडे की ओर मुड़कर मैंने कहा, "चाय तो पीते हैं न ?"

घोरपडे कुछ इस तरह गर्दन हिलाकर हंसे जैसे मैंने वह प्रश्न कर कोई बड़ी भारी मूर्खता की हो, ऐसा मुझे लगा। मैंने गैलरी में जाकर सामने चाय की दूकान वाले को दो चाय का आर्डर दिया और लौटकर आरामकुर्सी पर बैठ गया। थोड़ी देर में एक लड़का चाय ले आया।

कामरेड घोरपडे एक ओर तो चाय के घूंट पर घूंट गटक रहे थे और दूसरी ओर मानो उसका बदला चुकाने के लिए ही मुझे प्रशंसा के घूंट पर घूंट पिला रहे थे।

मेरे मन में आनन्द के नव-नव अंकुर प्रस्फुटित हो रहे थे और चाय के घूंट पर घूंट पीकर मैं उन्हें अन्दर ही अन्दर दबाए रखने का प्रयत्न कर रहा था। सच्चा कलाकार अपनी प्रशंसा से अपना विवेक नहीं खोता न !

मेरी कहानी कितनी यथार्थवादी है, यह कामरेड घोरपडे मुझे सविस्तार समझा रहे थे। मैं मन ही मन हँस रहा था पर वह तरंग में थे।

इतने में उनके पायजामे की जेब में से घड़ी की टनटनाहट-सी सुनाई दी।

मैं भौंचक्का रह गया। गर्दन घुमाकर मेज की ओर देखा। पुस्तकों के ढेर के कारण उधर की कोई चीज दिखाई नहीं दे रही थी। मैं तुरन्त उठा। मेज पर 'बेबी बेन' न थी। कामरेड घोरपडे की ओर मुड़ा, तब तक वह दरवाज़ा खोल कर भाग भी चुके थे। जल्दी-जल्दी सीढ़ियां उतरने और गिरने की आवाज भी मेरे कानों में पड़ी।

एक क्षण में ही उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। आगे-आगे कामरेड घोरपडे और पीछे-पीछे मैं। रास्ते में दर्शकगण डाक की पत्र-पेटी की तरह निश्चल खड़े थे तथा मुंह-बाये खड़े थे। पर किसी ने उसे नहीं पकड़ा।

अंत में वह मुझे बुचका देकर एक गली में घुस गया और फिर ओझल हो गया।

मैं हताश होकर कमरे में लौट आया। मैं अच्छी तरह जानता था कि घड़ी चुरा ली गई है फिर भी एक बार और निश्चय करने के लिये कहिए अथवा मुझ-से रहा न गया इसलिए, उस खाली जगह की ओर एक बार मैंने पुनः देखा। और देखता क्या हूं—लाम्बणकर के भविष्य-कथन का एक और प्रमाण।

मेज की पुस्तकों का पेपरवेट सरीखा उपयोग कर उनके नीचे जल्दी-जल्दी में लिखा एक पत्र रखा था।

"जिसकी जेब में पैसा नहीं···" आदि आदि। मेरी कहानी का वाक्य उद्‌धृत करने के बाद अंत में लिखा था—

"पेट के लिए पाप करनेवालों के प्रति जो लेखक अपनी कृतियों में सहानुभूति दिखाता है, वह क्या प्रत्यक्ष व्यवहार में उन्हें दंड दिलवाने की इच्छा करेगा? मैंने आपकी घड़ी पेट के लिए ही चुराई है···'पोटचं पाप' तुम्हारी यह कहानी यथार्थ-वादी है या नहीं, इस विषय में साहित्यकारों में भले ही वादविवाद हो, पर आपको यह शंका नहीं रहेगी और आपको यह निश्चय हो जायगा कि वह शत-प्रतिशत यथार्थवादी है।

आपका एक नम्र प्रशंसक

का० घोरपडे"

मेरी कहानी इतनी प्रभावशाली प्रमाणित हुई। कहीं मेरा व्याख्यान इससे भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ, तो मेरे घर का क्या हाल होगा, इसी शंका से मैंने बीमार पड़ने का बहाना बनाकर रात्रि के व्याख्यान का कार्यक्रम तुरन्त रद्द करा दिया और कान पकड़ लिए कि ईश्वर के प्रति तो क्या, ज्योतिषाचार्य लाम्बणकर के प्रति भी आज से कभी अविश्वास प्रकट नहीं करूंगा।

पेचीला प्रसंग

म० ना० अदवंत

व्यवसाय से प्राध्यापक श्री अदवंत आधुनिक मराठी साहित्य-कारों में अपने कथा-साहित्य, निबन्धों एवं आलोचनात्मक लेखों के लिए प्रसिद्ध हैं। अब तक उनके तीन कथा-संग्रह 'संजीवनी', 'माणुसकी चा धर्म' एवं 'नस्ते उपद्व्याप', दो लघु निबन्ध-संग्रह 'मनाचे संकल्प' व 'मनाची मुशाफरी' तथा काव्य पर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। आपका हास्य-विनोद शब्दनिष्ठ न होकर प्रसंगनिष्ठ है और उसके पीछे सामाजिक उद्देश्य न होकर शुद्ध हास्य द्वारा मनोरंजन करना रहता है।

वसंत रानडे और वासन्ती गोडबोले की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई घनिष्ठता कालेज में चर्चा का विषय बनी हुई थी, यद्यपि दोनों की रुचि तथा आचार-विचार में बड़ा अन्तर दिखाई देता था। गम्भीर दर्शन-शास्त्र की पुस्तकें पढ़ने के कारण वसंत का स्वभाव अत्यंत गम्भीर हो गया था, तो उपन्यास पढ़ते रहने के फलस्वरूप वासन्ती भावना-प्रधान हो गई थी; बासंती की संगीत में अत्याधिक रुचि थी, तो वसंत और संगीत का सम्बन्ध छत्तीस के अंकों जैसा था। वसंत मित-भाषी था, तो वासंती वाचाल। अधिक क्या, टेनिस के प्रति दोनों के आकर्षण के अतिरिक्त प्रत्येक अन्य विषय में दोनों के स्वभाव व रुचि में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता था।

पर यह रुचि-वैषम्य होते हुए भी उनकी मित्रता निरन्तर बढ़ती जाती थी। मित्रता अब प्रणय का रूप धारण कर रही है, यह भी कुछ लोग आपस में कहते सुने जाते थे। और कुछ भविष्य-वक्ता विद्यार्थी तो आगामी बैशाख मास से उनके विवाह-समारोह के लिए अक्षत तक लिए बैठे थे। केवल कुछ लोगों का, उनके स्वभाव-वैषम्य को देख कर, विशेषतः वासन्ती का भावना-प्रधान और उच्छृंखल स्वभाव देखकर यह मत था कि प्रेम का यह बुलबुला बीच में ही फूट जायगा।

स्वयं वसन्त के मन का विश्लेषण यदि किया होता तो निम्नलिखित विचारों

का रिकार्ड निश्चित रूप से सुनने को मिलता—

कुल मिलाकर लड़की निस्सन्देह अत्यन्त मधुर है। सुन्दर होते हुए भी आडम्बरपूर्ण नहीं है—धनवान होते हुए भी उसमें गर्व नहीं है और उसका हृदय भी निष्पाप है। पर···पर यदि उपन्यास-वाचन का पागलपन कम कर दे, तो कितना अच्छा हो। निरन्तर उपन्यास पढ़ते रहने से उसका मस्तिष्क बिलकुल उपन्यास हो गया है। पगली लड़की! जीवन भी उसे एक रोमांचकारी उपन्यास प्रतीत होता है। सदा मुझसे कहती रहती है "तुम भी उपन्यास के नायक के समान आचरण करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? उपन्यास-नायक के सदृश जनता के मन में आदर-भाव उत्पन्न हो, ऐसे साहसिक कृत्य क्यों नहीं करते?" मैं भी उसका मन रखने के लिए अपनी गम्भीरता त्यागकर विनोदी बनने की चेष्टा करता हूं—उसका मेरे प्रति प्रेम है—यह निश्चित है। शीघ्र ही उससे विवाह-प्रस्ताव करने में कोई अड़चन नहीं। पर इससे पूर्व विवाह-प्रस्ताव के तीन-चार प्रसंग मुझे उपन्यासों में पढ़ लेने चाहिएँ और उनमें से कतिपय वाक्य भी मुझे याद हो जाने चाहिएँ, नहीं तो उसकी दृष्टि में यह काव्यमय प्रसंग गद्य बन जायगा।

वासन्ती के विचारों की रिकार्ड उसी पद्धति की पर भिन्न विचारों की थी। उसे लगता—

वसन्तराव अपनी गम्भीरता कुछ कम क्यों नहीं करता? जीवन में न मालूम कितने भावनोत्कट प्रसंग आते हैं, पर उस समय उनकी गम्भीरता देखकर मुझे थोड़ा-सा क्रोध हो आता है। परसों टेनिस में इंण्टर-कालेजिएट चेंपियन हुए, मुझे बड़ा आनन्द आया पर महाशय जी की मुखमुद्रा उस समय भी बिलकुल निर्विकार थी। जैसे वह प्रसंग एक सामान्य, साधारण प्रसंग हो। फडके के उपन्यास का नायक होता, तो उसी समय मुझे कहीं दूर ले जाकर उसने अपना प्रेम मेरे प्रति व्यक्त कर दिया होता। पर यह महाशय जैसे-तैसे दो-चार शब्द मुझ से कहकर अपनी मित्रमंडली में चले गए। बड़ा क्रोध आया उस समय! पर कुल मिलाकर उसका स्वभाव अत्यन्त मधुर है। उपन्यास के नायक की तरह कोई पराक्रम अथवा साहस का कार्य कर यदि वे सब लोगों के आदर के पात्र बन जाएं तो मुझे कितना आनन्द हो।

इस प्रकार दोनों रिकार्ड लगभग एक ही पद्धिति के होने के कारण प्रेम की वसन्तऋतु अपने सम्पूर्ण सौरभ के साथ फूल रही थी। सूर्य की कोमल किरणें सम्पूर्ण सृष्टि को आलोकित कर रही थीं। मन्द पवन वृक्ष-लताओं को धीरे-धीरे डुला रहा थी, कोयल पंचम स्वर में गा रही थी—बाल कवि के शब्दों में सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छाया हुआ था···

पर यकायक आकाश में मेघ दिखाई देने लगे, वायु का वेग प्रचण्ड हो उठा बिजली चमकने लगी—और जोर-जोर से पानी बरसने लगा···

इस परिवर्तित वातावरण का ज्ञान पहले पहले तो वसन्त को हुआ तक नहीं, सदा की तरह वसन्तऋतु की कल्पना में निमग्न वह उस दिन भी वासन्ती के बंगले में घुसा। आकाश में घनघोर छाये मेघों की कल्पना तक उसे न थी।

उस वसन्त ऋतु में वर्षा का घटाटोप करने वाला व्यक्ति बैठक में वासन्ती से गप्प मारता हुआ बैठा था। उस व्यक्ति को देखते ही वसन्त के माथे पर सिकुड़न पड़ गई। आज खूब देर तक बातें करने के उद्देश्य से वह वासन्ती के पास आया था— यदि संभव हो सका तो प्रेम-प्रस्ताव करने का भी उसका विचार था। परन्तु न मालूम दाल-भात में मूसलचन्द यह कौन व्यक्ति वहाँ आ उपस्थित हुआ था। उसने उस व्यक्ति की ओर तनिक रोष की दृष्टि से देखा। उसका वह उल्लू-जैसा चेहरा, सिनेमा के नट सरीखे पीछे को काढ़े हुए लम्बे केश, काला रंग और अजीब आकार के ओठ, ये सब देखते ही प्रथम क्षण में ही उसकी उस व्यक्ति के प्रति एक बुरी धारणा स्वतः बन गई। पर सौजन्य के कारण उसने अपने भाव छिपा लिए और सदा की तरह मुस्कराते हुए भीतर आ गया।

उसे देखते ही वासन्ती उठ खड़ी हुई और उसके सामने एक कुर्सी खींचती हुई स्वयं पास की एक कुर्सी पर बैठ गई।

यह मेरे मित्र वसन्त रानडे! वासन्ती परिचय कराती हुई बोली, हमारे कालेज में सीनियर एम० ए० में हैं, बी० ए० में प्रथम श्रेणी थी और एक वर्ष फैलोशिप भी पा चुके हैं। और ये टैनिस भी बहुत अच्छी खेलते हैं। और ये झुंझारराव एकबोटे! वासन्ती दूसरे सज्जन की ओर मुड़ती हुई बोली। हमारे पिताजी के मित्र की फुफेरी बहिन की नन्द के देवर! तीन-चार वर्ष अफ्रीका के कौन से पत्र के………"सायंकाल नामक समाचार पत्र के…"झुंझारराव बीच ही में बोले। 'हां, हां……'सायंकाल' नामक पत्र के संवाददाता बनकर………"प्रतिनिधि होकर।" पुनः एकबार झुंझारराव ने कथन ठीक किया। "प्रतिनिधि होकर वहां रहे!" वासन्ती ने अन्तिम वाक्य पूरा किया। 'ओह! बड़ी प्रसन्नता हुई आपसे मिलकर।" वसन्त ने झूठी मुस्कराहट के साथ नमस्कार करते हुए कहा।

"और मुझे भी बड़ी प्रसन्नता हुई।" झुंझारराव जरा गर्दन झुकाकर बोले और साथ ही मुख मोड़कर गम्भीरतापूर्वक छप्पर की ओर देखने लगे। उसकी वह अभिमानपूर्ण उद्दण्डता देखकर वसन्त को थोड़ा रोष हो उठा, पर वह उसने प्रकट नहीं किया। वासन्ती की व्यर्थ की बड़बड़ चालू थी।

तुम्हारे आने से पूर्व यह अपने अबीसीनिया के अनुभव बता रहे थे। इनके साथ बड़ी अद्भुत् मजेदार तथा रोमांचकारी घटनाएं घटी हैं। सुनते ही शरीर रोमांचित हो उठता है। हां, तो तुम्हें देखते ही उस अबिसिनीयन सिपाही ने क्या किया? वासन्ती ने उत्सुकतापूर्वक झुंझारराव की ओर मुड़कर पूछा।

वसन्त की भौहें सिकुड़ गईं। उसे यह अच्छा नहीं लगा कि वासन्ती इतनी, उत्सुकता से उसकी बातें सुने, पर अपने मुख पर कोई भी चिह्न प्रकट नहीं होने दिया।

"उन चार सैनिकों ने मुझे देखा—" झंझारराव कहने लगे "और उन सबके मन में एक ही शंका उत्पन्न हुई—यह इटली की सेना का गुप्तचर तो नहीं है? इस शंका के उत्पन्न होते ही फिर क्या था? काट डालो, मारो, जिन्दा मत छोड़ो—इस प्रकार चिल्लाते हुए वे चारों तलवार खींचकर मेरी ओर दौड़े। कल्पना कीजिए, वे चार एक तरफ और मैं अकेला। मेरे पास पिस्तौल के अतिरिक्त और कोई शस्त्र न था और उसमें भी एक गोली—और वे चारों तीव्र वेग से दौड़ते हुए नंगी तलवार लिए हुए मेरी दिशा में आ रहे थे···"

"हे भगवान!" वासन्ती कांपती हुई बोली "कैसा भयंकर प्रसंग था! पर आपने क्या किया?"

"उनसे भी अधिक तीव्र वेग से भाग खड़े होंगे।"

वसन्त ने मुस्कराते हुए बीच में कहा। कुल मिलाकर वह वर्णन उसे अत्यन्त रोचक लग रहा था। झुंझारराव उसकी ओर घूरने लगा।

"मैं······झुंझारराव एकबोटे दुश्मन को पीठ दिखाऊं?" झुंझारराव राजा भीमदेव के आवेश में बोले, "अशक्य! तीन बार अशक्य। मेरे मनश्चक्षुओं के सम्मुख उस समय महाराष्ट्र के विभिन्न वीर शिरोमणि आ उपस्थित हुए। सिंहगढ़ हस्तगत करने के लिए अपने प्राण देह के घाट उतारने वाला तानाजी···"

"देह के घाट या तलवार के घाट?" वसन्तराव ने बीच में ही पूछा। उत्तर में झुंझारराव ने केवल तिरस्कारपूर्ण दृष्टि-निक्षेप किया।

"शिवाजी की रक्षा करता हुआ किसी घाटी में लड़ते-लड़ते अपने प्राण रण-देवी को अर्पित करने वाला बाजी प्रभू— और किसी गढ़ में बिना सिर के केवल धड़ से लड़ने वाला कौन-सा मराठी वीर?—ये सारे उदाहरण बन्दूक की गोली की तरह मेरे हृदय में आ उपस्थित हुए। ऐसे शूरवीरों का वंशज मैं, और केवल चार अबिसिनीयन सिपाहियों के आक्रमण से भाग जाऊं। छिः! ऐसा करना तो महाराष्ट्र को कलंक लगाना होगा, यह सोचकर अपने प्राण लड़ते लड़ते देह के घाट उतारना···"

"तलवार के घाट"—वसंत ने पुनः शुद्धि की।

"तलवार के घाट उतारने का मैंने निश्चय किया" वसन्त की शुद्धि स्वीकार करते हुए झुंझारराव ने अपना वाक्य पूरा किया।

"और इतनी देर तक विचार करने के क्षण तक अबिसीनियन सैनिक खड़े रहे होंगे।" वसन्त ने हँसते हुए पूछा। "कदाचित् वे तुम्हारा चिन्तन कब समाप्त होता है, इसकी प्रतीक्षा करते होंगे।"

"तुम बीच में न बोलकर क्या चुपचाप सुन नहीं सकते ?"

झुंझारराव जरा कुपित होकर बोले।

"वसन्तराव प्लीज !" वासन्ती उसकी ओर मुड़कर बोली।

"अच्छा ठीक, जब तक सम्पूर्ण वार्ता समाप्त नहीं हो जाती, मैं चुप बैठता हूं। अब तो ठीक है न !"

उन सिपाहियों के निकट आने तक मैं शांत रहा। पर ज्योंही वे मेरे से दस गज रह गए, मैंने झट से पिस्तौल निकाली और उनमें से सबसे निकट वाले सिपाही को कुत्ते की तरह गोली मार दी। फिर क्या था ! शेष तीनों वहीं रुक गए। उन्हें इस काण्ड की कल्पना तक न थी। उनकी इस परेशानी का लाभ उठाकर मैं जोर से बोला—'अभी तो तीन गोली शेष हैं, यदि तुम एक मिनिट के अन्दर तलवार रखकर नहीं भागे तो इसकी तरह तुम तीनों को भी मार दूंगा।' और वस्तुतः वे तीनों तलवारें छोड़कर तीन दिशाओं में भाग गए। मैं भी उनकी चारों तलवारें लेकर छावनी में लौट आया। परसों तक वे तलवारें मेरे पास थीं।"

"पर अब वे कहां गईं ?" वसन्त ने व्यंगपूर्ण स्वर में कहा।

"अरे उस सरदार घोरपडे को दे डालीं।"

'अच्छा पर मैं जरा उन्हें देखना चाहता हूं। मेरी और घोरपडे की अच्छी मित्रता है।"

"नहीं, नहीं, मुझे लगता है मैंने वे किसी अन्य को दी थीं !" घबराए चेहरे से झुंझारराव बोले। वसंत हँस पड़ा।

"वस्तुतः कितना भयंकर !" वासन्ती का ध्यान इस वादविवाद की ओर था ही नहीं। "वस्तुतः आप बड़े शूरवीर हैं ! और कोई होता तो पता नहीं डर के मारे क्या हालत होती ?"

"अरे यह तो कुछ भी नहीं ! झुंझारराव अकड़ से बोला। उन नरभक्षक लोगों के बीच फँस गया था, तब तो इससे भी भयंकर प्रसँग उपस्थित हुआ था।"

"क्या तुम नरभक्षकों में फंस गए थे ?" वासन्ती बड़े आश्चर्य से उसकी ओर देखते हुए बोली, "हाय दैया ! फिर उनके पंजे से छुटे कैसे ?"

वसंत मन ही मन हँस रहा था। उसे यह देखकर मजा आ रहा था कि वासन्ती उन बातों को सच समझ रही थी। वह चुपचाप कुर्सी की पीठ पर गर्दन झुकाए छप्पर की ओर देखता हुआ उनकी बातचीत सुनने लगा।

"टांगो के निकट अत्यन्त भयानक जंगल में मैं घूम रहा था एक-दो बाघ की खाल प्राप्त करने के उद्देश्य से—अतः एक बाघ का पीछा करते हुए बहुत दूर निकल गया कि अचानक मनुष्यों के जोर-जोर से चिल्लाने तथा समूहों के पुकारने की आवाजें सुनाई देने लगीं। इससे पूर्व कि वस्तुस्थिति का सम्यक् ज्ञान हो, एकदम काले-कलूटे नंगे-धड़ंगे मोटे-ताजी जंगली लोगों के बीच मुझे खींच कर ले

जाया गया। उनके वे लाल-लाल नेत्र ? ओठों से निकले बड़े-बड़े दांत और हाथों में बड़े-बड़े अद्‌भुत् हथियार देखकर कोई भी व्यक्ति बेहोश हो जाता—"

"हाँ, पर आप तो किसी अज्ञात गढ़ के लिए लड़ने वाले किसी अज्ञात वीर के वंशज थे न ? आपने तो उन सब जंगली लोगों को मार डाला होगा !" वसन्त हँसते हुए बोला।

"अरे, सुनो तो सही। उन जंगली लोगों की सेना देखकर मैंने अनुभव किया कि इन लोगों से लड़ने में कुशल नहीं, अतः कोई तरकीब करनी चाहिए। हमारा महाराष्ट्र किस युद्ध के लिए प्रसिद्ध है······हां भाई, वह कौन-सा युद्ध है ? मैं इस समय नाम भूल गया !"

"आपका इतिहास-ज्ञान बड़ा विस्तीर्ण दिखता है ?" वसंत जरा मुस्कराते हुए बोला। उसे सारा प्रसंग बड़ा मजेदार लग रहा था।

"गनिमी युद्ध न ?" वसन्ती ने सुझाव दिया।

"हां, हां। गनिमी युद्ध ! उसी का उपयोग करने का मैंने निश्चय किया; चुपचाप बन्दूक मैंने नीचे रख दी और अपने को उनके अधीन कर दिया। उन जंगलियों ने मेरे हाथ-पैर बांध दिए और नाचते-गाते, ढोलक बजाते अद्‌भुत मुख-मुद्रा बनाए मुझे एक ओर ले चले। वे लोग मुझे एक निश्चित स्थान पर ले जाकर मेरे सामने क्या आपत्ति ला उपस्थिति करेंगे, इसकी कुछ-कुछ कल्पना मुझे होने लगी और भय से मेरे बाल खड़े हो गए।"

"हाय राम ! कैसा भीषण प्रसंग था !" वासन्ती बड़ी भीतियुक्त उत्सुकता से सुन रही थी।

"उस दिन उन्होंने नरबलि देने का निश्चय किया था और वे मेरी बलि देने वाले थे।"

"नरबलि ! हाय दैया !" वासन्ती डर से कांपती हुई बोली। वसन्त के चेहरे पर मुस्कान फूट पड़ी।

"उनमें सिंह के प्रति नरबलि देने की प्रथा है और इसके लिए वे शेर को चार दिन तक भूखा रखते हैं। निश्चित स्थान पर पहुंचकर उन्होंने मुझे एक झोंपड़ी में धकेल दिया। मेरे दोनों ओर दो-दो जंगली हाथ में नंगी तलवार लिए पहरा दे रहे थे। बाहर उनका नाच व कर्कश स्वर में गायन सुनाई दे रहा था। बड़ी भयावह स्थिति थी। मुझे विश्वास हो गया कि मुक्ति असंभव है। मृत्यु का अलिंगन करने से पूर्व मैं ईश्वर से प्रार्थना करने लगा।"

"कितना भयावह प्रसंग था !" वासन्ती भयाक्रान्त मुद्रा में बोली।

"वस्तुतः बड़ा भयनक प्रसंग था।" वसन्त अपना मुख गम्भीर बनाने का प्रयत्न करते हुए बोला।

"कुछ देर बाद कुछ जंगली भीतर आए और मेरी बांह पकड़कर मुझे बाहर

ले चले। जाते समय मेरे चारों ओर जंगली लोगों का नृत्य चल रहा था थोड़ी देर में ही उन्होंने मुझे एक ऊँची जगह पर ले जाकर छोड़ दिया—मेरे सामने एक नारियल फोड़ा…"

"बाप रे! अच्छा तो बलि के समय नारियल फोड़ने की प्रथा उनमें भी है!" वसन्त ने हँसी रोकने का प्रयत्न करते हुए कहा।

"कुछ समय बाद सारे जंगली उस मैदान से बाहर चले गए और मेरे निकलने का मार्ग बाहर से बन्द कर गए। मैंने चौंककर चारों ओर देखा। सम्पूर्ण मैदान में मैं अकेला था। सब ओर कोनों में से जंगली लोगों के सिर झांक रहे थे। इतने में मुझे सिंह का गर्जन सुनाई दिया। मैंने पीछे मुड़कर देखा, तो एक अत्यन्त भयंकर शेर धीरे-धीरे मेरी ओर आ रहा था।"

कहते-कहते वह थोड़ा रुक गया। वासन्ती बड़ी भीतियुक्त उत्सुकता से उसकी बात सुन रही थी, यह वह समझ गया। पर वसन्त को उसकी वह उत्सुकता तनिक भी अच्छी नहीं लगी।

"मुझे देखते ही शेर जोर से दहाड़ता हुआ मेरी ओर झपटा। परन्तु मैं तनिक भी विचलित नहीं हुआ, अपितु उसकी आंखों से आंखें मिलाकर अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा। झपटते हुए शेर की दृष्टि जैसे ही मेरी दृष्टि से मिली, वह एक दम रुक गया। दो मिनट तक लगातार मैं अपनी दृष्टि उसकी दृष्टि से मिलाए रहा। और आश्चर्य की बात कि मेरे नेत्रों के तेज से शेर बिल्कुल निस्तेज हो गया तथा पालतू कुत्ते की तरह मेरे पास आकर मेरे हाथ चाटने लगा।"

"अहा! कितनी अद्भुत् बात!" वासन्ती बोली।

"इसमें आश्चर्य क्या? उनके नेत्रों में तेज ही ऐसा है, अब भी देखो उनके नेत्र—" वसन्त गंभीरता का ढोंग बनाकर उसके गढ़े में घुसे निस्तेज नेत्रों की ओर देखता रहा। "यों ही उन्होंने शेर को भी निस्तेज बना दिया होगा!"

"फिर आप उनके पंजे से छूटे कैसे?" वासन्ती ने वसन्त की बात पर ध्यान न देते हुए पूछा।

"शेर को मेरे द्वारा निस्तेज होते देख वे जंगली लोग मुझे देवता का अंश समझने लगे। फिर तो दस दिन तक मैं उनका मेहमान बना रहा।"

"सचमुच भाई, प्रसंग संकट का था!" वासन्ती ने कहा। "अरे यह कुछ नहीं। एक बार तो स्थिति यह हो गई कि एक ओर दसफुट लम्बा सांप, दूसरी ओर एक प्रचण्ड बाघ। ऐसा हुआ…"

"क्षमा करना, वासन्ती! अब मैं चलता हूं!" इससे आगे का वृत्तान्त कानों के प्रति अत्याचार होगा, यह समझकर वसन्त बोला। "आप सुनाते रहिए अफ्रीका की गप्प।"

"ठीक है! कल मिलो!" यह कह कुर्सी से न उठती हुई वह झुंझारराव की

ओर मुड़ी। 'हां, तो फिर क्या हुआ ?' झुंझारराव का भाषण प्रारम्भ होने से पूर्व ही वसन्त बैठक से बाहर आ चुका था !

तूफान के चिह्न न होते हुए भी जैसे कोई व्यक्ति यकायक आगए तूफान में घबरा जाता है, वैसी ही स्थिति वसंत की हो गई थी। अब तक उसका प्रेम-मार्ग इतना सरल व सीधा था कि उसमें खाड-खड्डे भी हो सकते हैं, इसकी कल्पना भी उसे नहीं थी। वह वासन्ती से प्रेम करता है और वासन्ती का उसके प्रति प्रेम है और दोनों के प्रणय की परिणति विवाह में हो जायगी, उसमें कोई अड़चन नहीं पड़ेगी। जबतक उसे इसका विश्वास था, तब तक उसने प्रेम को कोई महत्त्व नहीं दिया और न उसकी ओर अधिक ध्यान ही दिया। पर अब जब उसने अनुभव किया कि उसके तथा वासंती के बीच वह अफ्रीका का शेर खड़ा है, तब उसके होश उड़ गए। अब तक वासन्ती ने उसके जीवन में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है—इसकी उसे कल्पना तक न थी। पर ज्योंही उसने देखा कि कोई अन्य वासन्ती को उसके पास से हटा रहा है, तब उसने अनुभव किया कि वासन्ती के बिना उसका जीवन सहारा मरुस्थल के सदृश एवं निर्जीव हो जायगा—इतना ही नहीं, उसे स्पष्ट लगने लगा कि उसका आगामी जीवन व्यर्थ हो जायगा।

तथापि वह उस अफ्रीकी शेर से डरा नहीं। उसे पता था कि वासन्ती अन्य लड़कियों से भिन्न थी। उसके हृदय का आधे से भी अधिक प्रांगण काव्यमय कल्पनाओं से परिपूर्ण था और वह अपने चतुर्दिक जगत में भी उपन्यास का नायक खोजती रहती थी। ऐसी स्थिति में उसके पिता के मित्र की फुफेरी बहिन की नंद के उस देवर ने अफ्रीका की गप्प सुनकर यदि उसका मन मुग्ध कर लिया और यदि उसे उसमें इच्छित नायक के गुणों का आभास मिल गया, तो वह विवाह के लिए पिता की सम्मिति की भी प्रतीक्षा नहीं करेगी···उपन्यास की विद्रोहिणी नायिका के समान आचरण कर डालेगी। और अब तक की घटनावली को देखकर स्पष्ट था कि उस झुंझारराव की गप्पों ने उसके मन पर पर्याप्त मोहिनी डाल दी थी और यदि कुछ दिन तक यही चलता रहा तो···दोनों के विवाह में विलम्ब न होगा।

और वस्तुतः इन तीन-चार दिनों में उस अफ्रीकन शेर ने पर्याप्त प्रगति कर ली थी। जब कभी वसन्त वासन्ती के बंगले पर जाता, तो वह वासन्ती को भीति-युक्त उत्सुकता से उस अफ्रीकी शेर की गुरगुराहट सुनता पाता, अथवा नौकर से पता चलता कि वह घूमने गई है। उसकी यह आश्चर्यजनक प्रगति देख-कर वसन्त के होश उड़ गए। उसे विश्वास हो गया कि यदि शीघ्र ही उसने उस शेर को वहां से नहीं हटाया तो उसका जीवन अविलम्ब सहारा मरुस्थल

में बदल जायगा। अतः उसने तुरन्त ही अगले दिन उससे कालेज में अकेले में मिलने का निश्चय किया।

और अगले दिन कालेज बंद होते ही वह बाग में उससे जा मिला।

"वासन्ती, तुम मुझे पांच मिनट दे सकती हो क्या ? मुझे तुमसे कुछ आवश्यक कार्य है।" वसन्त ने हँसते हुए पूछा—

"हां, हां, सारे घंटे समाप्त हो गए। पांच मिनट क्या, आध घंटे तक बातें कर सकते हैं। पर यहां नहीं। हमारे घर चलो।"

"नहीं, नहीं।" उसका विश्वास था कि वहां तो वह अफ्रीकी शेर उसकी प्रतीक्षा करता बैठा होगा, अतः वह शीघ्र बोला—"वहां की बजाय मेरे बंगले पर आओ न, तुम्हारे घर की बजाय मेरा बंगला पास है—है न ?"

"ठीक है" वासन्ती बोली। दोनों ने अपनी साइकिलें स्टैंड से निकालीं।

बंगले पर पहुंच कर चाय पीते-पीते तथा गप्पें मारते-मारते धीरे से वसन्त ने अपने विषय पर बात चलाई।

"सच बताओ, उस झुंझारराव एकत्रोटे के विषय में तुम्हारा क्या मत है ?" अपने प्रिय विषय पर चर्चा प्रारम्भ होते ही जिस प्रकार नेत्रों में चमक आ जाती है, उसी प्रकार की चमक वासन्ती के नेत्रों में आगई।

"वस्तुतः, उस सरीखा पराक्रमी और साहसी व्यक्ति तो मैंने आज तक नहीं देखा। कितना अद्भुत पराक्रम है ! केवल सुनने मात्र से श्रोता भय से रोमांचित हो जाता है। एक बार किसी गांव में पन्द्रह जंगली लोगों ने डण्डे लेकर उस पर आक्रमण कर दिया था। पर इस पराक्रमी ने अकेले उनसे पन्द्रह मिनट तक लोहा लिया और अन्त में उन्हें भगा दिया। भला कोई साधारण व्यक्ति एक साथ पन्द्रह व्यक्तियों से लड़ने का साहस कर सकता है ? वस्तुतः वह एक विलक्षण व्यक्ति है।"

"अच्छा ?" वसन्त बोला। पर उसके उस बोलने में कोई अर्थ नहीं था। पर वासन्ती के लिए उसके गुणों का और अधिक वर्णन करने के लिए वह उद्गार पर्याप्त था।

"अरे, यह तो कुछ नहीं।" वह कहने लगी, "एक बार यह निःशस्त्र थे कि एक दस फुट लम्बे बाघ ने आक्रमण कर दिया···पन्द्रह मिनट तक दोनों में गुत्थमगुत्था होती रही। बाघ ने उन्हें पर्याप्त घायल कर दिया। तभी बाघ की दहाड़ सुनकर उसके पीछे आनेवाले शिकारी वहां आ गए और उन्होंने उसे मार डाला। पन्द्रह मिनट तक बाघ का सामना करना कितना भयंकर है, कल्पना भी नहीं की जा सकती उसकी।"

"और तुम्हें यह सब सत्य प्रतीत होता है ?" वसन्त ने पूछा।

"क्यों सत्य न लगे ? उसने उस झपट में लगे घाव का चिह्न तथा उस बाघ की खाल भी दिखाई थी मुझे। सच वसन्तराव···अब तक तुम कहते रहते थे न कि उपन्यास का सा नायक वास्तविक जगत में मिलना कठिन है ? पर तुम्हारा कथन असत्य सिद्ध होने वाला है। इस झुंझारराव को देखो न ? उपन्यास के किसी नायक ने भी ऐसे कृत्य न किए होंगे, जो इन्होंने किए हैं। वस्तुतः मुझे उनके प्रति बड़ी श्रद्धा हो गई है।"

"वासन्ती, तू भी कितनी पगली है ?" वसन्त तनिक हँसकर बोला, "वह आदमी तुम्हें बहका रहा है···और तू उसकी गप्पों पर भोलेपन से विश्वास कर उसे उपन्यास का नायक बना रही है। मैंने तो उससे अधिक गप्पी व्यक्ति आजतक देखा नहीं।"

"वसंतराव, यदि तुम उनकी निन्दा करोगे, तो मैं यहां से अभी चली जाऊंगी।" वासन्ती रोषपूर्वक बोली, "स्वयं तुमने आज तक कोई साहस नहीं दिखाया, अतः तुम्हें दूसरे के साहसिक कार्य गप्प प्रतीत होते हैं। आज तक तुमने कोई एक भी पराक्रम का कार्य किया है ? मनुष्य पराक्रमी हो, तभी उसके प्रति लोगों का आदरभाव होता है अन्यथा 'चुप को सब हांक देते हैं' ऐसी भेड़ और तुममें अन्तर ही क्या ?"

"वही तो मैं तुम्हें बतलाने जा रहा हूं।" वसन्त तनिक गंभीर स्वर में बोला। "वसू, उपन्यास पढ़-पढ़ कर तूने न मालूम कितने पागलपन के विचार अपने मन में बसा लिए हैं।"

"बाघ-शेर से कुश्ती अथवा पन्द्रह जंगली लोगों का आक्रमण अकेले परास्त कर देने की बात में कितना सत्य है, यह बात छोड़ भी दें, तो भी क्या तू उसे ही पराक्रम कहेगी ? और फिर बता, मोहर्रम के बाघ के अतिरिक्त क्या तूने कभी किसी बाघ को जाते देखा है ? पूना सरीखे स्थानों में ऐसे कितने जंगली मनुष्य हैं जो इकले-दूकले पर आक्रमण करें और जिनसे लड़कर उन्हें भगाया जाय तथा जिनके साथ लड़कर पराक्रम दिखाया जा सके। उपन्यास-लेखक अपनी कल्पनाशक्ति से अपना कथा-जगत् निर्माण करते हैं···पर वास्तविक संसार में परिस्थिति इसके बिलकुल विपरीत होती है। इस संसार में हाथ में लिए काम को सफलतापूर्वक करने के अतिरिक्त और कौन-सा पराक्रम का अवसर रह गया है ? अवसर मिलने पर ही मनुष्य की अन्तःशक्ति प्रकट होती है।"

"तुम गलती पर हो ? अवसर की बाट जोहना साधारण व्यक्तियों का कार्य है, पर अवसर निर्माण करना ही पराक्रमी व्यक्तियों की विशेषता है। झुंझारराव अवसरकी प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ रखकर कभी नहीं बैठते, वह स्वयं अवसर का निर्माण करते हैं न ?"

'हां" वसन्त बीच में बोला, "अच्छी याद दिलाई। मैं उस 'सायंकाल' के सम्पादक के पास यूं ही गया था। उसने मुझे एक बड़ी मजेदार बात सुनाई। उन

तुम्हारे एकबोटे साहब ने अफ्रीका में केवल काहिरा शहर में चार वर्ष बिताए थे ? अपने पत्र-व्यवहार से उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वह चार वर्ष तक काहिरा छोड़कर कहीं नहीं गए थे। केवल काहिरा में रहकर उन्होंने ऐसे अद्भुत् पराक्रम के कार्य किए, वस्तुत: आश्चर्य की बात है। है ना ?"

वसन्त के बात करते-करते ही माथे पर सिकुड़न डाले वासन्ती उठ खड़ी हुई। क्रोध से उसके माथे की नसें फूल गईं दिखती थीं।

"क्या ?" वह बोली, "वे सिर्फ काहिरा में रहे ?"

"और वह भी संवाददाता के रूप में ? प्रतिनिधि बनकर नहीं ?" वसन्त ने बात पूरी की।

"गलत बात, बिल्कुल गलत बात" वासन्ती क्रोध में बोली—"सायंकाल का सम्पादक कितना दुष्ट है, इसका उन्होंने मुझे पूरा विश्वास दिला दिया है। जो व्यक्ति झुंझारराव के दोषी-बुखार से ग्रस्त मृत्यु-शय्या पर टांगानिका में पड़े होने पर भी उनके लेखों का पारिश्रमिक भेजना अस्वीकार कर दे, क्या तुम चाहते हो मैं उसकी उल्टी-सीधी बातों पर विश्वास करूं ? और वसन्तराव, यदि कोई मुझसे कहता कि तुम भी उपन्यास के खलनायक के समान झुंझारराव के प्रति मेरे मन में कुधारणा उत्पन्न करने का प्रयत्न करोगे, तो मुझे विश्वास न होता ! पर अच्छा हुआ ! तुम्हारा सच्चा स्वरूप शीघ्र ही प्रकट हो गया···अच्छा मैं चली।" यह कहकर वसन्तराव के उत्तर देने के पूर्व ही वह क्रोध में बाहर चली गई।

इस नवीन अनपेक्षित प्रसंग से वसन्त के हृदय को बड़ा आघात लगा। उसे इस बात की कल्पना तक न थी कि झुंझारराव इतनी जल्दी और इतनी कुशलता से अपना मोहपाश वासन्ती के चारों ओर डाल देंगे। क्षण भर को उसे वासन्ती पर बड़ा क्रोध आया, उसे जरा बुरा भी लगा। उसे निश्चय हो गया कि झुंझारराव गुंडा है और वासन्ती को फंसाना ही उसका उद्देश्य है और कल्पना प्रधान वासन्ती नेत्र होते हुए भी यदि उस गुंडे के जाल में फंसती है, तो उसका कर्त्तव्य है कि वह उसके पिता को पहले से ही सावधान कर दे। भावुकता में अथवा उपन्यास की नायिका का अनुकरण करने के आवेश में यदि उसके द्वारा कोई अविचारपूर्ण कृत्य हो गया, तो उसे जीवन भर पछताना पड़ेगा। इससे अच्छा तो यही हो कि पहिले से ही आसपास के जागरूक लोगों की सहायता से उसे समय रहते ही संकट से परावृत कर अनर्थ को टाला जाय !

वसन्त उसके पिता के पास गया, पर उन्हें पहिले से ही सारी बातें ज्ञात थीं और वे उससे भी अधिक चिंतित थे। वे बोले "क्या करूँ ? इस पगली लड़की के आगे कुछ समझ में ही नहीं आता है। उपन्यास की उल्टी-सीधी कल्पनाओं से आक्रान्त, पता नहीं क्या गड़बड़ कर रही है ? अब तुम ही देखो, कैसी परिस्थिति

उत्पन्न हो गई है—मुझे इस एकबोटे के सम्बन्ध में सब पता चल गया है—मुझे ज्ञात है कि यह बड़ा भयंकर व्यक्ति है—पर उसके सम्बन्ध में कही गई किसी बात पर भी वासन्ती को विश्वास नहीं होता। इतना होने पर भी मैं झुंझारराव को घर आने से नहीं रोक सकता। मैंने यदि यह किया, तो वह मुझे भी उपन्यास के निष्ठुर पिता के सदृश समझ घर से भागने में भी संकोच नहीं करेगी। मैं सोच नहीं पा रहा कि क्या करूं? तुम ही किसी युक्ति से झुंझारराव के सम्बन्ध में उसका यह पागलपन दूर करो…"

उनके यहां से लौटा तो वसन्त का मन अत्यन्त खिन्न था। उसे पूर्ण आशा थी कि उस विश्रम-स्थिति से निकलने में उसके पिता से उसे पर्याप्त सहायता मिलेगी। परन्तु जिन शब्दों में उसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी निराशा प्रकट की थी, उससे स्पष्ट था कि स्थिति उसकी कल्पना से भी अधिक बिगड़ गई है। उसका मस्तिष्क सोचते-सोचते विचारशून्य-सा हो गया था। उसने सोचा "कदाचित् मेरा मित्र माधव इस संकट में कोई मार्ग दिखा सके। उसे भी उपन्यासों के पढ़ने का बड़ा शौक है। कम से कम उपन्यासों के पागलपन से भरे मस्तिष्क वाली लड़की की मनस्थिति की कल्पना तो वह करा ही देगा।" यह सोचते ही उसके पैर स्वतः ही माधव के घर की ओर मुड़ गए।

उसने माधव को सारी बात बताई, पर इस प्रसंग को सुनकर उसकी भी बुद्धि कुंठित हो गई। वह बोला, "लड़की वस्तुतः डेस्डेमोना की दूसरी आवृत्ति प्रतीत होती है। ऐसी भावनाप्रधान लड़की के मन में बसी हुई कल्पना को सहज ही निकाल फेंकना बड़ा कठिन है। पर मेरा एक सुझाव है। जिस प्रकार उसने अतिशयोक्तिपूर्ण गप्प मारी है, उससे तो मुझे लगता है कि वह अवश्य ही कायर तथा डरपोक होगा। यदि तू उसकी कायरता किसी प्रकार वासन्ती के सामने प्रकट कर दे तो अब तक वासन्ती ने जो कुछ कल्पना झुंझारराव के विषय में बनाई है, वह ताश के पत्तों के महल की तरह बिखर जायगी। मेरे इस सुझाव पर सोच देखो। मैं सदा तुम्हारी सहायता के लिए प्रस्तुत हूं।"

वसन्त उसके सुझाव पर सोचते-सोचते घर आ गया। जितना वह उसके सुझाव को सोचता, उतना ही वह उसे ठीक प्रतीत होता। वस्तुतः यदि उस अफ्रीकन शेर की कायरता किसी तरह वासन्ती के सम्मुख प्रकट हो जाय, तो उसके पराक्रम के सम्बन्ध में उसकी कल्पना असत्य सिद्ध हो जायगी। इतना ही नहीं, उसे विश्वास हो जायगा कि उसकी पहली सारी शौर्य-कथाएं गप्पमात्र थीं। पर उसकी कायरता कैसे वासन्ती के सामने प्रकट की जाय, जिससे वह एकदम उसके मन से उतर जाय? यह सोचते-सोचते ही उसे नींद आ गई।

वसन्त प्रातःकाल उठा, तो उसके मन में एक दृढ़ निश्चय था। प्रातः से ही उसका समय बड़ी व्यस्तता में बीता। पहिले वह वासन्ती के पिता से मिलने

गया। फिर उसने अपने पिता से किसी विषय पर बातें कीं; फिर पांच-छः लोगों को बंगले पर बुलाकर उनसे कुछ कहा। इस प्रकार शाम तक वह बड़ा व्यस्त रहा। सायंकाल के समय उसने सदा की तरह घूमने के लिए साइकिल निकाली और चतुश्रृंगी-मार्ग पर चल पड़ा।

सदा की तरह वासन्ती और झुंझारराव भी घूमने के लिए साइकिलों पर निकल पड़े। आजकल उनका दैनिक कार्यक्रम बन गया था कि संध्या होते ही चतुश्रृंगी की सीढ़ियों पर बैठकर झुंझारराव अपने जीवन के रोमांचकारी प्रसंगों का वर्णन वासन्ती से करते थे। झुंझारराव आज विशेष प्रसन्न था, क्योंकि उसने निश्चय किया था कि वह चतुश्रृंगी की सीढ़ियों पर बैठकर वासन्ती से प्रणय-प्रस्ताव करेगा। इसीलिए आज वासन्ती को चारों ओर अफ्रीका की गप्पों का जाल बुनने में वह आज विशेष कौशल से काम ले रहा था। अतः 'डैकन-टाकीज' के निकट ज्योंही उन्हें वसन्त की साइकिल दिखाई दी, त्योंही दोनों के माथों पर सलवटें पड़ गईं।

उनके रोष की चिन्ता न करता हुआ बसन्त मुस्कराता हुआ उनके पास आया "वाह ! मैं भी अकेला घूमते-घूमते ऊब गया था।" अपनी साइकिल उनकी साइकिल के पास लाता हुआ बोला, "अच्छा हुआ। आप लोग मिल गए। अब इनकी अफ्रीका की गप्पें सुनते हुए समय मजे से कट जायगा। अच्छा, आप जा किधर रहे है ? प्रभात की तरफ ही न···?"

"नहीं, नही ! चतुश्रृंगी की सीढ़ियों पर जा रहे हैं। हम !" झुंझारराव गम्भीरतापूर्वक बोले। वह सोच रहा था यह मूसलचन्द यहां क्यों आ टपका ?

"बाप रे ! इतनी दूर जाओगे ? पर कोई बात नहीं, केवल आजकल उधर पठानों का बड़ा डर रहता है। कल दो-तीन पठानों ने एक सज्जन को वहां मार डाला।" बसन्त झुंझारराव की ओर तीक्ष्ण-दृष्टि से देखता हुआ बोला। उसने स्पष्ट झुंझारराव के मुख पर चिन्ता व भय के चिह्न देखे।

तुम पठानों से डरते प्रतीत होते हो ? झुंझारराव तनिक मुस्कराते हुए बोले, "आपके लिए, कहें तो, प्रभात की ओर ही चलें।"

"नहीं नहीं, आप-सरीखे एक बार में ही पच्चीस गुंडों को जमीन पर लौटा देने वाले शूरवीर के साथ रहकर हमें भय किसका ? यह जान लेने पर कि आप हमारे साथ हैं, पठानों की इतनी हिम्मत कहां कि हमारे पास फटक भी सकें।" वसन्त हँसते हुए बोला। वस्तुतः उसे झुंझारराव की टालमटोल से बड़ा मजा आ रहा था।

"देखो भाई, मुझे कुछ भय नहीं; मैं एक पठान तो क्या दस पठानों को लुढ़का दूंगा···" झुंझारराव कहने लगे।

"छिः, यह क्या कायरों की सी बातें करते हो, हम चतुश्रृंगी ही चलेंगे।

अफ्रीका में इतने पराक्रम दिखा कर भी क्या तुम इन तुच्छ पठानों से घबराते हो ?" वासन्ती सरल भाव से बोली ।

अब झुंझारराव के पास कोई रास्ता न रह गया था । चुपचाप उन्होंने साइकिल चलानी शुरू कर दी, पर मन उनका लगातार धड़धड़ कर रहा था। उन्हें लग रहा था कि आज आते ही नहीं, तो कितना अच्छा होता ।

पर वासन्ती उसे चुप थोड़े ही बैठने दे सकती थी ? उसे झांबों राजा के बंदी-गृह में किए गए झुंझारराव के पराक्रम सुनने की उत्सुकता थी ।

"फिर आपने क्या किया ?" उसने पूछा ।

और आजतक के प्रसंगों में पहली बार अप्रसन्न स्वर में वह अपने पराक्रम का वर्णन करने लगे ।

चलते-चलते अब वे लोग चतुश्रृंगी की सीढ़ियों तक पहुंच गए थे । सम्पूर्ण मार्ग सुनसान था । आसपास के आधे मील तक के प्रदेश में पक्षी तक नहीं दिखाई देता था । वहां साइकिल ले जाते हुए—पता नहीं क्यों झुँझारराव का हृदय लगातार धड़क रहा था—कदाचित् भारी पराक्रम की आशा व उत्सुकता से धड़धड़ा रहा है—कौन जाने ?

चतुश्रृंगी की सीढ़ियों के निकट उन्होंने साइकिल खड़ी कर दी । बातें करते-करते बीच ही में बसन्त बोला, "तनिक ऊपर जाकर पानी पी आऊं।" दोनों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उसे जाने को कह दिया। वसन्त उठा और चतुश्रृंगी की पहाड़ी पर चढ़ने लगा । दोनों की आंखे उसी दिशा में लगी थीं, जिधर बसन्त जा रहा था और बात भी दोनों उसी के सम्बन्ध में कर रहे थे ।

"इतने में······"

"पकड़ो···पकड़ो" उन्होंने यकायक अपने पीछे शोर सुना और घबराकर पीछे की ओर देखा ।

तीन पठान हाथों में मोटे-मोटे डंडे लिए उनकी ओर ही दौड़े आ रहे थे ।

उन्हें देखते ही वासन्ती के होशहवास उड़ गए ।

"झुंझारराव, झुंझारराव···संभलो···दौड़ो···" वासन्ती ने घबराकर चीख मारी और झुंझारराव की ओर बड़ी दीन दृष्टि से देखा ।

परन्तु झुंझारराव—वह उस पुकार को सुनने के लिए वहां रहा ही कहां था ? पन्द्रह जंगली लोगों का आक्रमण अकेले रोकनेवाला पराक्रमी वीर पास पड़ी साइकिल ले इतने जोर से भागा था मानो अफ्रीका के बाघ ही उसके पीछे लग गए हों ।

झुंझारराव को इस प्रकार अनपेक्षित रूप से लापता होते देख वासन्ती के होश उड़ गए । तब तक पठान भी अत्यन्त निकट आ चुके थे ।

"वसन्तराव···वसन्त···दौड़ो···" घबराकर वह पुनः चीखी और भय से

चक्कर खाकर एकदम बेहोश हो गई।

होश आने पर उसने वसन्त और पठानों को परस्पर झगड़ते देखा। एक पठान को वह गिरा चुका था। दूसरे पठान को नीचे गिरते देखकर तीसरे ने एकदम छुरा जेब से निकाला। वह लम्बे फलक वाला छुरा देखते ही वासन्ती ने पुनः डर से चीख मारी और आंखें बन्द कर लीं। उसका अनुमान था कि बस अब वसन्त की चीख सुनाई देगी। पर वसन्त की चीख के स्थान पर सुनाई दी उसे पिस्तौल की गोली की धाड़ की आवाज, पठान के हाथ से गिरे छुरे की आवाज तथा पठान के 'हाय अल्ला' कराहने की आवाज। ये आवाजें सुनते ही उसने आँखें खोलकर देखा। वसन्त के हाथ में पिस्तौल थी, पठान अपना दायां हाथ बाएं हाथ से दबाये हुए था और उससे रक्त टपक रहा था।

"दो मिनिट में यदि तुमने अपना मुंह काला नहीं किया, तो कुत्ते की तरह गोली मार दूंगा।" वसन्त पिस्तौल उन तीनों की तरफ करते हुए बोला और एक मिनिट के अन्दर ही वह स्थान निष्पठान हो गया।

अपन पठानों से मुक्त हो गए हैं, इतना ही नहीं, अपने वसन्त ने ही हमें मुक्त कराया है और वह भी बड़े धैर्य से तीन पठानों से लड़कर—इसकी कल्पना ने वासन्ती को इतना प्रमुदित किया कि क्षण-भर तो लगा जैसे वह स्वप्न-देश में है और उसने अपने नेत्र बन्द कर लिए।

"वासन्ती, वासन्ती" उसका मस्तक ऊपर उठाते हुए वसन्त बोला, "तुम्हारे कहीं चोट तो नहीं लगी? कितनी घबरा गई हो तुम! उठो! तीनों पठान भाग गए हैं! तनिक भी मत घबराओ! वासन्ती, आंख खोलकर देखो न एक बार मेरी ओर!" वसन्त ने उसका माथा अपनी जांघ पर रख लिया और रूमाल से उसकी हवा करने लगा।

धीरे-धीरे वासन्ती ने अपने नेत्र खोले और वह टकटकी लगाकर वसन्त की ओर देखने लगी मानो अपने पराक्रमी नायक को अपने दृष्टिपथ द्वारा हृदय में अंकित करना चाहती हो। थोड़ी देर में वह मुस्कराई।

"क्यों? हँसने की क्या बात है?" वसन्त ने पूछा।

"यूं ही।"

"यूं ही?"

"क्यों, क्या हँसना भी मना है? वासन्ती ने लाड़ से पूछा।

"हां, पर कारण बताओ।" वसन्त हँसते-हँसते बोला।

"अच्छा बताऊं।" वासन्ती अपना सिर उसकी जांघ पर से न हटाते हुए तथा उसका हाथ अपने हाथ में लेती हुई बोली, "मेरा मनोराज्य सफल हो गया न?"

"कौन सा मनोराज्य? और वह सफल कब हुआ?" वसन्त ने हँसते हुए पूछा।

"पराक्रमी पति मिलने का मनोराज्य !" उसके हाथोंसे खेलती हुई वासन्ती बोली, "और वह अभी-अभी सफल हुआ है।"

"अच्छा तो झुंझारराव ने आज प्रणय-प्रस्ताव किया प्रतीत होता है।"

वसन्त उसे चिढ़ाने के उद्देश्य से हँसते हुए बोला।

"यदि एकबार भी उस झुंझारराव का नाम मेरे सामने लिया, तो यहीं चतुश्रृंगी की पहाड़ी से कूद कर प्राण दे दूंगी; समझे।" वासन्ती गाल फुलाते हुए बोली। वसन्त जोर-जोर से हंसने लगा।

"बाप रे ! वह उपन्यास का पन्द्रह जंगली लोगों का आक्रमण परास्त करने वाला पराक्रमी नायक···"

पर वासन्ती ने उसे बीच ही में रोक दिया।

"नायक ! मरे में खलनायक होने की भी तो पात्रता नहीं है—लम्बी-चौड़ी मीठी-मीठी गप्पें मारकर कैसी मोहिनी डाल दी थी मेरे मन पर ! चार अबीसिनियन सिपाहियों को भगा देनेवाला पठानों को देखते ही कितनी तेजी से भाग गया। मानो 'झंबा राजा' के सिपाही ही उसके पीछे लगे हों। वसन्त···" पर न मालूम क्यों, उसने अपना मुख एकदम दोनों हाथों में छिपा लिया। वसन्त जोर से हंस पड़ा।

"हां-हां, बताओ न ! कोई बात नहीं है। हम लोग चतुश्रृंगी के पास के मैदान में हैं—आसपास कोई सुन नहीं रहा है, हां पुनः एकबार···"

"वसन्त-वसन्त···" वासन्ती उसके कंधे पर अपना हाथ रखते हुए बोली, "तुम्हारे प्रति मेरे मन में क्या भाव उठ रहे हैं, बताऊं ?"

"हां, बता न !" वसन्त बोला।

"तू एक रत्न है।" वासन्ती मुस्कराते हुए बोली।

"और तू हीरे की कनी है।" यह कहते हुए उपन्यास-नायक के सदृश उसने उसका मुंह बन्द कर दिया।

तीन दिन के भीतर-भीतर विवाह हो जाना चाहिए, वसन्त ने हठ पकड़ लिया। वासन्ती की इंटर की और अपनी एम०ए० की परीक्षा निकट होते हुए भी वसन्त ने विवाह की इतनी जल्दी क्यों की ? इसके कारण थे—आक्रमण करने वाले तीनों पठान किराये पर किए गए थे। इतना ही नहीं, उन सबको झगड़े की पूरी-पूरी शिक्षा दी गई थी। पिस्तौल नकली था और पठान की कलाई से टपकने वाला रक्त लाल स्याही से भरे चीथड़े से टपकी स्याही मात्र थी; पानी पीने के बहाने मेरा पहाड़ी पर चढ़ना पठानों को आक्रमण करने की सूचना थी।

फिर भी उस के प्रति उत्कट प्रेम होने के कारण ही यह सब छल किया

गया था, यह जानकर वह छल के लिए क्षमा कर देगी। हां, नहीं तो क्या पता उस भावुक लड़की का मन किस मार्ग पर चल पड़े !!

आज भी चतुश्शृंगी के आक्रमण का रहस्य वासन्ती पर प्रकट नहीं हुआ है। आज भी वह वसन्त से कहती है, "तुम कहा करते थे कि उपन्यास के समान अद्‌भुत घटनाएं इस जगत में नहीं घटतीं, पर चतुश्शृंगी की घटना किसी भी उपन्यास की घटना से कम अद्‌भुत नहीं थी, यह तुम उस समय भूल गए थे।"

वसन्त इस पर केवल मुस्करा भर देता है।

"पगली, ऐसी घटनाएं स्वयं नहीं घटतीं। वे घटाई जाती हैं।" उस हँसने का यही अर्थ होता है।

आरामकुर्सी

दि० बा० मोकाशी

१९१५ ई० में पैदा हुए श्री मोकाशी की गणना उन लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकारों में की जा सकती है जिन्होंने विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त किए बिना भी सरस्वती की अर्चना की है। उनका व्यवसाय भी साहित्य-सेवा के कुछ अधिक अनुकूल नहीं है। वह रेडियो-मैकेनिक हैं। पर उनके साहित्य-सृजन के मार्ग में ये भौतिक कठिनाइयां कभी बाधक नहीं हुईं। बीस वर्ष की आयु से लिखना प्रारम्भ कर वे अब तक ४ कथा-संग्रह, २ उपन्यास तथा ४ बाल-साहित्य की पुस्तकें लिख चुके हैं जिनमें कई पर उन्हें महाराष्ट्र सरकार का परितोषक भी मिल चुका है। प्रस्तुत कहानी स्वभाव-निष्ठ विनोद का उदाहरण है। उसमें एक दम्पत्ति की सनक दिखाकर लेखक ने हास्य-सृष्टि की है।

सुखमय जीवन के सम्बन्ध में इन्दु की कल्पना में तीन बातें मुख्य थीं— सात लड़के, घर से बाहर जाने पर बिना चीं-चपड़ किए बच्चों को सम्भालने वाला पति और एक आरामकुर्सी। विवाह के समय इन्दु की एक मौसी ने बड़े प्रशंसात्मक स्वर में कहा था, "हमारी बेबी को बच्चे बड़े प्रिय हैं,…।" मांगलिक मंत्रों के उच्चारण तथा सेहरा पढ़नेवालों की गुदगुदाने वाली ध्वनि के बीच यह वाक्य तो मुझे स्पष्ट सुनाई दिया था, यद्यपि उसका अर्थ मैं तब नहीं समझा था। पर आरामकुर्सी के सम्बन्ध में तो इस प्रकार का कोई संकेत भी मुझे नहीं मिला था। घर बसाने के दिन से ही घर में आरामकुर्सी की चर्चा शुरू हो गई थी "आरामकुर्सी चाहिए, घर में आरामकुर्सी तो होनी ही चाहिए।"

एक दिन मैंने उस प्रतिदिन की चर्चा से ऊबकर कहा, "इन दो कमरों में आरामकुर्सी के लिए जगह ही कहाँ है?"

"न सही, पर यह मेरी सनक ही समझ लो।"

"पर इन दो कोठरियों में तो सनक के लिए भी जगह नहीं है।"

"ऐसा क्यों कहते हो? मेरे दादा जी को भी आरामकुर्सी बड़ी अच्छी लगती थी।"

"अच्छा तो तुम्हारी यह सनक पैतृक है।"

"उन्हें कुर्सी बड़ी प्रिय थी। आरामकुर्सी पर बैठे मेरे दादा जी का फोटो देखा है क्या आपने ?"

मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह अपने ट्रंक की ओर दौड़ी गई और एक बड़ा-सा लिफाफा निकाल लाई। उसमें पचास-साठ फोटो थे।

इन फोटुओं को मैं विवाह के बाद कम से कम पांच बार देख चुका था। मेरा सब पतियों को सद् परामर्श है कि वे अपनी पत्नी के पीहरवालों के फोटो अत्यन्त रुचि के साथ देखा करें। अपने घरवालों से बेचारी अलग हो जाती है न ! अतः फोटो के माध्यम से ही सही, उस जीवन का पुनर्निर्माण करना और उसमें अपने पति को भी समाविष्ट करना, यह उसकी तीव्र इच्छा होती है। (अतः पति सावधान रहें)

अस्तु, आरामकुर्सी का विरोध न कर मैं अपनी मुद्रा यथाशक्य कोमल बनाते हुए फोटो देखने लगा। पर जिन दादाजी का फोटो दिखाने के लिए वह बंडल निकाला गया था, वह शीघ्र ही थोड़े मिलने वाला था। कृष्णशास्त्री चिपलूणकर से लेकर रमाबाई तक से दिखनेवाले उसमें अनेक फोटो थे। 'रानी के बाग में,' 'अटारी पर' या 'तुलसी-चौरा के निकट खड़े हुए', 'मखमली कुर्सी पर बैठे हुए', 'जरीदार टोपी लगाए', 'बढ़ी हुई मूंछों में' और बिना मूंछों के सफाचट-कितनी ही मुद्राओं के फोटो उस बंडल में थे।

कई फोटो देखने के बाद एक फोटो की ओर संकेत करते हुए मैंने पूछा, "यह किसका है ?"

"नहीं पहचानते !"

'ऊँ हूं। इतना छोटा बच्चा तो मुझे तुम्हारे घर में कोई नहीं दिखाई दिया, और यदि दिखा भी हो तो बच्चे तो सब एकसे ही लगते हैं।"

इंदू जोर से हंसी और बोली, "अब भी पहचानो।"

"भई, नहीं पहचान पा रहा हूं।"

"तो हार गए।"

"हां, हार गया।"

"अरे, यह मेरे ही बचपन का फोटो है। अब तो पहचान गए ?"

"हां, थोड़ा बहुत साम्य है।"

इसी प्रकार बातें करते-करते बहुत से फ़ोटो देखे। उसके भाई, बहिन, मौसी बुआ और सहेलियों—सब के सब चेहरे मुझे अब फिर परिचित से प्रतीत हो रहे थे। अतः यदि अब वे कहीं मिल जाते, तो मैंने उन्हें अत्यन्त परिचित के समान प्रेमपूर्वक पुकार कर मार्ग में ही रोक लिया होता।

अन्त में दादा जी का फोटो सामने आया। उसे मैं दसियों बार देख चुका था,

अतः निगाह पड़ते ही चिल्ला पड़ा "वह देखो, दादा जी हैं।"

"लगता है तुम्हें पहले से पता था।"

"उंहूं, मेरे दादा सरीखे ही तो हैं।"

"अच्छा, तो क्या तुम्हारे दादा जी के भी दाढी-मूंछें थीं ?"

"हां, पर वे रेलवे में थे।"

'मेरे दादा तो जंगल-विभाग में थे। उन्हें आरामकुर्सी बड़ी प्रिय थी।"

"यह तो तुम बता चुकी हो।"

पर मेरी बात वह क्यों सुनने लगी ! अपने ही विचारों में मग्न बोलती रही, "मैं उनकी उसी आरामकुर्सी पर पली हूं। हठपूर्वक उसी पर खाना खाती थी और वहीं खेलते-खेलते मुझे नींद आ जाती थी। कितनी बड़ी कुर्सी थी वह !!"

"यह तो ठीक है, पर वहाँ जगह भी काफी होगी !"

"काफी कहाँ, ऐसे ही दो कमरे थे बस। वह मुझे सदा अभिन्न मित्र की तरह प्रिय रही। उसी पर बैठकर रेडियो सुनते-सुनते मैंने मैट्रिक की पढ़ाई की थी। एक बात बताऊँ ?"

"क्या ?"

"मैं तुम्हारे लिए स्वेटर बुन रही हूँ।"

"ऊन किस रंग की ली है ? मुझे गहरा रंग अच्छा लगता है।"

"मुझे क्या तुम्हारी रुचि का पता नहीं है ? रोज दुपहरी के समय बुनने बैठती हूँ, पर मूड ही नहीं बनता।"

"क्यों, क्या बात है ?"

"अरे, ऐसे कामों में आरामकुर्सी के बिना कहीं मूड बनता है ? दादा की कुर्सी पर बैठकर इतने सुन्दर स्वैटर बुने हैं !"

"मुझे तो केवल एक चाहिए ! साधारण भी हो, तो भी काम चल जायगा।"

"अरे, ऐसा क्यों मन छोटा करते हो ?"

"अब तुम्हीं सोचो न ! अच्छे स्वैटर के लिए आरामकुर्सी चाहिए, आराम-कुर्सी के लिए चाहिए बड़ा घर और बड़े घर के लिए···"

"अरे इन सबकी क्या आवश्यकता है, बस कुर्सी पर्याप्त है।"

उस दिन के बाद से हमारा सांध्यकालीन भ्रमण कुर्सी की खोज में बदल गया। मार्ग पर कोई बढ़ई बनी-बनाई कुर्सी बेचता दिखाई देता कि एकदम पत्नी के नेत्र उल्लास से चमक उठते और वह उस कुर्सी की ओर लपकती। उसके बाद कुर्सी की जांच शुरू होती। उसे कमरे के जिस कोने में रखकर स्वैटर बुनना अधिक सुविधाजनक होगा, इस बात को देखने में पन्द्रह मिनिट नष्ट होते। कुर्सी की लकड़ी, उसके कपड़े आदि की परीक्षा में और पन्द्रह मिनिट बीतते पर उसकी सच्ची परीक्षा कुर्सी का मूड पहचानने में होती। कुर्सी का मूड वह एक दृष्टि में

पहचान लेती थीं। कभी कहती यह कुर्सी स्वप्नालु है, कभी कहती वह काम करने के उपयुक्त है तथा कभी कहती वह झपकी लेने के लिए ही अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार उसने कुर्सियों के तीन वर्ग बना डाले थे—काम करने की, सोने की तथा दिवास्वप्न देखने की। पर इसी वर्गीकरण के कारण दर्जनों कुर्सियाँ देखने पर भी उसे एक भी पसन्द नहीं आई थी। वस्तुतः उसे ऐसी कुर्सी चाहिए थी जिसमें स्वप्न देखने, काम करने तथा झपकी लेने—सभी के मूड बन सकें।

यद्यपि उसने इस प्रकार अनेक कुर्सियां नापसन्द कर दी थीं, तथापि मेरा यह भय कभी नहीं गया कि एक न एक दिन उसे कोई न कोई कुर्सी पसन्द आ ही जायगी। अतः मैंने उसे कुर्सी खरीदने के निश्चय से परावृत करने का जोरदार प्रयत्न जारी रखा।

पहले तो मैंने अत्यधिक कोमलता से उसका विरोध किया। सोचा, उसे सरलतापूर्वक अपनी नापसन्दगी बताऊँ और समझाकर कुर्सी खरीदने का उसका निश्चय दूर कर दूं। पर ज्योंही पता लगा कि यह काम इतना आसानी से न होगा, तो मैंने अपने तथा उसके मित्रों की साहयता लेने का निश्चय किया। बातचीत का रुख आरामकुर्सी की ओर ले जाने की ही मेरी चेष्टा रहती। हमारी बातचीत कुछ इस प्रकार से होती :

मैं—'मयूरपंख' चित्रपट देखा है क्या ?

मित्र—हां, देख चुका हूँ !

मैं—उसमें भवन कितने सुन्दर हैं ! हां, अच्छी याद आई तुम्हारे मुहल्ले में कोई मकान खाली है क्या ?

मित्र—क्यों ?

मैं—तुम्हारा दो कमरों का फ्लैट है न ?

मित्र—हां।

मैं—बड़ी मुश्किल पड़ती है, भाई, दो कमरों में तो !

मित्र—मुसीबत ! एक भी चीज़ ज्यादा नहीं ला सकते।

मैं—और, पर हम एक आरामकुर्सी लाने की सोच रहे हैं।

मित्र—तो क्या कुर्सी घर में रखने और स्वयं बाहर रहने का इरादा है ?

मैं—अभी तो मैं इंदु से कहता हूं कि अब और कोई चीज़ खरीद कर मत लाओ।

इस बातचीत के बाद जब मैं और इंदु अकेले रह जाते, तो मैं कहता "देखो इंदु, अब कुर्सी खरीदने का पागलपन छोड़ दो।"

इंदु तड़क कर कहती, "हां, हां, सब देख लिया और सुन लिया। उन मित्र से ही पूछो कि जब जगह नहीं थी, तो खुद इतनी बड़ी मेज क्यों लाए थे। उनकी पत्नी कह रही थी परसों कि वह अल्मारी लाना चाहती थी, तब तो हज़रत ने

कह दिया कि जगह कहां है। पर मेज के लिए वही जगह बड़ी हो गई। यह सब कुछ नहीं चलेगा। एक दिन तुम भी अपने मित्र के समान अपनी रुचि की कोई चीज़ ले आओगे और मैं देखती की देखती रह जाऊंगी।"

प्रत्यक्ष रीति से इंदु को समझाना कठिन है, यह देख मैंने उसे आर्थिक दृष्टि से समझाने की चेष्टा की। अपने देश का बजट किस प्रकार बनाया जाता है, कौटुम्बिक बजट का देश के बजट पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है, कौटुम्बिक बजट यदि त्रुटिपूर्ण हो, तो देश पर उसका क्या असर पड़ेगा, आदि बातें मैं उसे समझाने लगा। इन बातों को सुनते-सुनते जब वह जम्हाई लेने लगी, तो मैं ज़रा स्पष्ट बोला, "देखो जी, दो महीने तक तो हम कुर्सी खरीद ही नहीं सकते। इस बार बीमे की किश्त चुकानी है। घर का भाड़ा भी देना है। यह सारा खर्च···

पर मेरी आगे की बात न सुनकर, कल ही सिलकर आए मेरे ऊनी सूट की ओर आग्नेय नेत्रों से अंगारे फेंकती हुई वह झटके के साथ भीतर चली गई।

उसके उपरान्त हम दोनों को नींद में आरामकुर्सी के स्वप्न आने लगे। मैं स्पप्न देखता कि खिड़की, दरवाजे, छप्पर आदि सब स्थानों पर सैकड़ों कुर्सियां आगई हैं; अपने भयावह, अप्रिय रूप से मुझे डरा रही हैं; घर में जितनी जगह खाली थी, उससे भी अधिक पर उन्होंने अपना कब्ज़ा कर लिया है। हर बार कोई रिक्त स्थान देखकर मैं उधर भागता, पर उस स्थान को घेरने के लिए चारों ओर से कुर्सियां दौड़ पड़तीं। अंत में जब खड़ा रहने तक को जगह नहीं रही, तो पसीने-पसीने हो मैंने द्वार खोला और किसी तरह बाहर भाग आया। मुझे अपने पीछे कुर्सियों का भीषण अट्टहास सुनाई देता और मैं जाग पड़ता।

इसके विपरीत इंदु का चेहरा नींद में मुस्कराता दिखाई देता। कदाचित् वह स्पप्न में देखती होगी कि सभी 'मूड' वाली कुर्सियां कमरे की खिड़की के निकट हँस की तरह शान से बैठी हैं और वह स्वयं महारानी की तरह उन पर बैठी हुई सोने की सलाइयों से माणिक्य की ऊन का स्वेटर बुन रही है।

हम दोनों में से इन्दु के स्वप्न ही प्रभातकालीन रहे होंगे क्योंकि जब एक दिन शाम को मैं घर लौटा तो क्या देखता हूं कि इन्दु खिड़की के निकट आरामकुर्सी पर बैठी स्वेटर बुन रही है। मुझे देखते ही वह तुरन्त उठी और हंसते हुए बोली, "चकित हुए कि नहीं?"

"चकित ही क्यों, मैं तो चित्त हो गया।"

"यह मैं खरीद कर नहीं लाई हूं, समझे।"

"समझ गया, पर आखिर ले तो आई हो न!"

"दादा जी ने भेंट में दी है। गत वर्ष वह बिल्कुल काम में नहीं आई। थोड़ी सी टूट गई है।"

मैंने आगे बढ़कर वह ऐतिहासिक कुर्सी देखी और फिर उसे खोलकर उस

पर बैठने को ही था कि इन्दु मुझे रोकती हुई बोली, "ठहरो, एकदम मत बैठो, गिर पड़ोगे।"

"क्या मतलब ?"

"उस पर बैठने की तरकीब सिर्फ मैं जानती हूं। उसका एक पाया फिसलता है।पहले मैं बैठकर दिखाती हूं, बाद में तुम बैठना। यह देखो, पहले उसका आगे का हिस्सा इस तरह ऊपर करना होगा और फिर···

आगे की बात पूरी नहीं हो पाई। इन्दु ज्योंही कुर्सी पर बैठी, धड़ाम से कुर्सी समेत गिर पड़ी। हंसते-हंसते उसे सम्भालकर उठाने का ध्यान भी मुझे नहीं रहा। जब वह स्वयं जैसे-तैसे उठने लगी, तो मैंने भी हाथ का सहारा दिया। उसका चेहरा बिल्कुल उतर गया था। मैं बोला, "ठहरो, इस कुर्सी की नब्ज़ ज़रा मुझे देखने दो।"

कुर्सी खड़ी कर मैंने उसका सम्पूर्ण निरीक्षण किया। किसी भी वस्तु की पूर्ण परीक्षा किए बिना उसकी ओर नहीं दौड़ना चाहिए, यह समझाते हुए और कुर्सी को अच्छी तरह जमाकर और उसे कसकर पकड़ कर मैं बैठने लगा। इन्दु से बोला, "इस कुर्सी पर ऐसे बैठना चाहिए। इस पाये को बस जरा ठीक कराना होगा। कराऊं क्यों, कल मैं ही ठीक कर दूंगा। अपने औज़ार तो निकालो ज़रा। उनमें सरवानी (बढ़इयों का एक औज़ार) तो है न ?"

"बस रहने भी दो अपनी कारीगरी। बढ़ई को बुला लाना, वही ठीक कर देगा, वर्ना मेरी कुर्सी की खैर नहीं।"

"अच्छा ! तुम्हारा मुझ पर विश्वास नहीं। पर कम से कम यह तो देख लो कि उस पर बैठा किस तरह जाता है।"

यह कह कर मैं कुर्सी पर बैठने लगा, पर शीघ्र ही भूमि चूमने लगा। कुर्सी हवा की तरह सपाट पसर गई थी। पर इसका यह मतलब नहीं कि मैं चारों खाने चित्त गिर पड़ा था। मैं हर बात में सावधान रहता हूँ न, अतः इस समय भी मेरे हाथ घुटनों पर थे। उसी ऐंठ में इन्दु से बोला, "कम से कम तुम्हारी तरह तो नहीं गिरा।"

इतनी देर तक वह चुपके-चुपके हंस रही थी, अब ज़ोर से हंसने लगी और फिर मुश्किल से हंसी रोकती हुई बोली, "तुम्हारी तो हमेशा की आदत है कि गिरते हो, पर मानते नहीं।"

वस्तुतः उसकी इस बात पर मुझे बड़ा क्रोध आया, पर उसे कुर्सी पर निकालना ही ठीक समझ कर उठा। कुर्सी खड़ी की, फिर उसे फैलाया। पुनः खड़ी की, पुनः फैलाया और उसे ठीक करने का निश्चय कर डाला।

दूसरे दिन पहला काम यह किया कि टांड पर चढ़कर औज़ार निकाले। लांग चढ़ाकर नसैनी लगाने और टांड पर चढ़ने आदि मेरे कामों की ओर इन्दु

अविश्वास के साथ देखती रही। मैं औज़ार लेकर नीचे उतरा। पसीने से तरबतर काले बने मुख को काले हाथों से पौंछ कर जब और भी काला बना लिया तब भी वह नहीं मुस्करायी।

उसका यह व्यवहार मेरे लिए नया नहीं था। उसने मुझे कवि का सम्मान प्रदान किया था, यह लिखकर भी दे रखा था कि मैं लेखक-चित्रकार-शास्त्रज्ञ सब कुछ हूं। परन्तु उसे यह कभी सहन नहीं होता था कि मैं घर की किसी चीज़ की मरम्मत करूं। इस समय भी जिस दृष्टि से वह मेरी ओर देख रही थी, उसमें भय, निराशा सिमटी हुई थी। "बस अब क्या है। औज़ार ले लिए हैं इन्होंने हाथ में, अब मेरी सारी चीज़ों का सत्यानाश होकर रहेगा।" उसकी आंखें फटी हुई थीं, ओठ खुले के खुले रह गए थे। "दौड़ो, कोई इन्हें रोको" मानो वे यही शब्द कहने-वाले थे!

कुछ भी हो, अबतक घर-गृहस्थी के कितने ही मामलों में मेरा परामर्श उपयोगी सिद्ध हो चुका था, भले ही इन्दु यह बात न मानती हो। पहले मेरे परामर्श को दुत्कारना, पर दो-चार दिन बाद उसी के अनुसार कार्य करना, यह कई बार हो चुका था। यदि उसने तनिक भी प्रोत्साहन दिया होता, तो आज तक घर की अनेक चीज़ों की मरम्मत घर में ही हो गई होती और उससे न मालूम कितनी बचत भी हो गई होती! एक बार हमने सोचा कि पानी गर्म करने का हमाम खरीदा जाय। पर यह मालूम होने पर कि हमाम का मूल्य साठ रुपये है, मैंने सोचा कि अरे हमाम में है ही क्या? पीपे के तले में एक छेद कर ऊपर तक उसमें एक नली बिठा दो और नीचे की ओर तीन हुक लगा कर उसमें टोंटी लगा दो, बस बन गया हमाम! घर पर ही हमाम बनाने का निश्चय कर सम्पूर्ण प्लान मैंने इन्दु को दिखाया। पर उसने मुझे पागल ठहराया। इसके बाद तो अन्य वस्तुएं बनाने का विचार प्रकट करने की बजाय अपनी खोपड़ी में ही रखे। पर जब एक बार खाने-पीने की चीज़ों के लिए न्यामतखाना लाने के लिए उसने कहा तो मैंने एक बार पुन. बढ़ई के औज़ार निकाले और फैसला हुआ कि यदि तीन दिन के अन्दर वह बन गया, तो न्यामतखाना नहीं खरीदा जायगा। तीन दिन में एक तो क्या, तीन न्यामतखाने बन सकते थे। अतः मैं मन ही मन हंसा और काम में जुट गया। सोचा न्यामतखाना बनाने में है ही क्या? एक बार लकड़ी के तख्तों को रंदे से चिकना कर आवश्यकतानुसार लम्बाई-चौड़ाई के फ्रेम तैयार किए नहीं कि बस बन गया न्यामतखाना। उसके बाद तीन तरफ ज़ाली जड़ दी और एक तरफ दरवाजा बना दिया कि बस हो गया काम। और फिर कितने कम दामों में।

मैंने काम शुरू कर दिया। बड़े उत्साह से दो टुकड़े काटे। तीसरा काटने ही वाला था कि इन्दु दौड़ी-दौड़ी आई और बोली "यह सारा जंजाल जल्दी से

समेटो। बहन आ रही है। उठो, पहले जल्दी से हाथ-मुंह धो डालो, तब तक मैं यह सब चीजें एक ओर को रखे देती हूं।" जल्दी-जल्दी उठा क्योंकि इन्दु के पीहरवालों को भी यह जंगली काम अच्छा नहीं लगता था। उसका मज़ाक उड़ता था न! इसलिए उनके आने पर मुझे स्वच्छ कपड़े पहन पढ़ने-लिखने जैसा कुछ सुसंकृत काम करने बैठना पड़ता था। इस समय भी वैसा करने के अतिरिक्त कोई चारा न था। स्वच्छ तौलिये से मुंह पोंछ मैं पलंग पर तकिये के सहारे बैठा ही था कि उसकी बहन जी आ पहुंचीं।

बस उस क्षण से घर में जो चहल-पहल शुरू हुई, उसे मत पूछिए। बाज़ार-खरीदारी-कपड़े-सिनेमा-फैशन-खाद्य-व्यंजन, उपन्यास, इनके अतिरिक्त उनके पास बातचीत का विषय ही न था। दोनों एक से रंग की साड़ियां पहन बाहर जातीं। जाते समय जो थैले खाली होते, वे लौटते समय दबादब भरे होते। सिनेमा देखने की लहर आती, तो मुझे टिकट लाने के लिए खदेड़ा जाता। उस दिन आई उनकी बहन तीन दिन तक नहीं गई और उस बीच चूंकि मुझे दी गई तीन दिन की अवधि समाप्त हो चुकी थी, अतः इन्दु ने बहिन को एक दिन के लिए और रोक लिया और दोनों बाज़ार जाकर एक न्यामतखाना खरीद लाईं।

इस घटना को स्मरण कर मैंने इस बार दृढ निश्चय कर लिया था कि इस कुर्सी की मरम्मत करते समय यदि इन्दु के मां-बाप भी आ जाएं तो भी काम चालू रखूंगा, फिर वे भले ही जामाता के नाम रखें।

सरवानी लेकर मैं कुर्सी का पाया ठीक करने लगा। पहले पाये पर सरवानी का प्रहार किया और अपना हाथ बचाने के प्रयत्न में पाये की कत्तल ही उड़ गई। खैर, कभी-कभी ऐसा हो ही जाता है। मैंने पीछे मुड़कर देखा, इन्दु नहीं थी। यह सोचकर कि चलो अच्छा हुआ इन्दु ने नहीं देखा, मैं दूसरा पाया ठीक करने लगा। मैं सरवानी उठाकर प्रहार करनेवाला ही था कि ध्यान में आया कि वह पाया तो पहले से ही फटा हुआ है। अतः तीसरे पाये को हाथ लगाया। यदि इस पाये पर भी कुर्सी जम जाय और फिसलना बंद कर दे तो काम बन सकता था। पर सारा दोष इन्दु का था। घर का कोई काम न करने देने के कारण मेरा अभ्यास छूट गया था। अन्यथा पाया ठीक करना जैसा सरल काम भी क्या मुझसे न होता! विशेषतः वह तीसरा पाया ठीक करना तो बहुत ही आसान था।

पर एक बार काम बिगड़ने लगे, तो फिर बिगड़ता ही चला जाता है। सरवानी का प्रहार लक्ष्य पर न पड़कर ग़लत जगह पड़ा और तीसरा पाया भी फट कर बेकार हो गया। सरवानी एक ओर फेंक मैं उठ खड़ा हुआ। जल्दी-जल्दी कुर्सी को समेटा और उसे एक कोने में ठीक से रख दिया। अच्छी किस्मत थी कि

इस बीच इन्दु रसोईघर में थी। फिर भी मुझे पसीना आए बिना न रहा। उसका कारण कुर्सी ठीक करने का श्रम नहीं था, अपितु यह भय था कि अब इन्दु क्या कहेगी। उसे पता लगने से पूर्व ही कुछ न कुछ करना जरूरी था। तभी जाली की अल्मारी बनाने के लिए खरीदे लकड़ी के टुकड़ों का ध्यान आया। सोचा इससे पूर्व कि इन्दु को टूटी कुर्सी का पता चले, उन टुकड़ों से ही नयी कुर्सी बना डाली जाय, जल्दी-जल्दी मैंने टुकड़े निकाले और कुर्सी के नाप के बराबर काट डाले, फिर रंदा लेकर उन्हें चिकना करने लगा। रंदा करते-करते पसीने से तरबतर हो गया। तभी इन्दु आ पहुंची। उसने मेरे उस पागलपन को देखा और कमर पर हाथ रखते हुए पूछा, "यह आज क्या कर रहे हो?"

"आरामकुर्सी बना रहा हूँ।"

"क्या मतलब! यह है तो सही?"

"वह अच्छी नहीं है।"

"पर तुम उसके पाये ठीक करनेवाले थे न?"

"वह कुर्सी ठीक नहीं हैं।"

"क्यों, उसमें क्या खराबी है। मैं उसे बढ़ई को दिखाउंगी।"

"अब क्या करोगी बढ़ई को दिखा कर, मैं नई जो तैयार किए देता हूँ।"

जानती हूँ जैसी कुर्सी बनाओगे। मेरी कुर्सी ही अब ठीक हो जायगी और यदि ठीक न भी होगी, तो भी मैं उस पर बैठना जानती हूँ।"

आगे बढ़कर जब इन्दु ने कुर्सी सरकाई तो मेरा दिल धड़कने लगा। गर्दन झुका कर, रंदा चलाते हुए प्रतीक्षा करने लगा कि अब विस्फोट कब होता है।

आशा के अनुकूल दो मिनट में ही ज्वालामुखी फट पड़ा। एक बड़ी-सी सिसकी भरते हुए इन्दु बोली, "कर दिया न मेरी कुर्सी का सत्यानाश?"

पैर पटकती हुई ज्योंही वह तड़ककर अन्दर गई, मैं भी हाथ का काम पटक कर उसके पीछे-पीछे गया। अनेक बार उसे समझझाने की चेष्टा की कि वह रोना-धोना बन्द कर दे और मेरी बात सुने। पर बहुत देर तक तो वह मुझसे बोलने तक को तैयार नहीं हुई।

बहुत देर तक प्रयत्न करने के बाद कहीं जाकर उसका रोना कुछ कम हुआ। फिर मेरी बातें सुनकर भी वह अनसुनी करती रही। अनेक वायदे किए। अनेक वचन दिए और नई आरामकुर्सी लाने का बचन तो बार-बार दुहराया। पर उसका समाधान ही नहीं हो रहा था। अंत में वह बोली "अच्छा, कसम खाओ कि आज के बाद घर की चीज़ों की मरम्मत नहीं करोगे।"

यह कसम खाना मेरे लिए बड़ा क्लेशदायक था, फिर भी मैंने कहा, "मुझे स्वीकार है।"

"कसम खाओ कि घर की कोई चीज़ तैयार नहीं करोगे।"

"स्वीकार है।"

"और सारे औज़ार बेच दोगे।"

"यह भी स्वीकार है।"

अब जाकर वह मुस्कराई। भारी हृदय से मैं अपने औज़ार उठाने लगा। लकड़ी के टुकड़े उठाकर कोने में रख दिये, सोचा अब वे हमाम में जलेंगे। औज़ार एक थैले में भरने लगा। बिल्ली के अनावश्यक और अप्रिय बच्चों की तरह अब मुझे उनकी नीलामी करनी थी।

औज़ार थैले में पटक दिए और उनका मुंह बंद करने लगा। तभी भीतर से ज़ोर-ज़ोर की उल्टी करने की आवाज आई। उसके साथ ही एक बर्तन भी गिरा। थैला ज्यों का त्यों छोड़कर मैं भीतर दौड़ा गया। इन्दु मोरी के किनारे अपना सिर दोनों हाथों में कसकर पकड़े बैठी थी।

उसके कंधों को पकडकर उसे सहारा देते हुए मैंने व्याकुल स्वर में पूछा, "क्यों प्रिये! क्या हो गया?"

कंधों पर से मेरे हाथ हटाकर उसने पुनः उल्टी की। मैं पागल की तरह एक ओर खड़ा था। मुझे उस प्रकार खड़ा देख वह रोषभरे स्वर में बोली, "अरे, तुम बाहरे जाओ न!"

एकदम बात मेरी समझ में आ गई। कूदता-फांदता मैं बाहर की कोठरी में आ गया। औज़ारों का बंधा थैला पुनः एक बार ज़मीन पर खोल डाला। कोने में रखे लकड़ी के टुकड़े अपनी ओर खींच लिए और नक्शा बनाता हुआ बोला

"इंदु, अब आरामकुर्सी का इरादा समाप्त।"

"क्यों, अभी तो उसका निर्णय किया था।"

"नहीं, यह नवीन प्लान जो बनाना है।"

"क्या फिर पागलपन सवार हो गया?"

"अरे तुम इधर तो आओ।"

मेरी पीठ के पीछे से इंदु ने मेरी बनाई हुई नयी चीज़ की प्लान पर नज़र डाली। अगले ही क्षण मेरे हाथ से काग़ज छीनकर उसके टुकड़-टुकड़े करते हुए वह अन्दर भाग गई और मैं पालने के लिए लकड़ी के टुकड़ों का नाप लेने लगा।

लारा-लप्पा

श्रीमती कमला फड़के

महाराष्ट्र के बेलगांव में सन् १६१६ में उत्पन्न सौभाग्यवती कमला फड़के अपने पति सुप्रसिद्ध साहित्यकार पद्मभूषण ना० सी० फडके के समान ही प्रतिभा-सम्पन्न कहानीकार एवं उपन्यासकार हैं। छात्र-जीवन से ही वे साहित्य-सृजन में प्रवृत्त हो गई थीं। बम्बई विश्व-विद्यालय में पढ़ते समय ही सन् १६३६ में आपकी प्रथम लघु-कथा 'किर्लोस्कर' नामक सुविख्यात मासिक में छप गई थी। तब से अब तक निरन्तर साहित्य-रचना में संलग्न श्रीमती फडके ने न केवल अनेक पारितोषिक प्राप्त किए हैं, अपितु कुल मिलाकर ५ उपन्यास, १० लघु-कथा संग्रह, १ निबन्ध-संग्रह तथा १ प्रवास-वर्णन की पुस्तक लिखी है, जो मराठी वाङ्मय के कीर्ति-स्तम्भ हैं। आपकी कृतियों का अनुवाद अनेक भारतीय भाषाओं में हो चुका है, जो उनकी साहित्यिक प्रतिभा एवं मनोहारी रचना-शैली का सहज प्रमाण है।

महेश ने धम से पटककर बरामदे की दीवार से सटाकर अपनी साइकिल खड़ी कर दी। बाहर से आते ही, पहले रसोई घर में जाकर 'सुनाइये रानी साहिबा, क्या खबर है?' इन शब्दों में विमला की पूछताछ करना, कुछ हंसी-मजाक करना यह उसका नित्य का क्रम था, लेकिन आज स्टेशन पर जाने-आने का, दो मील का दोहरा चक्कर पड़ने के कारण उसके पांव बिल्कुल टूटने ही को थे। जब तक गाड़ी छूटी नहीं थी, मुंह पर बनावटी मुस्कराहट कायम रखते हुए और होठों द्वारा मृदु-मधुर शब्दों की भरमार करते हुए, मेहमानों से गप्पें लड़ाते हुए, लगातार देर तक खड़े रहने के कारण वह रुआंसा हो गया था। घर आते ही झल्लाकर साइकिल एक ओर फेंककर वह बरामदे में रखी आरामकुर्सी पर धम से बैठ गया। तभी चुर्र-चुर्र की अजीब-सी आवाज उसे सुनाई दी। जरूर उसके नीचे कुछ पिस गया था। हड़बड़ा कर वह कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। घर में दो-चार रोज पहले बिल्ली के बच्चे हुए थे। इस आशंका से कि कहीं बिल्ली के एक-आध बच्चे को तो उसने अपने नीचे कुचल नहीं डाला, महेश कांप गया। रात

के लगभग साढ़े आठ बजने को थे। उसने खट् से बिजली का बटन दबाया और उस कुर्सी की ओर देखा तो लाल-पीले रंग की रबड़ी-सी दिखाई दी। झट से उसने अपनी पेंट के पीछे की ओर छू कर देखा। न जाने किस गन्दी चीज से पेंट का तमाम पिछला हिस्सा सन गया था। मेहमानों को स्टेशन पहुंचाना था इसीलिये धोबी के यहां से धुलकर आई यह पेंट पहनने के लिये विमला ने उसे विवश किया था। इतनी अच्छी पेंट की मिट्टी पलीद होते देख वह विमला पर झल्ला उठा। वह चीख कर पूछने ही वाला था, 'रूमाल में बांधकर अण्डे और टमाटर कौन गधा इस कुर्सी पर रख गया था?' तभी रसोई घर से किसी व्यक्ति की सात-मंजिली हंसी उसे सुनाई दी। महेश को मानो काठ मार गया। उसने दिल में कहा—"बापरे बाप। अब तो मर गये।" हताश होकर, वह दुबारा कुर्सी पर अण्डे-टमाटरों के बने भुर्ते पर बैठ गया। उसने सोचा—"सुना है कि टिड्डी दल पर दवाई नहीं थी, लेकिन उसका भी किसी भले आदमी ने आविष्कार कर लिया है लेकिन इन मेहमानों के टिड्डी दल पर किसी दवाई का न होना कितने दुर्भाग्य की बात है। दस ही मिनट पहले मेहमानों के एक टिड्डी दल को लौटा कर वह घर लौट रहा था। जाने वाले मेहमानों ने तमाम घर की बरबादी कर दी थी। उसे कुछ भी ठीक-ठाक नहीं कर पाया था कि तभी नये टिड्डी दल के आक्रमण का वह शिकार हुआ।

"ऐं। अच्छे आदमी हैं। आप तो आकर यहां बैठ गये। मैंने कहा, लाला जी आये हैं···अपने लाला लतखोरी लाल···भीतर नहीं चलोगे?"

कुछ प्रखर स्वर में पूछे विमला के इस प्रश्न से महेश की मूर्छा खट् से दूर हो गई। बरामदे में बत्ती जलाने की आहट पाकर बिमला बाहर आई थी और महेश को कुर्सी पर बैठा देख वह कुछ नाराज-सा हो गई थी। वह चाहती थी कि इस समाचार को सुनते ही झट भीतर जाकर और यह कह कर, "वाह। वाह। लतखोरी भैया, अरे कब आये? बहुत अच्छा हुआ जो तुम आ गये···हम तुम्हें रोज याद करते थे···"महेश उसके लालाजी का स्वागत करे। ऐसा करने के बदले उसे मनहूस जैसा, बाहर कुर्सी पर बैठा देख विमला को क्रोध हो आया था। वह दिल में कुड़कुड़ा उठी, "इन्हें कितना भी पढ़ाओ, पर अपनी आदत से बाज नहीं आते। घर पर कोई मेहमान आया नहीं कि इनके माथे मर बल पड़ जाते हैं। न जाने कैसी गन्दी आदत है।" तुरन्त रसोई घर की ओर संकेत करते हुए उसने महेश को हमेशा का इशारा किया। मेहमानों की खातिरदारी करते हुए विमला हमेशा महेश से इशारों के जरिये काम लेती थी। सदैव काम आने वाले कुछ इशारे उसने निश्चित कर रखे थे और उन्हीं के द्वारा महेश उसकी बातों पर अमल करता था। सरकस के जंगली खुंख्वार जानवर जिस तरह नाखुशी से ही क्यों न हो, रिंग-मास्टर के इशारे पर काम करते हैं, उसी तरह इशारा पाते ही महेश को विमला

द्वारा रटाये वाक्यों का उच्चारण और उसके अनुसार अभिनय करना पड़ता और वह भी बिना चूं-चपड़ किये। सरकस में काम करने वाले बाघ-शेरों के समान विमला पर गुर्राने की उसमें हिम्मत नहीं थी···क्योंकि उस बेचारे के पेट की जिम्मेदारी विमला ही के हाथों में थी। इसके सिवाय इस बात का उसने कई बार अनुभव किया था कि विमला के मुंह का तोपखाना पिस्तौल से चलने वाली गोलियों से कहीं अधिक खतरनाक होता है। इस बात को अच्छी तरह जानते हुए भी भूल से किसी दिन विमला के इशारे की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता···लेकिन यह दुर्घटना हमेशा नहीं—महेश के मनःस्ताप के कारण किसी दिन एकाध बार ही होती। कुछ ही समय पूर्व उसके कमरे का···सिर्फ कमरे का नहीं···गृहस्थी और घर के इकलौते कमाऊ पुरुष की हैसियत से मिलने वाली सभी विशेष सुख-सुविधाओं पर भी कब्जा कर उनके घर में लगातार पन्द्रह दिन तक डेरा डालने वाले मेहमान और उनके सभी बाल-बच्चों से बिदा लेते हुए उसे इतनी खुशी हुई थी कि लाख छिपाने पर भी वह उसके मुखपर साफ-साफ टपक रही थी। दरवाजे पर खड़े मेहमानों से उसने बार-बार कहा था—"अरे भाई, जरा जल्दी करो, वरना गाड़ी छूट जाएगी।" आंखें तरेकर विमला उसकी ओर देख रही थी लेकिन उस ओर उसका ध्यान नहीं था और अन्त में मौका पाकर विमला ने जब उसकी पसली में जोरों से एक चुटकी काटी थी, तब कहीं वह होश में आया था। रिंगमास्टर के कोड़े की फटकार खाकर झट धधकती आग में कूद पड़ने वाले सरकस के किसी जानवर के समान उसने कहा था—"आप लोग बहुत ही जल्दी जा रहे हैं···हम लोगों की तबियत भरी ही नहीं, खैर, अब दिवाली की छुट्टियों में आप सभी लोग जरूर आइये और वह भी दो चार रोज को नहीं···अब की कम से कम महीना-दो महीना आपको रहना पड़ेगा।"

"इस वक्त भी जब विमला ने उसी तरह गर्दन को झटका देकर उसको इशारा किया, तब वह झट से कुर्सी से उठ खड़ा हुआ—और जैसे ही महेश उठा, चुर्र मुर्र की आवाज सुनकर विमला का ध्यान कुर्सी की ओर गया। कुर्सी के निकट जाकर, झुककर उसने देखा और महेश की ओर वह इस तरह आग्नेय नेत्रों से देखने लगी कि जैसे कोई गांधी-भक्त गोडसे की ओर देख रहा हो। अण्डे, टमाटरों की दुर्दशा देख माथा ठोंक कर विमला ने कहा—"यह क्या कर दिया ! बगल वाले मधु को बुलाकर लालाजी के लिए मैंने बाजार से अंडे और टमाटर मंगवाए थे। उसका रस उन्हें कितना पसन्द आता है ! इन चीजों को यहां रखकर पलभर को मैं भीतर गई थी कि आप उस पर धम्म से बैठ गए। अब तो हुआ न आपका कलेजा ठन्डा !"

"एं !" महेश ने इस ढंग से यह प्रश्न किया मानो वह यह कहना चाहता हो—"अरे भाई, मुझ गरीब पर यह तोहमत लगाकर तुम भी कैसा गजब कर

रही हो ! मेहमानों की खातिर जिसने अपनी सारी चीजों पर, तमाम सुख-सुविधाओं पर तुलसीदल रख दिया, उसी मुझपर, तुम दुष्टता का अभियोग लगा रही हो ! क्या इस इरादे से कि तुम्हारे लाला जी के पेट में अण्डे-टमाटर का रस न जाय मैं उस पर बैठ गया ?" लेकिन विमला उसे इतने सस्ते में छोड़ने वाली नहीं थी। इससे पहले कि महेश के मुंह से दूसरा शब्द निकले, उसने कहा—"इस तरह झूठ-मूठ ही चौंककर मुझे बनाने की कोशिश न कीजिये। मैं आपकी नस-नस से वाकिफ हूं।"

तभी रसोई घर से लाला लतखोरी चीख पड़े—"अरे भई भाभी, सुनो तो। आप वहां क्या कर रहीं हैं ? यहां चूल्हे पर जलकर हलुवे का कोयला बन गया।"

"हाय राम।" कहकर विमला रसोई घर की ओर दौड़ी। लेकिन भीतर जाने से पहले महेश को इशारा देना वह भूली नहीं थी।

"अच्छा जी। तो भीतर हलुवा बन रहा है, मेहमान के लिए ?" झल्लाकर कपड़े बदलने के लिये महेश ऊपर वाले कमरे में गया। लेकिन वह कमरा उसका कब रहा था ? अभी-अभी कुछ ही समय पहले अपने बाल-बच्चों के साथ महेश और विमला से विदा लेनेवाले मेहमानों ने आते ही उसकी और विमला की चारपाइयों पर कब्जा कर लिया था। कुछ ही समय पहले जानेवाले मेहमानों ने कमरे के मूल स्वरूप में इतना परिवर्तन कर डाला था कि स्वयं महेश अनुभव करने लगा था कि वही उस कमरे में मेहमान बन कर आया हो। टेबुल पर से अपने छोटे चीनी के फूलदान गायब हो जाने की बात जब उसकी समझ में आई, तब झल्ला पड़ा—"मैंने लाख बार विमला से कहा है कि मेहमान हमारे घर को [illegible] न कहें तो कोई हर्ज नहीं—लेकिन तुम ऐसी कीमती चीजों की प्रदर्शनी [illegible] यहां-वहां मत रखा करो। लेकिन इस भली औरत को मेहमानों को [illegible] खाना खिलाने का और आठों पहर उनके ऐश-आराम का इतना शौक [illegible] यह अपना शौक पूरा करने में व्यस्त रहती है और इधर [illegible] कमाई नष्ट होती है।" उसने कमरे में यहां-वहां नजर दौड़ा [illegible], [illegible]कू, अंगूर के छिल्कों से और मिठाई-नमकीन आदि में बंधे [illegible] कमरा कूड़ा-खाने जैसा दिखाई दे रहा था। खाने की उन [illegible] ओर देखकर महेश ने दिल में कहा, ये लोग मेहमान थे [illegible] उन्हें तमाम दिन हलुवा, पूड़ी, मिठाई आदि चीजें ठूंस-ठूंस [illegible] भी यह लोग बाजार से चोरी-चोरी मिठाई लाकर खाते [illegible] को जाए कुछ भी घंटे नहीं बीते थे कि दूसरे मेहमानों [illegible] दिया। [illegible]लेग, टाईफाइड जैसी संक्रामक बीमारियां कहीं [illegible], [illegible] मेहमानों की इस छूत की बीमारी पर विजय पाना बड़ा ही मुश्किल [illegible] किसी के पैरों की आहट पाकर महेश अपने इन कड़वे विचारों

से चौंक पड़ा। 'कहीं' लाला तो नहीं आ धमका जीने में ! हटाओ जी ! वह काहे को आने लगा यहां ? वह तो मजे में फुसकड़ा मारकर, रसोई घर में हलुवा-पूड़ी पर हाथ मारने बैठा होगा। तब कहीं विमला तो नहीं ! —बापरे बाप ! दुबारा उसके मुँह की गोलाबारी का शिकार बनने की अपेक्षा एक बार नीचे जाकर लतखोरी से दो चिकनी-चुपड़ी बातें कर आना कहीं अच्छा है।" इस विचार से महेश ने झट से कपड़े बदले और तेजी से सीढ़ियां उतरकर वह नीचेवाले कमरे में आ पहुंचा।

"आइये महेश भैया", पीठ के पीछे रखे पीढ़े से सटकर बैठते हुए डकार लेकर लाला ने कहा—"मैंने सोचा शायद तुम्हें नीचे आने के लिए फुर्सत नहीं हो, तो मैं ही क्यों न ऊपर चला जाऊं। नाश्ते से निबटकर मैं तुम्हारे कमरे में आ ही रहा था। देखो न, भाभी ने इतनी ढेर सारी चीजें परस रखी हैं। इन्हें छोड़कर उठ भी तो नहीं सकता।"

"इतनी जल्दी क्या है ? आराम से खा लो, भाई", व्यंग से महेश ने कहा—"आराम से खा लो, यानी विमला के पीछे दुबारा रात का खाना बनाने का झंझट ही न रहे।"

"इसमें झंझट की कौन-सी बात है ? क्या मेहमान के लिए खाना बनाने में मुझे कष्ट होगा ?" विमला ने महेश की ओर घूर कर देखा।

"और हां। महेश बाबू, मेरे लाख मना करने पर भी क्या होगा ? भाभी मानेंगी तब न ! देखो न, चूल्हे पर चावल चढ़ा दिए हैं और कहती हैं—अण्डों का लजीज रसा भी बनाने वाली हूं।"

"भूल जाओ बच्चू, अब अण्डों का रसा" इस विचार से महेश को गुदगुदी-सी हुई। तभी लाला ने कहा—"जिस आदमी ने हमारी भाभी का मेहमान बनने का सौभाग्य न पाया, उसका पैदा होना ही व्यर्थ है।"

"तुमने तो मेरे मुंह की बात छीन ली लतखोरी", महेश ने कहा—"मैं भी तो यही कहता हूं। इसका पति होने की अपेक्षा यदि मैं इसका मेहमान बनता तो इसी तरह हलुवा, पूड़ी, मिठाई, नमकीन और अण्डों का रसा, चावल, इन तमाम चीजों पर रोज खूब हाथ मारता और वह भी मुफ्त में।"

"आपको किसने मना किया है ?" चूल्हे पर चढ़ी कढ़ाई में राई का छौंक डालते हुए विमला ने कहा। घी में राई कड़कड़ाने लगी। तब वह अपने आप बुद-बुदा उठी—"खुद तो खा नहीं सकते और दूसरों को भी खाता नहीं देख सकते।"

"अच्छा लाला, यह तो बताओ कितने दिन की छुट्टी पर आए हो ? सुना है कि जब से तुम्हारा स्टेट विलय हुआ है, स्टेट-कालिज के लोग बहुत ही ईमानदारी से काम करने लगे हैं। पहले प्रोफेसर लोग महीनों कालिज में मुंह नहीं दिखाते थे, लेकिन अब अधिकारियों के कड़ाई का रुख अपनाने के कारण,

मेरे ख्याल से एक-दो दिन की छुट्टी भी बड़ी मुश्किल से मिलती होगी, क्यों न ?" लाला के ठहरने का अन्दाज लगाने के ख्याल से महेश ने पूछा।

"हां भाई", हलुवे की तश्तरी को चाट पोंछकर साफ करते हुए लाला ने कहा—"सचमुच बड़ी मुश्किल से दो दिन की छुट्टी मिली है···"

"ओह दो दिन। कैसा जुल्म है।" महेश ने नक्राश्रु बहाते हुए कहा। मेहमान की बला दो दिन में ही टल जाने वाली है, यह देख महेश प्रसन्न हो गया···अब मुफ्त का अनुरोध करने में हर्ज ही क्या है ? मुफ्त में भलमानसाहत मिलती है, उसे क्यों छोड़ा जाये, इस विचार से उसने कहा—"मेरा ख्याल था कि तुम कम से कम महीना-पन्द्रह दिन रहोगे···तब हम सिनेमा चलेंगे···नाटक देखेंगे, सैर पर जायेंगे लेकिन तुम्हें तो कल ही जाना है···"

"सिनेमा, नाटक, सैर-सपाटा सभी कुछ होगा···डरो नहीं···" लाला ने कहा।

"ऐं।" महेश का चेहरा फक पड़ गया।

"मेरा कहना तुम गलत समझे। मैंने कहा कि छुट्टी दो दिन की मिली। दो दिन की छुट्टी मुझे सफर के लिए मिली थी। कल मुझे कालेज ज्वाइन कर अपना काम संभालना है, सुना तुमने ? यहीं के कालिज में मेरा तबादला हुआ है। तुमने सुना ही होगा कि यहां के प्रोफेसर रामकुमार की हार्टफेल होने के कारण मृत्यु हो चुकी है। उन्हीं के स्थान पर मेरी नियुक्ति की गई है। सोचा, जब तक रहने के लिये कोई अच्छा-सा मकान नहीं मिलता, तब तक तुम्हारे ही यहाँ क्यों न टिक जाऊं।" लाला ने कहा।

महेश का मुंह खुला का खुला रह गया। उसके चेहरे पर मुर्दनी छा गई।

"क्या भाई ! तुम्हारा चेहरा इस तरह फक क्यों पड़ गया ? शायद प्रोफेसर रामकुमार तुम्हारे परिचित थे ?" लाला ने पूछा।

"हां, बिल्कुल ठीक कहते हो। जब वे जीवित थे गणित में कम मार्क देकर [illegible] और अब मरने के बाद भी वह भला आदमी बदला चुकाकर [illegible]"

"[illegible] वह कैसे ?"

[illegible] प्रश्न का महेश ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने सोचा प्रोफेसर रामकुमार को अभी से मरने की क्या पड़ी थी ? जनाब खुद तो मर गये और यह [illegible]। इससे तो अच्छा होता कि लाला का स्थान रिक्त [illegible] रामकुमार का तबादला हो जाता और·· लेकिन लाला की उस [illegible] देखकर सहसा उसने सोचा कि इसके स्थान पर किसी [illegible] कम पांच-दस साल तक होने की सम्भावना नहीं [illegible] किया जाये ? बिना बुलाये घर में घुस पड़ी इस बला को

किस तरह खदेड़ भगाया जाय, इस एक ही बात की चिन्ता से महेश व्यग्र हो उठा। प्रोफेसर रामकुमार की तेरही की वजह बताकर उस रात उसने खाना नहीं खाया। सिर दर्द का बहाना बनाकर वह रात में बड़ी देर तक आंगन में कुर्सी डालकर उस पर लेटा रहा। वह जब भीतर गया तभी विमला रसोईघर के कामों से निबटी थी। कितनी थक गई थी बेचारी! उसे अपने निकट खींचकर महेश ने कहा—"तुम्हें कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। तुम अपनी हड्डियां पीस-पीस कर दिन-रात कष्ट करती हो···और यह साले मेहमान लोग डटकर हलुवा, पूड़ी पर हाथ मारकर निरन्तर मटर-गश्ती करते हैं···इस बात का मुझे बहुत दुख है··· ···यह मुझसे देखा नहीं जाता···"

"ऐसी बात नहीं किया करते," विमला ने कहा—"घर में आने वाले मेहमान की खातिरदारी करना यह तो हमारा फर्ज है···हमें यह भूलना न चाहिये कि हम गृहस्थाश्रमी लोग हैं।"

"गृहस्थआश्रम' तुच्छता भरे स्वर से महेश ने कहा— "गृहस्थआश्रम नहीं इसे 'माधवाश्रम' कहो बम्बई का। वहां हरेक चीज़ के लिये रुपये देने पड़ते हैं और यहां सब कुछ बिल्कुल मुफत में मिलता है। आजतक अपने यहां आनेवाले मेहमानों से लाजिंग, बोर्डिंग और दिल-बहलाव के साधनों का यदि बिल बसूल कर पाता, तो उतने रुपयों में हमने बम्बई में एक बड़ी भारी बिल्डिंग खड़ी कर ली होती।" यह कहते हुए महेश जीने की ओर जाने लगा। उसे ज़ीने ही में रोककर विमलाने कहा—"वहां न जाइए, आज यहीं, बीच वाले कमरे में दरी बिछाकर हम लोग सोएंगे···"

"क्या कहा?"

"मैंने कहा, ऊपर वाले कमरे में लाला जी सोये हैं···आपके कमरे में··· कहते थे कि गर्मी के मारे उनकी तबियत घबड़ाती है···बिना हवा के उन्हें नींद ही नहीं आती···भला इससे अच्छा दूसरा कोई कमरा है भी कहां हमारे पास···"

"तो यह कहो न कि अब से हमेशा बीचवाला कमरा ही हमारे नसीब में है।" कह कर महेश ने एक भद्दी-सी गाली दे डाली।

"आप तो बस इतनी-सी बात पर गाली-गुफतार करने लगते हैं।" बिस्तर पर लेट कर जंभाई लेते हुए विमला ने कहा, "अच्छा-सा मकान मिलने पर लाला जी यहां नहीं रहेंगे।"

"मकान मिलने पर···तब यह कहो न कि लाला यहां से अब कभी टलेगा ही नहीं।" झल्लाकर महेश भी बिस्तर पर लेट गया। लेकिन उसे किसी तरह भी नींद नहीं आ रही थी। इस मेहमान का यह भूत कब तक छाती पर सबार रहेगा, इस विचार के कारण उसकी आंखों की नींद ही उचट गई थी।

इसके बाद के कुछ दिनों में महेश के सभी अन्दाज बिल्कुल सही निकले।

"अच्छा-सा मकान मिलता ही नहीं, इस बहाने मेहमान साहब ने मकान तलाश करने की तमाम कोशिश ही अब बन्द कर दी थीं। स्त्री और बच्चों को लाने की उनकी भाषा भी अब बन्द हो गई थीं और अपना यह विचार उन्होंने अपनी स्त्री को साफ-साफ लिख दिया था। उनके लिये रुपये भी यहीं से जाने लगे थे और उनके स्त्री-बच्चों की ओर से भी बार-बार चिट्ठियां आने लगी थीं जिनमें अक्सर लिखा रहता है कि हमारी कोई चिन्ता न कीजिए···अपनी सेहत का ख्याल रखिये, खूब डटकर अच्छी चीज़ें खा-पीकर मौज कीजिये ताकि आपका स्वास्थ्य ठीक रहे, शाम-सबेरे दूध पीते रहिये···।"

अब घर में लाला जी का रौब बेहद बढ़ गया था। कालेज में सिर्फ दो घण्टे बड़बड़ा कर दस घण्टे लाला जी घर पर ही बिताते। आरामकुर्सी पर लेटे-लेटे विमला के बड़ी मेहनत से बनाये लड्डू, गुझियां, सेव आदि चीज़ों पर वे हाथ मारते। महेश भीतर ही भीतर भभक उठता लेकिन वह जानता था कि लाख सिर पटकने पर भी उसका विस्फोट नहीं हो सकता। साथ ही साथ वह यह बात भी भांप गया था कि यदि इस मेहमान को यहां से भगाना हो तो अपनी बुद्धि का सम्पूर्ण कौशल उसे उस काम में लगाना होगा। रात-दिन इसी विचार से महेश परेशान था। कई बार उसके दिल में आता कि काश! उसमें कुछ अमानुषिकता होती। ऐसा होने पर इस लाला के बच्चे की बोटी-बोटी काटकर बोरे में भर कर उसे वह नदी की धारा में प्रवाहित कर देता···या काश! वह शरारती होता, क्योंकि ऐसा होने पर अपनी एक से एक बढ़कर शरारतों द्वारा वह लाला का जीवन दूभर कर छोड़ता। लेकिन सरकस के पिंजड़े में बन्द होने पर क्रूरता आदि सभी गुणों का लोप होकर शेर जिस तरह सरकस का गुलाम बन जाता है, उसी तरह समाज के रूढ़ि एवं शिष्टाचार के पिंजरे में बन्द होकर महेश एक सभ्य, सज्जन स्वार्थ-त्यागी···अर्थात् अनत्याचारी गुलाम बन बैठा था। अपने घर से मेहमान को निकाल भगाने में वह सर्वथा असमर्थ था। अब क्या किया जाये? वह नहीं चाहता था कि कोई यह कहे कि मेहमान को घर से भगाने के काम में उसका हाथ था। वह स्वयं पीछे रहकर दूसरे के कन्धे पर से बन्दूक चलाना चाहता था। कांटे से ही कांटा निकाला जाता है, उसी तरह किसी मेहमान के द्वारा ही इस मेहमान को मात दी जाये तो? किले की अभेद्य चहारदीवारी में किसी कमजोर स्थान परी पता लगा लेने के बाद ही होशियार गोलन्दाज उस स्थान पर तोप दाग देता है। प्रायः लोग सतर्क इस विद्या में निपुण होते हैं। लगातार दो महीने की खोज के बाद लाला जी के स्वभाव की कमजोरी का महेश को पता चल गया और एक दिन, जैसे ही 'बरसात' सिनेमा देखकर वह घर लौटा, हमले का स्थान उसने निश्चित कर लिया। कई दिनों से वह देखता था कि लाला को संगीत से नफरत है और 'बरसात' फिल्म देखते हुए उसकी यह आशंका बिल्कुल सही साबित हुई।

महेश इस बात का भी अनुभव कर चुका था कि 'फ्रेंकस्टाईन' या 'हंचबैक आफ नोटरड्म' जैसे पिक्चर बड़े ही भाव से देखनेवाले लाला हिन्दी के संगीत-प्रधान चित्र देखते हुए अत्याधिक अस्वस्थ हो उठते हैं। 'बरसात' देखकर घर लौटते ही माथे के गिर्द कसकर रुमाल बांधे लगातार दो दिन लाला बिस्तर पर छटपटाते रहे और तीसरे दिन कुछ स्वस्थ होने पर ही वे घर में चलने-फिरने लायक हुए। महेश दफ्तर जाने की तैयारी कर रहा था। बूट में पालिश लगाते हुए वह यूं ही गुनगुनाने लगा···

जिया बेकरार···लेकिन इसके पहले कि महेश के मुंह से···है···निकले, लाला सहसा चीख पड़े—"खामोश।" लेकिन बाद में कुछ झेंपकर उन्होंने कहा—"सॉरी, महेश बाबू। आप बुरा तो नहीं मान गए? लेकिन भई, क्या करूं। किसी को गाना गाते सुना कि मेरा दिमाग ही जैसे ठिकाने नहीं रहता। संगीत से यह विषम प्यार मुझे बचपन से ही हो गया है। किसी को गाना गाते···नहीं गुनगुनाते भी सुना कि दर्द के मारे मेरा सिर तो जैसे फटने लगता है।"

"क्या लता मंगेशकर का गाना सुनते हुए भी!" कुछ हैरानी के स्वर में महेश ने पूछा।

"अरे भई, लता मंगेशकर ही क्या, बचपन में जब स्वयं मेरी मां भी लोरी गाने लगती थी मैं जोरों से चीख पड़ता था···और अब बड़ी उम्र में इस संगीत ही ने मेरी जिन्दगी की तबाही कर डाली है।"

"ऐं? वह कैसे?"

"मेरी श्रीमतीजी को संगीत से बहुत प्यार है, वास्तव में गानेवाले पंछी जैसी ही संगीत में निपुण स्त्री की तारीफ की जाती है। लेकिन उसके इसी एक गुण ने मेरी जिन्दगी दूभर कर डाली है। जैसे ही संगीत की कोई तान उसने छेड़ी कि मुझे लगता है मानो किसी ने मेरे सीने में तलवार ही भोंक दी है। देखो न, तुम्हारे यहां मैं कैसे मजे में रहता हूं। तुम्हारे यहां तो मच्छर तक नहीं गुनगुनाते।"

महेश दफ्तर में गया तो सही, लेकिन किसी तरह काम में उसका दिल ही नहीं लगता था। उसके दिमाग में तो रह-रह कर लाला के साथ होनेवाला वार्तालाप मंडरा रहा था। दोपहर तक उसने अपने दिल में किसी बात का निश्चय कर लिया था। काम की फाइलें अधूरी ही छोड़ कर एक पत्र लिखने में उसने पूरा एक घंटा बिता दिया। किसी के नाम प्रेम-पत्र लिखते हुए, उसमें लिखी बातों का भविष्य में क्या परिणाम होगा, इस विचार में सुख-स्वप्नों की सृष्टि करने वाले प्रेमी के समान इस पत्र पर सोचने में वह लीन था। इस पत्र के द्वारा वह जो सुरंग लगाना चाहता था, उसकी बत्ती किस तरह सुलगती जायेगी और अन्त में बारूद तक पहुंचने पर उसका किस तरह विस्फोट हो उठेगा, इसी एक मधुर कल्पना में महेश बड़ी देर तक लीन रहा। अन्त में आफिस के कागज़ लेने के लिए

चपरासी उसके सामने आ खड़ा हुआ, तब उस पत्र को एक लिफाफे में डालकर उसने उस पर एड्रेस लिख दिया—

बाबू अनोखे लाल,
हल्के-फुल्के गानों के उस्ताद
२४३०, कचौड़ी मौहल्ला,
जबलपुर—१०

और वह पत्र पोस्ट करने के लिए चपरासी को दे दिया।

"लारा-लप्पा लारा-लप्पा लाई रखदा···लारा-लप्पा लारा-लप्पा···।"

"यह कौन महाशय हैं लारा-लप्पा ? भाभी यह लारा-लप्पा कौन हैं ?" कालेज से घर में कदम भी नहीं रखा था कि लारा-लप्पा की आवाज सुनाई देने के कारण लाला ने कुछ नाराजी के स्वर में और कुछ हैरानी से विमला से पूछा।

"यह लारा-लप्पा हमारे इनके एक दोस्त हैं। सवेरे पौने बारह की गाड़ी से आये हैं जबलपुर से। इधर किसी सिनेमा कम्पनी में वे प्लेबैक देना चाहते हैं।"

"एद-दो रोज में यह जनाब चले जाएंगे न ?" लाला ने पूछा।

"राम जाने ? आखिर सिनेमा कम्पनी का काम है। कहते हैं ट्रायल, रीटेक रिकार्डिंग ऐसे लाख झंझट होते हैं।"

"ओह !" कहकर लाला ने ठण्डी सांस भरी और सामने रखा चाय का कप अपनी ओर खींच लिया। हलुवे का एक कौर उन्होंने मुंह में डाला लेकिन हमेशा के अनुसार—"वाह भाभी ! चाय क्या बढ़िया बनी है, हलुवे के तो क्या कहने !" ऐसे उद्गार उनके मुंह से नहीं निकले, उनके माथे पर बल पड़े थे और चेहरे से परेशानी टपक रही थी। जबलपुर के धुंओं के समान ऊपर से नीचे तक आ पहुंचने वाली लारा-लप्पा की स्वर-धाराओं ने उनका दिमाग खराब कर दिया था। इसके अलावा एक भयानक आशंका के कारण भी वे भयभीत हो उठे। चाय का कप नीचे रखते हुए उन्होंने विमला से पूछा—

"भाभी, मेहमान कहीं मेरे कमरे में तो नहीं टिके हैं ?"

"हां वहीं, अकेले थोड़े ही हैं···?"

"क्या उनके साथ उनके स्त्री-बच्चे सभी कोई आये हैं ?"

"स्त्री-बच्चे तो नहीं हैं, लेकिन हार्मोनियम, तम्बूरा और इसके साथ तबले का एक बाजा भी लाये हैं। यह सब साज कहां रखा जायेगा ? स्त्री-बच्चों की अपेक्षा हारमोनियम और तानपूरा प्राणों से ज्यादा प्रिय हैं, संगीत लालाजी को।"

"संगीत लालाजी ?" लाला ने पूछा।

"वे गाना गाते हैं इसलिये संगीत लालाजी···आप गणित पढ़ाते हैं इसलिये

गणित लाला जी। सिर्फ लाला जी कहने से गड़बड़ न पड़ जाये, इसलिये मैंने ऐसे नाम रखे हैं।"

"यह तुम्हारा गणित तो सही है," मुस्कराकर लाला ने कहा—लेकिन भाभी संगीत लाला जी और गणित लाला जी यह दोनों आपस में मेल नहीं खा सकते।"

रात के समय लाला जी की यह बात विमला ने जब महेश के कानों में डाली तब उसने कहा—"ज़रा ठहरना। मेरे गणित की करामात तुमने अब तक देखी ही कहां हैं ?"

"क्या मतलब ?" विमला ने पूछा।

"संख्याओं के इस झंझट में तुम न पड़ो।" हंसकर महेश ने कहा—"तुम्हें तो मेहमानों के झंझट में फंसना चाहिए···।"

"आज बड़े खुश नज़र आ रहे हो। क्या बात है ?" विमला ने पूछा। लेकिन महेश लगातार मुस्कराता ही रहा। विमला ने सोचा कल रात उसके लिये उसने अपने हाथों बढ़िया सन्देश बनाये थे। सन्देश महेश को हमेशा ही से प्रिय हैं। और उसी से वह खुश है। लेकिन वह नहीं जानती थी कि महेश वस्तुतः किस बात से इतना खुश है ! वहां महेश दिल ही दिल खुश था कि उसको भी क्या गजब की चाल सूझी है।

इसके अनन्तर कुछ दिनों तक महेश के मुख पर एक पैशाचिक मुस्कराहट प्रस्फुटित होती रही। चूहे का शिकार करने के बाद, उस अधमरे चूहे को अपने पंजों से आहिस्ता-आहिस्ता गुदगुदाकर, उसे आगे-पीछे ठेल कर, जिस दुष्ट आनन्द और विजयोल्लास का अनुभव करते हुए, बिल्ली उस गरीब का छटपटाना देखती है, ठीक उसी तरह बेचारे लाला की छटपटाहट महेश देख रहा था और मारे खुशी के फूला नहीं समा रहा था। बेचारे लाला की दशा बड़ी ही दयनीय हो गई थी। दो महीने से लगातार छक कर अच्छी-अच्छी चीजें खाने और जी-भर कर आराम करने के कारण उनके चेहरे पर सुर्खी झलक आई थी। लेकिन इन पन्द्रह दिनों में उनका गुलाब-सा वही चेहरा मुर्झा गया था। वक्त-बेवक्त जब भी जी में आये, उम्दा-उम्दा, लजीज चीजों पर हाथ साफ करनेवाले लाला की अब तो जैसे भूख ही उड़ गई थी। वे अपना मानसिक सन्तुलन इस तरह खो बैठे थे कि क्लास में लेक्चर देना भी उन्हें मुश्किल जान पड़ रहा था। उनकी नींद उचट गई थी। इस अनिन्द्रा के कारण उनकी आंखों के गिर्द स्याह घेरे दिखाई देने लगे थे और किसी भूत-प्रेत की झपेट में आ जाने वाले व्यक्ति के समान वे महेश के यहां दिन काट रहे थे। यूं तो मनुष्य ज्यादातर अमावस-पूनो के अवसर पर या कभी-कभीर अर्ध-रात्रि के समय भूत-प्रेतों की झपेट में आ जाता है। लेकिन यहां तो संगीत का—लारा लप्पा का यह भूत लाला बेचारे पर आठों

पहर सवार था। लाला दिल ही दिल में झल्ला पड़ते। उन्हें ऐसा लगता कि भारतीय संगीत की राग-रागनियों की रचना करने वाले से उनकी जरूर कई जन्मों की शत्रुता थी जो इस जन्म में उसका इस तरह नतीजा भुगतना पड़ा। सवेरे, दोपहर में, सन्ध्या समय, रात्रि के समय, पूर्व रात्रि में, उत्तर रात्रि में दिन या रात के किसी भी समय, कौन-सा राग, किस वक्त गाया जाये इसका निश्चय करनेवाले व्यक्ति को लाला जैसे अल्प-संख्यकों का भी कुछ तो ख्याल करना चाहिए था और प्रतिदिन दो-चार घण्टे का समय ऐसा रखना था कि जिस वक्त कोई भी, किसी दशा में रेंक न सके। जबलपुर के वह जनाब लारे लप्पा प्रातः काल होते ही भैरवी, दोपहर में सारंग, तीसरे पहर मुलतानी, शाम हुई नहीं कि गौरी, रात होते ही कानड़ा, अडाणा, शंकरा, मालकंस आदि राग इस ढंग से अलापने लगते कि मानो मशीनगन से तेजी के साथ गोलियां चल रही हों। शत्रु के इस जबर्दस्त आक्रमण के कारण अब किला खाली करना यही एक मार्ग बचा था और एक दिन वे वहां से चुपके से भाग निकले।

उस रात खाना खाते हुए तानसेन की महानता का वर्णन करते हुए उस्ताद अनोखे लाल ने कहा था, "तानसेन के दीपक-राग गाते ही सभी बुझे हुए दीपक सहसा जल उठे थे। तपस्या के बल वह राग गाकर मैं देखना चाहता हूं कि बुझे दिये सचमुच जल उठते हैं या यह एक मन-गढ़न्त कहानी ही है।"

तानसेन, दीपक-राग और बुझे हुए दीपक दुबारा जल उठने का चमत्कार इन तीनों बातों का परस्पर सम्बन्ध और मतलब समझ में न आने के कारण उसमें छिपा खतरा भी लाला की समझ में नहीं आया था और इसी से उस रात वे आराम की नींद सो गए। लेकिन उनकी आंख ठीक से लग भी न पाई थी कि उनके मस्तिष्क में इस तरह चोट पहुंची और वे इस तरह कराह उठे मानो एक साथ कई तेज आरों से कोई उनकी हत्या कर रहा हो। उन्होंने दोनों हाथों से अपना सिर कसकर पकड़ लिया और वे विस्तर से खट से उठ बैठे। कमरे में अन्धेरा था। और उनके मस्तिष्क को ही नहीं, बल्कि उस अन्धेरे की चीर-फाड़ करने वाले कर्कश-स्वर हवा में तेज तलवारों जैसे घूम रहे थे—जगमग जगमग···दिया जलाओ···और बाद में सहसा, चीखकर 'दिया जलाओ···दिया जलाओ··· दिया जलाओ···दिया जलाओ की रटन हारमोनियम से और उस्ताद लारा लप्पा के कर्कश कण्ठ से तेज़ चाल से चलने वाली रेलगाड़ी की चाल में—तार [illegible] में सुनाई देने लगी। लाला का सर चकराने लगा। उन्होंने सोचा कि [illegible] की नायिका के मस्तिष्क के समान सौ मील प्रति घण्टा की चाल से [illegible] हारमोनियम, तबला आदि सभी साज उनके मस्तिष्क के गिर्द चक्कर [illegible]।

[illegible] दीपक राग से दुबारा दिये जल उठे या नहीं, हम नहीं जानते

लेकिन यह सच है कि दो महीने डेरा डाले बैठे मेहमान, दीपक राग ही के कारण अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर भाग निकले। महेश को जैसे ही मालूम पड़ा कि लाला ने कोहनूर होटल में लम्बे समय के लिये एक कमरा किराये पर लिया है, वैसे ही वह दौड़ा-दौड़ा वहां जा पहुंचा। घर लौटने के लिये लाला से उसने बड़ा ही अनुरोध किया, लेकिन यह अनुरोध बिलकुल बनावटी था। दिल ही दिल में आज वह बेहद प्रसन्न था। उसने लड़ाई जीत ली थी और अब वह सेना को—अर्थात् जबलपुर से बुलाये हुए संगीत मेहमान को—छुट्टी देना चाहता था। लेकिन महेश जैसा क्लर्क यह नहीं जानता था कि सेना का संगठन करना जितना आसान है, उसका विसर्जन करना उतना आसान नहीं है। घर लौटते ही जबलपुर वाले मेहमान से उसने कहा—"देखिये साहब, मेरा काम बन गया। अब मैं ज्यादा नहीं रोकूंगा। अब आप जब चाहें तब अपने गांव लौट सकते हैं।"

"वाह जनाब! आपका काम बन गया है, लेकिन मेरा काम तो अब तक अधूरा ही पड़ा है।" जनाब लारा लप्पा ने कहा।

"ऐं" चौंककर महेश ने पूछा।

"जी। आपके कहने से मैंने झूठ-मूठ ही कहा था कि कम्पनी में प्लेबैक देने के लिए मैं यहा आया हूं। लेकिन अब वास्तव में मुझे यह चान्स मिल रहा है। डी० नरोत्तम के आगामी चित्र में संगीत-निर्देशन का काम मैं करूंगा। उसने वादा किया है कि इस सिनेमा के गीतों के प्लेबैक का काम मुझे ही दिया जायगा।"

उसके मुंह से 'आगामी चित्र' इन शब्दों को सुनते ही महेश को जैसे लकवा मार गया। "तो इसका मतलब यह हुआ कि इस काम के लिये आपको काफी दिन यहां रहना पड़ेगा।"

"काफी दिन की तो छोड़िये साहब···जिन्दगी भर मुझे यहां रहना पड़े तब भी मौका मैं अपने हाथ से जाने नहीं दूंगा।"···कहकर जबलपुर के इस मेहमान ने कुर्सी पर ताल देते हुए गाना शुरू किया···"लारा लप्पा···लारा लप्पा लाई रखदा"···लेकिन वह गीत सुनने के लिए महेश होश में कब था—माथा ठोककर दिल ही दिल में वह कह रहा था—"लाला गया और उसका स्थान इस लारा-लप्पा ने ले लिया। क्या मेरी जिन्दगी मेहमानों की खातिरदारी करते हुए ही समाप्त होने वाली है।"

उपवास

पु० ल० देशपांडे

बहुमुखी प्रतिभा वाले श्री देशपांडे से हिन्दी भाषा-भाषियों का परिचय अपेक्षाकृत अधिक है क्योंकि वह आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र पर रहकर यहाँ से प्रसारित होनेवाले विनोदी कार्यक्रमों का संचालन करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त उनकी कतिपय रचनाएँ भी हिन्दी में अनूदित हो चुकी हैं। आप एक सफल नाटककार एवं विनोदी लेखक हैं। सम्पूर्ण नाटकों के अतिरिक्त एकांकी, तमाशा (नौटंकी) व बच्चों के लिए लघु-नाटक भी लिखते हैं। अब तक उनके चार विनोदी लेखसंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—(१) खोगीर भरती (२) नस्ती उठाठेव (३) बटाट्याची चाल (४) असामी आसामी। यद्यपि उनका हास्य कहीं-कहीं शब्द-निष्ठ भी है, तथापि वे काल्पनिक हास्यमय प्रसंगों, मानव-चरित्र में पाई जाने वाली विचित्रताओं एवं घटनाओं की सृष्टि कर पाठक का मनोरंज करते हैं। उनकी भाषा-शैली अपेक्षाकृत अधिक प्रांजल और उदात्त है जो अन्य मराठी विनोदकारों से उन्हें अलग करती है।

[illegible] में कोई बात छिपी नहीं रहती। अण्णा पावशे ने अपनी लड़की [illegible] अल्मारी से कब निकाली, चुपचाप उसे जेब में कब रखा और [illegible] में उकडू के घर कब ले गए, ये सारी बातें पावशे भाभी को पता [illegible] पत्नी को भी ज्ञात हो गई। एच्च० मंगेशराव चाल के संगीतज्ञ [illegible] भी अंतरे का ज्ञान नहीं हैं, यह बात, रघुनाना तक जानते [illegible]-ज्ञान 'अब गाना समाप्त हो गया है', यह जानने तक सीमित [illegible] सोने की चूंडियां गिरवीं रखी गई हैं, यह बात गिरवी रखने [illegible] से पूर्व ही सब की जिह्वा पर थी। द्वारकानाथ गुप्ते द्वारा [illegible] प्रेमपत्र की रामकहानी मधु के हाथ में पत्र आने से पूर्व ही [illegible] के लड़के ने गैलरी में खड़े होकर किस प्रकार सुनाई थी,

यह बात चटाक से रतन ने सब को बता दी थी। बहिर्जी[1] के सारे वंशज नाना जातियों और उपजातियों में जन्म लेकर मानों बटाटा-चाल में ही बस गए थे। अपने उपवास का निश्चय मैंने अपने 'प्राणप्रिय मन' के अतिरिक्त और किसी को भी नहीं बताया था, परन्तु अभी उपवास को चार घंटे भी नहीं हुए थे कि भीड़ लगनी आरम्भ हो गई।

"पंत—[मुझे चाल के लोग व्यर्थ ही पंत कहकर पुकारते हैं; वस्तुतः पंत (मंत्री) सरीखा कोई गुण मेरे में नहीं है। मैं तो केवल टेलिफोन-आपरेटर मात्र हूं। हां, यह बात सच है कि मुझे बूट-पैंट अच्छे नहीं लगते, पर क्या मैं इतने-मात्र से 'पंत' कहलाने का अधिकारी हो जाता हूं!] पंत, यह क्या साली मैडनैस! सोकाजी त्रिलोकेकर ने इस ढंग से बात आरम्भ की। "तुम क्या सोचते हो कि साला तुम्हारा बॉस ऐसे फास्ट करने से लीव्ह सैंक्शन कर देगा?"

"पर मेरी बात तो सुनो—" चार घंटे के उपवास के बाद क्षीण होती जाती आवाज में मैं सोकाजी को समझाने की चेष्टा करने लगा। पर व्यर्थ! सोकाजी तो मुझे 'सर्मन' देने के लिए तैयार होकर आये थे।

"माय गुड फ्रेंड—साले फास्ट से क्या होता है?···यह केवल बॉस को कन्विन्स करने की तरकीब है न! लिसन्—तुम्हें चाहिए, तो सिक्-नोट दिलाए देता हूं। मेरे कझिन का साला एम० डी० है। यू विल गेट एज़ मच लीव—बट् साला उपवास कैसा?"

"पर मेरी सुनो तो—"

"अरे क्या सुनूं? तू मुझे क्या बताएगा? धिस इज हमबग!" चार-पांच घंटे के उपवास के कारण मेरी दुर्बलता कण-कण बढ़ रही थी और उधर सोकाजी को ज़ोर चढ़ रहा था।

"साला लिसन्—तुम मजे से खाना खाओ जी! साला मज़ेदार सन्डे का दिन है—आज क्या अतिरिक्त पारिश्रमिक मिला है। उपवास-वुपवास मत करो!"

लगभग डेढ़ घंटे तक बड़-बड़ कर त्रिलोकेकर चले गए, फिर आए चाल के नाट्यभैरव कुशाभाऊ। उन्होंने गडकरी के नाटक 'एकच प्याला' (एकही प्याला) में 'सुधाकर, तुम हमारे सगे भाई ठहरे, वैसे हमें कहना तो नहीं चाहिए, फिर भी तुम शराब छोड़ दो" की पद्धति पर बोलना आरम्भ किया।

"पंत—(यहां कुशाभाऊ ने मेरी पीठ पर हाथ भी फेरा) पंत, सुनो मेरी बात। दो गस्से तो खा लो।" (इस वाक्य ने मेरे मन में अत्यन्त अशुचिपूर्ण भाव उत्पन्न कर दिया, क्योंकि ऐसी बात प्रायः किसी के मरने के उपरान्त कही जाती है।)

---

१. बहिर्जी शिवाजी के गुप्तचर थे जो सब बातों का पता लगाकर अपने स्वामी को सूचना दिया करते थे।

"अरे पर…"

"पर-वर कुछ नहीं। पंत, हम इस चाल में भाई-भाई की तरह रहे हैं। हमारी [illegible] अभी-अभी बताया कि तुमने उपवास शुरू किया है। भोजन कर रहा था, पर बिना कुल्ला किए वैसे ही चला आया हूं। नहीं भाई, तुम नहीं खाओगे तो फिर और ही कौन खायेगा ? पंत, मेरी बात सुनो। बाबा बर्वे के यहां के यज्ञोपवीत संस्कार की याद है तुम्हें ? बीस वर्ष हो गए उस बात को। [illegible] खाई थीं तुमने ?" यहां, 'तुमने' शब्द पर कुशाभाऊ ने एक सिसकी भी ली। कुशाभाऊ की यह व्याकुलता देखकर हमारी पत्नी ने भी अन्दर आंसू पोंछे। "यह कुछ नहीं, पंत। तुम्हें भोजन करना ही चाहिए—उपवास से क्या होगा ? अरे, जनोबा रेगे की बात का इतना बुरा क्यों मानते हो ?"

"जनोबा का इससे क्या सम्बन्ध है ?"

मेरा यह वाक्य पूरा होते ही नाटक की तरह 'क्या सम्बन्ध' का पुनः उच्चारण करते हुए कुशाभाऊ नाट्यभैरव ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा।

"सब मालूम है, मालूम है सारी बात ! तामलोट की चोरी ही क्या ? अरे, मरते समय अपने साथ कुछ नहीं जाना है ! सब कुछ यहीं छोड़ना पड़ेगा !" कुशाभाऊ बोले।

"तामलोट ?"

"हां, दिन निकलते ही तामलोट—नहीं,…मुर्गा—हां, मुर्गा नहीं बोलेगा, तो क्या दिन नहीं निकलेगा ? तीन दमड़ी का तामलोट और फिर उसकी चोरी का अभियोग तुम्हारे ऊपर ?"

"चोरी ?" मैं असमंजस में था।

"पंत, अरे तुम दुखी मत होओ ! मैं जनोबा को सौ तामलोट और वे भी पानी भर दे दूंगा। दिन भर काम में लाता रहेगा। पर पंत, तुम यह उपवास की जिद छोड़ दो—यह तो अन्न-ब्रह्म की उपेक्षा है, पंत।"

"पर कुशाभाऊ, मेरी बात तो सुनो न !"

"मुझे न कुछ सुनना है और न कुछ कहना। मुझे तो बस एक बात चाहिए और वह यह कि तुम भरपेट भोजन कर लो। पंत, छोड़ो भी यह ज़िद, नहीं भाई, अन्तःकरण से निवेदन करता हूं तुमसे। नहीं, पंत, उपवास द्वारा अपने स्वास्थ्य को मिट्टी में मत मिलाओ।"

कुशाभाऊ को रोकना कठिन हो गया। अन्त में मैंने विगत सप्ताह अभिनीत उनके नाटक के सम्बन्ध में चर्चा चलाई, तब जाकर कहीं उनकी गाड़ी की दिशा बदली। पर वह भी कितनी देर ! गाड़ी पुनः मेनलाइन पर आ गई !

"नहीं—नहीं, ऐसा मत करो, पंत।"

"अजी, मैं क्या कर रहा हूं।"

"मुझे सब मालूम है—मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो रहा है सुनकर, पर पंत, छोड़ो भी यह अविचार।"

अब मुझे सूझता ही न था कि क्या करूँ। मैं आँखें बन्द कर चुपचाप बैठ गया। नाट्यभैरव कुशाभाऊ लगभग पौन घंटे तक मेरा एक अक्षर भी न सुनकर बड़बड़ करते रहे। पर यह तो कुशाभाऊ की विशेषता ही है। नाटक में भी उन्होंने अकेले ही उत्साह के आवेश में अपना और अपने नौकर का भाषण तथा 'नेपथ्य में शोरगुल'—सभी कुछ एक साथ किया था। रंगभूमि के किसी अन्य सेवक को न टिकने देने का उनका संकल्प था। चाल के नौकर जिस प्रकार किसी दूसरे नौकर को टिकने नहीं देते, उसी प्रकार उनका भी यही नियम था! नाट्य-भैरव कुशाभाऊ के भीषण-भाषण ने सारी चाल में मेरे उपवास की बात फैला दी। और धीरे-धीरे पदचाप न करते हुए सब लोग मेरे मकान में एकत्र होने लगे। मैं कुछ कहने के लिए मुंह खोलता कि सब लोग एक स्वर से बड़ी व्याकुलता-पूर्ण वाणी में कहते।

"आप मत बोलिए—आपको कष्ट होगा!" आचार्य बाबा बर्वे के अतिरिक्त सब अड़ौसी-पड़ौसी एकत्र हो गए थे।

सबसे नीचे की मंज़िल पर का किराने का व्यापारी शाह भी आया! "ऐसा कोई उपवास-वुपवास करने लगता है, तो भैया हम तो डर जाते हैं। हमारे कच्छ में एक रावक बापा रहते थे, वह इसी प्रकार उपवास रखते-रखते मर गए। पंत, उपवास मत कर मेरे भाई, मुझे तो बड़ा भय लगता है!"

"बात तो ठीक है—यदि सभी ने उपवास रखना आरम्भ कर दिया, तो इस बेचारे की दूकान कैसे चलेगी?" काशीनाथ नाडकर्णी के कानों में जनोबा रेगे फुसफुसाये। मेरे उपवास के प्रसंग के अतिरिक्त, उसने किसी भी अवसर पर गंभीर रहना नहीं जाना था।

मैं चुपचाप आंख बंद किए हुए लेटा था। उसके अतिरिक्त और कर भी क्या सकता था। आगन्तुक भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्रा धारण कर मेरी ओर देख रहे थे। छोटे बच्चे बारी-बारी से खिड़की की छड़ों से झांकते थे।

"क्यों चंदू, क्या चितू के बाबा मरने वाले हैं?" कोई नटखट बच्चा मेरी जान का गाहक बन उठा! पर तुरन्त मैंने उसकी पीठ पर ज़ोरदार धौल जमने की अवाज़ सुनी।

आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति कहता, "पंत को आराम से लेटा रहने दो···और स्वयं उस कमरे में भीड़ बढ़ाता। मेरे पास के 'पीले हाथी' के सारे सिगरेट पूछतांछ के लिए आनेवालों ने फूंक डाले, सुपारी खा डालीं और ट्रे में केवल 'लबंग, इलायची के छिलके' रह गए। मैं कुछ कहने के लिए मुंह खोलता कि एक स्वर से सब बोल पड़ते 'पंत, तुम चुपचाप पड़े रहो!' इतने में किसी ने मेरे

सिरहाने धूपबत्ती लाकर जला दी !

अंत में अत्यन्त आर्त स्वर में मैं चिल्लाया, "अरे, मुझे कुछ नहीं हुआ है। मैंने जो यह उपवास शुरू किया है—"

"वह छोड़ो, पंत, वह छोड़ो !" नाट्यभैरव कुशाभाऊ को नाटक में दूसरों के वाक्य उद्धृत करने की ऐसी खराब आदत है कि 'भाई-भाई का बैर' में राघोबा का काम करते हुए रामशास्त्री का अभिनय करनेवाले के मुख से 'देहान्त प्रायश्चितं' का 'देहान्त' शब्द उच्चरित होते ही "प्रायश्चित के बिना गत्यन्तर नहीं।" यह न्यायाधीश द्वारा कहे जाने वाले शब्द, उन्होंने मैं राघोबा का पार्ट कर रहा हूं, यह भूलकर स्वयं ही कह डाले थे !

मेरे आसपास की भीड़ धीरे-धीरे बढ़ रही थी। हमारी पत्नी भी बड़ी चतुर है। परमेश्वर जाने, भीतर एकत्र स्त्रियों से क्या-क्या कह रही थीं। रसोईघर से निकलने वाली प्रत्येक स्त्री 'यह इन महाभाग के अन्तिम दर्शन हैं' ऐसी मुद्रा से मेरी ओर देखती और बाहर चली जाती। इससे पूर्व किसी भी स्त्री ने मेरी ओर आंख उठाकर देखा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं। उपवास से मुख पर इतना शीघ्र विलक्षण तेज आ जाता है, इसकी मुझे कल्पना भी न थी। इस भीड़-भड़क्के से मेरी मुक्ति के लिए गजेन्द्र-मोक्ष के समय विष्णु के सदृश एच० मंगेशराव अपने तबले तथा सुस्वर पत्नी वरदाबाई सहित आ पधारे। वरदाबाई के हाथ में सितार था।

"पंत, एकाध डिवोशनल् सांग सुनाने की इच्छा है—" इस प्रस्तावना के साथ मंगेशराव ने सपत्नीक मेरी चारपाई के पैताने आसन जमा दिया और वरदाबाई ने मीराबाई का भजन 'तुम बिन मेरी…' गाना आरम्भ कर दिया। वरदाबाई अभी 'गोवरधन गिरधारी' तक पहुंची भी न थीं कि सोटा-छाप मलहम के विज्ञापन में जैसे 'चूहों को देखकर बिल्ली' की तरह रोग भागता है, उसी प्रकार हमारे सारे पड़ौसी भाग खड़े हुए। कमरे में मैं और मंगेशराव की पत्नी का संगीत मात्र बच रहे। वरदाबाई के स्वर तथा उससे भी अधिक एच० मंगेशराव के तबले की सामर्थ्य उस समय मुझपर सच्चे अर्थ में प्रकट हुई। खड़ी सभा में द्रौपदी ठाड़ी, राखो लाज (वरदाबाई का उच्चारण था 'राकौ लाज्ज') अमारी' पंक्ति का एक-एक स्वर वरदाबाई इस प्रकार गा रही थीं और मंगेशराव तबले पर ऐसी करामाती थाप मार रहे थे कि कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता कि कदाचित् गोवर्धन गिरधारी ही मेरे उपवास की खबर सुनकर वस्तुतः आ रहे हों। मेरे पेट में विलक्षण उथलपुथल होने लगी। (वह उस संगीत के कारण हो रही थी कि भूख के कारण, यह मुझे आज तक पता नहीं चला है)। मंगेशकर दम्पति का संगीत कब समाप्त हुआ, कौन जाने; पर जब मैं जागा तो रात के साढ़े दस बजे थे।

उपवास के पहिले दिन मैंने केवल कॉफी, केले, एक अंडा (उबला हुआ), दो शंत्रे, मूंगफली के दाने और मूंगफली के दानों के कारण पित्त न बिगड़ जाय, इसलिए नीबू का रस, काफी से मुझे कब्ज हो जाता है, अतः दूध और दूध पचने में दिक्कत न हो अतः मुनक्के और दो चमचे मधु, बस इतनी चीज़ें ली थीं।

दूसरे दिन प्रातः उठते ही चाल के एकमात्र साहित्यिक म्हालसाकांत पोंबुर्पेकर चाल के हस्तलिखित मुखपत्र 'चालकरी' का अंक लेकर आए और उन्होंने वह मुझे इस प्रकार नम्रता से दिया, जिस प्रकार राज्य का प्रशस्ति-पत्र अर्पित किया जाता है।

"पंत, यह उपवास विशेषांक है।" पोंबुर्पेकर बोला।

वस्तुतः 'चाळकरी' दैनिक का साधारण अंक आजतक कभी निकला ही नहीं। प्रत्येक अंक ही विशेषांक होता है। आज 'उपवास विशेषांक' है, तो कल 'स्वच्छता विशेषांक', उससे पूर्व 'चाळपुनर्रचनासमिति विशेषांक' (अटारी बनाने के लिए), कभी 'भय्या विशेषांक' तो कभी 'भाड़ा-विशेषांक', 'नल-विशेषांक'— इस प्रकार एक विशेषांक के बाद दूसरा विशेषांक निकालने की पोंबुर्पेकर को लत थी। अत: उसके 'उपवास विशेषांक' को देखकर मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पर अंक की शीर्ष पंक्तियां पढ़कर मैं स्तब्ध रह गया :

"चाल की एकता के लिए
पंत का आमरण उपवास।"

"पोंबुर्पेकर—" अठारह घंटों के उपवास के बाद शरीर में बचीखुची शक्ति को समेटते हुए (महीने के अंत में शृंगारदान से लेकर पान के बटुए तक में पड़े हुए पैसों को जिस प्रकार एकत्र करते हैं) मैं चिल्लाया। पर मेरी चीख का पोंबुर्पेकर पर तिल-मात्र भी असर नहीं हुआ, क्योंकि उसके प्रत्येक अंक के प्रकाशन के बाद कोई न कोई उस पर इसी प्रकार क्रुद्ध होता है।

"क्या है ?" उसने शांत स्वर में प्रश्न किया।

"किस गधे ने तुम्हें बतलाया है कि मैंने चाल की एकता के लिए उपवास रखा है।"

"सभी लोग ऐसा कह रहे हैं—" पोंबुर्पेकर बोला।

"तो फिर सब के सब गधे हैं !" मैंने कहा। इण्टर में मैंने लाजिक विषय पढ़ा था; अतः दो प्रमेयों से यह सिद्धान्त निष्कर्षतः निकाला था। बोंबुर्पेकर चुप हो गया।

"मेरा यह उपवास बिल्कुल व्यक्तिगत है; उसका चाल से क्या सम्बन्ध ?"

"यह कैसे संभव है ? समेळकाका कहते थे कि चाल की जातिवादिता के विरुद्ध तुमने यह उपवास का शस्त्र उठाया है।"

"समेळकाका गये गढ़े में !"

"ठीक है। पावशे कहते थे कि हेडक्लर्क ने तुम्हारी लीव्ह सैंक्शन नहीं की। अत: कर्मचारियों के दुख व्यक्त करने के लिए तुमने यह उपवास आरम्भ किया है।"

"पावशे गया श्मशान में!"…मैं

"ठीक है।" नाट्यभैरव कुशाभाऊ कह रहे थे कि जनोबा रेगे ने तुम पर तामलोट चुराने का आरोप लगाया है, अत: उसकी मन:शुद्धि के लिए यह उपवास कर रहे हो।

"जनोबा गया—" ऊपर के दो वाक्यों में गढ़ा और श्मशान ये दो स्थान भर चुके थे, अत: जनोबा को कहां भेजा जाय, यह मैं सोचने लगा। अत: जनोबा गया 'वहाँ' यह कहकर मैंने सर्वनाम का सहारा लिया। परन्तु पोंबुर्पेकर पर कोई प्रभाव न पड़ा। रेफ्रिजरेटर में रखे सुन्न मस्तिष्क के समान वह आचरण कर रहा था।

"ठीक है, कल के अंक में मैं तुम्हारा स्पष्टीकरण प्रकाशित कर दूंगा।"

"कोई आवश्यकता नहीं। मेरे उपवास का चाल से कोई सम्बन्ध नहीं।"

"फिर किस से सम्बन्ध है?" पोंबुर्पेकर बोला।

"मेरे वज़न घटाने से!"

"हूं?"

"हां!"

"पर उपवास तो समाज में अपना वज़न बढ़ाने के लिए किया जाता है न!"

"मुझे पता नहीं। यह देखो।" मैंने दराज़ खोलकर उसमें से वज़न का कार्ड निकालकर उसे दिखाते हुए कहा, "पढ़ो!"

"आप बहुत समझदार हैं!" पोंबुर्पेकर पढ़ने लगा।

"यह क्या पढ़ रहे हो? वज़न पढ़ो—यह देखो, बारह स्टोन और तेरह पाउंड"

"यानी, तुम्हारा वज़न केवल तेरह पाउंड?"

"और बारह स्टोन नहीं पढ़ा क्या? बारह गुणा चौदह कितने होते हैं?"

"कितने?"—पोंब्रुर्पेकर

"कितने?"—मैं

"कितने?"—पोंबुर्पेकर

"कितने?"—मैं

"कितने?" पोंब्रुर्पेकर

"कितने, कितने क्या करते हो? चौदह गुणा बारह, चौदह बारहं?"

"चौदह बारही एकसौ चालीस—अर्थात् चालीस—"

"एकसौ चालीस! इसमें चौदह दूनी अट्ठाईस और जोड़ो, कितने हुए?"

"हाँ !"

"हां, क्या ?—एकसौ अड़सठ और तेरह यानी एकसौ इक्यासी पाउंड !"

"किसका वज़न है यह ?" पोंबुर्पेकर उसी शान्त अलिप्त स्वर में बोले।

"तेरे बाप का ! मुझे भला दूसरे के वज़न से क्या मतलब ? यह मेरा वज़न है।"

"होगा !"

"होगा नहीं,—है। अब बता, मेरे वज़न से चाल का क्या सम्बन्ध ? एकसौ इक्यासी पौंड मेरा वज़न हो गया है—इससे कल मुझे मधुमेह हो जायगा, ब्लडप्रैशर हो सकता है, हार्ट-ट्रबल हो सकती है। अगर मर गया तो क्या चालवाले मेरी सहायता कर देंगे ?"

"क्यों नहीं करेंगे ?" पोंबुर्पेकर बोला, "पावशे की दादी मरी थी तब—"

"चल, बाहर निकल !" उसके शांत आचरण की पराकाष्ठा हो गई थी !

"रोष मत करो, पंत। पर तुमने यह बात लोगों को पहिले क्यों नहीं बताई ?"

"उन्होंने मेरी बात सुनी ही कब ?"

धीरे-धीरे मेरे व्यक्तिगत उपवास की बात चाल में सब पर प्रकट हो गई और आते-जाते लोगों के निम्न वाक्य मेरे कानों में पड़ने लगे, "बेकार का झमेला खड़ा कर रखा है", "अपशकुन कर रखा है", "जब चला नहीं, तब व्यक्तिगत बना लिया"। परन्तु मैंने किसी भी आलोचना की पर्वाह नहीं की।

एकसौ इक्यासी पौंड ! रात दिन वज़न का कार्ड मेरे नेत्रों के सम्मुख नाचता रहता। वजन कम होना चाहिए, इस चिन्ता से मेरी नींद उड़ गई। नींद कम होने से वज़न घटता है, इस विचार के कारण मैंने उसकी पर्वाह न की। पर मेरी पत्नी को अभी भी यह पूर्ण विश्वास न होता था कि मैं अब पहिले की तरह गाढ़ी नींद नहीं सोता हूं। वह सदा यही कटु वाक्य कहती "रात भर तो खर्राटे भरते रहते हो !"

"दो मास में पचास पौंड बजन कम करके दिखाऊँगा" यह भीष्म-प्रतिज्ञा कर मैं आहार-शास्त्र की पुस्तकें पढ़ने लगा। प्रोटीन युक्त पदार्थ, चरबीयुक्त द्रव्य, आदि शब्दों के प्रति मेरी आस्था बढ़ने लगी। थाली के पदार्थ दिखाई न देकर मुझे केवल 'कैलोरीज' दिखाई देने लगीं और मजे की बात यह कि वज़न घटाने के शास्त्र में पारंगत लोग प्रतिदिन एक दर्जन बार मुझसे मिलने आने लगे। इतना ही नहीं, जिन चाल वालों ने मेरे उपवास की अवहेलना की थी, वे भी मुझे 'डायट' का परामर्श देने लगे। उदाहरणार्थ, सोकाजी त्रिलोकेकर बोले "तुझे मैं बताता हूँ पंत, डायटिंग कर। साला आलू छोड़ ! आलू का नाम भी न ले।"

"हाँ ! पर यदि किसी ने पूछा कि 'कहाँ रहते हो ?' तो भी क्या यही

कह दें कि "चाल में रहता हूँ" 'बटाटा (आलू) की चाल' न कहूँ, क्योंकि ऐसा करने से वज़न बढ़ जायगा !" खी: खी: खी: अब जनोबा रेगे को क्या कहा जाय ! वह सदा ही टेढ़ी बात करता है !

पर सोकाजी ने उसे डपटते हुए कहा, "ए ईडियट ! साला सारी बातों में जोक करता है, हमेशा ही ? मैं तुझे बताता हूं, पंत—तू आलू छोड़ दे।"

मुझे क्या-क्या खाना छोड़ना चाहिए जिससे मेरा वजन घट जाय, इसकी सूची आलुओं से आरम्भ हुई।

"आलू तो ठीक हैं, पर पंत, पहिले भात छोड़ो !"—एक परामर्श

"भात से थोड़े ही मोटा होते हैं ? हमारे कोंकण में तो सब लोग भात खाते हैं, वे कहाँ हैं मोटे ? तुम दाल छोड़ो जी !"—काशीनाथ नाडकर्णी।

"सबसे पहिले तो चीनी छोड़नी चाहिये !"

"और मुझसे पूछो तो नमक छोड़ो !"

"लौनी-घी छोड़ो—एक सप्ताह में यदि दस पौंड वजन न घट जाय, तो मेरा नाम बदल देना। हमारे हेडक्लर्क की वाइफ का घट गया था।"

"तेल और तले हुए पदार्थ पहिले छोड़ने चाहिए !"—बाबू काका

"स्मोकिंग छोड़ दो !"

"दिन में सोना छोड़ो !"

"वस्तुत: ताश खेलना छोड़ना चाहिये ! बैठे-बैठे वज़न बढ़ता है।"

और सबसे अधिक पराकाष्ठा की वात भाईसाहब चौवल ने कही, "पंत, नौकरी छोड़ो !"

"अरे कहते क्या हो ?"

"व्यर्थ थोड़े ही कहता हूं। दिन भर कुर्सी पर बैठे-बेठे वज़न वढ़ता रहता है। ऐसी नौकरी ढूंढ़ो जिसमें घूमना पड़े।"

कुछ धूर्त लोगों ने मुझसे बम्बई छोड़ने को कहा। उनका उद्देश्य मेरा वज़न घटाना न होकर चाल में दो कोठरी खाली कराना था, यह न समझ सकूं, इतना मूर्ख मैं न था। अब केवल 'पत्नी छोड़ो' का उपदेश देने वाला व्यक्ति मात्र मिलने से रह गया था। एक महाशय ने तो ट्राम में ही 'धोती छोड़ो' यह कह अपनी बात का उत्तरार्ध इस प्रकार पूरा किया "और पैंट पहनना शुरू करो क्योंकि कस कर बांधने से पेट आगे को नहीं निकलता।"

पर मैंने निश्चय कर लिया था कि सुनूंगा सबकी, करूंगा मन की। पहिला उपाय तो यह किया कि तीन-चार भिन्न-भिन्न मशीनों पर अपना वज़न तौला। प्रत्येक मशीन पर भिन्न-भिन्न वज़न आया, पर एकसौ इक्यासी के नीचे जाने के लिये किसी भी मशीन की सुई तैयार न थी। अन्त में रेलवे-पार्सल के दफ्तर की मशीन पर हुंडेकर की सहायता से तुला और वहाँ बंगाली मन तथा देशी मन के

हिसाब के चक्कर में मेरा वज़न कभी सौ पौंड से भी कम तो कभी दो सौ पौंड से भी अधिक होने लगा। टिकट देने वाली मशीनों पर तो वजन के साथ-साथ भविष्य भी बदलता रहा। एक टिकट पर यदि मुद्रित था कि मैं धूर्त और स्वार्थी हूं, तो दूसरी के अनुसार मुझ-जैसा सीधा व्यक्ति संसार में कदाचित् ही कहीं मिले। एक मशीन ने मेरा वज़न २०३ पौंड बताने के साथ-साथ यह भी चेतावनी दी थी कि मुझपर कोई भारी कौटुंबिक आपत्ति आने वाली है। इस सब का मुझे केवल इतना लाभ हुआ कि मुझे चौदह का पहाड़ा 'चौदह सोलम दोसौ-चौबीस' तक आगया। अंत में अपना वज़न दफ्तर के सामने ईरानी मशीन पर कराने का निश्चय कर मैंने 'आहार परिवर्तन' आरम्भ किया।

चीनी में सबसे अधिक कैलरीज होती हैं, अतः सर्वप्रथम बिना चीनी की चाय शुरू की। पहिले दिन विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। घर में चीनी-बंदी शुरू हो गयी। पत्नी को आदेश दिया कि सारी दिवाली नमक-मिर्च के सहारे ही मनाई जाय। केवल इतनी रियायत की कि 'बच्चों के लिए थोड़ा बहुत मीठा-पकवान बन जाय।' पहिले ही दिन से मुझे अन्तर जान पड़ने लगा। भात बिल्कुल ही बंद करना असंभव था, अतः पहला भात तथा छाछ-भात के अतिरिक्त बीच का भात बंद[1] कर दिया। केवल उबली हुई साग-भाजी पर रहना कितना कठिन है, इसका अनुभव उसे खाने के बाद ही हुआ। और पहले प्रतिदिन सब्जी को 'वह' इतना स्वादिष्ट कैसे बनाती थी, इसका अनुमान लगाने लगा।

पहिला दिन तो आसानी से बीत गया, पर दूसरे दिन व्रत-भंग का अवसर आ पहुंचा। पहिले ही दिन आधे से अधिक दफ्तरवालों को वज़न घटाने के लिए किए गए मेरे उपवास की बात पता लग गई। दूसरे दिन हमारे अण्णा नाडगौडे को प्रमोशन मिलने का समाचार मिला और उसने सारे सैक्शन को पार्टी दी। भोजन बनानेवाले ने मानो मेरी 'डायटिंग' पर बदला निकालने के लिए ही भोजन बनाया था! अब न खाऊँ, तो अण्णा नाडगोडे बुरा मानेंगे! बेचारा छः वर्ष के बाद 'एफिशिएन्सी बार' के जाल के बाहर निकल पाया था। रसोइये ने मिठाई में चीनी डालने की बजाय मानों चीनी में ही, मिठाई डाल दी थी। प्रत्येक ग्रास के साथ हजारों कैलरीज पेट में चली जा रही थीं। अतः खाना भी उस समय अच्छा नहीं लग रहा था। आलू की टिकियां थीं—अर्थात् और भी अधिक कैलरीज! चिवड़ा था वनस्पति घी में तला हुआ, उसके कारण और भी कैलरीज़! और इन सब के ऊपर 'पकौड़ो के बिना पार्टी कैसी' मिकोबा के इस उपालंभ के कारण नाडगौडे ने रसोइये को स्पेशल पकौड़ी बनाने का आर्डर दिया था।

---

१. महाराष्ट्र में भोजन के समय तीन तरह भात खाया जाता है। पहिले मीठी दाल से फिर खट्टी दाल से और अन्त में दही या दाल से।

अंत में मुझसे न रहा गया ! पकौड़ी की छठी प्लेट पर हाथ साफ करने के बाद मैंने अत्यन्त दीन स्वर में कहा, "आजकल मैं डायटिंग कर रहा हूं।" इस पर सबने मुझे पागल बनाना शुरू किया।

"अरे पंत, खाने का वज़न से क्या सम्बन्ध ?" मिकोबा बोला।

"मुझे देखो, इक्कीस गुलाबजामुन खाई हैं—इतना ही नहीं, जीवन में कभी व्यायाम नहीं किया। अरे तेरी कुंभ राशि है और लग्न भी कुंभ है। अतः यदि केवल वायु-भक्षण करेगा, तब भी ऐसा ही मोटा बना रहेगा ! अरे मुटापा क्या अपने हाथ की बात है ?"

"नानसैन्स !" जगदाले चिल्लाया "रनिंग कर रोज़।"

"रनिंग की बजाय तो डोरी पर कूदा करो। पंत, मेरी सिस्टर का वज़न डोरी पर कूदने से ही चालीस पौंड कम हो गया है।" कु० कमलिनी कंकरे बोलीं।

इन सब लोगों ने अपने-अपने परामर्श के साथ अपनी पत्नी, पड़ौसिन, चचेरे भाई या ममेरी बहन के उदाहरण दिये थे; अपना उदाहरण देने के लिए कोई तैयार न हुआ। रनिंग और डोरी पर उछलने के बीच में एक और भी परामर्श 'तैरने' का दिया गया था, पर वह अस्वीकार कर दिया गया ! अन्त में निश्चय हुआ कि मैं प्रातः रनिंग करूं, संध्या को डोरी पर उछलूं और मैंने सातवीं प्लेट की पकौड़ी खानी आरम्भ कर दीं।

डायट के सम्बन्ध में पत्नी का उत्साह अवश्य अवर्णनीय था, क्योंकि प्रतिदिन थाली में कोई न कोई अद्‌भुत पदार्थ परोसा जाने लगा। एक दिन केवल दो परवल उबालकर मुझे खाने के लिए दिए गए। सेम की फली, परवल, भिन्डी, सींगरी, आदि साग मेरे अन्य भोजन में दिए जाने लगे। गोभी, बंदगोभी, आदि सुन्दर सब्जियों का रसोईघर से बहिष्कार कर दिया गया। प्रातः की चाय भी जैसी आरम्भ में थी, वैसी न रही। बिना चीनी की चाय इतनी कड़वी हो सकती है, इसकी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। इस सम्बन्ध में जब पत्नी से विशेष पूछ-ताछ की, जो पता चला उसे उसी के शब्दों में रखना उचित होगा—

"मैंने मन ही मन सोचा—कि (व्यर्थ के शब्दों का जाल बुनने से स्त्रियों को कौन रोक सकता है) तुम्हारा यह वज़न घटाने का विचार तुम्हीं को—मैं जो कहती हूँ, उसे ध्यान से सुनिये, वर्ना फिर आपे से बाहर हो जायेंगे ! (अभी मूल विषय का स्पर्श भी नहीं किया था) यह आपका खानदानी गुण है ! पहले बात को अच्छी तरह नहीं सुनते, बाद में झुंझलाते हैं। गत वर्ष सास जी आयी थीं—"

"आरम्भ में बिना चीनी की चाय कड़वी नहीं लगी और अब कड़वी क्यों लगती है, बस यह बताओ। व्यर्थ की बड़बड़ मत करो।"

"वही तो – व्यर्थ की बात थोड़े ही कर रही हूं ! – अरे आरम्भ में जो चाय बिना चीनी की कहकर तुम्हें दी थी, वह बिना चीनी की थोड़े ही थी !"

"नहीं थी ? फिर क्यों कहा था कि बिना चीनी की है ?"

"अरे थोड़ी-सी चीनी बच रही थी, उसके समाप्त होने तक डालती रही। कल ही तो समाप्त हुई है। आज से ही बिना चीनी की चाय बनाई है !"

"कर दिया न बेड़ा गर्क ! अरे कितनी लाख कैलरीज़ पेट में चली गई होंगी ! मेरा वजन कम होता तो कैसे ? और मुझे बताया क्यों नहीं था ?"

"बेकार की चिल्ल-पों मत मचाओ ! मरे वज़न का क्या ? हो जायगा धीरे-धीरे कम ! और फिर हम किसी का मांगकर तो खाते नहीं; स्वयं कमाकर खाते हैं। वजन बढ़ता है तो बढ़े।" बच्चों को देने के लिए लड्डू निकालकर तश्तरी में रखती हुई और इस प्रकार मेरे वजन-क्षय-संकल्प में एक नई सुरंग लगाती हुई वह बोली।

"लड्डू कैसे बनाये हैं ! चीनी होगी उनमें ?"

"इश्श ! हमारे घर में तो बाबा, बिना चीनी के लड्डू आज तक किसी ने बनाये नहीं !"

पत्नी का घर एक स्वतंत्र विषय है। विवाद के किसी भी प्रसंग में अपने 'सदावर्त करने वाले' घर की चर्चा कम से कम एक बार अवश्य होनी चाहिये, ऐसा उनका संकल्प है। और उनके घर की तुलना में हमारा घर कितना सामान्य है, जब तक वह यह सिद्ध नहीं कर देतीं, तब तक उन्हें संतोष नहीं होता !

तात्पर्य यह कि उस दिन चाय तो बिना चीनी की अवश्य पी, पर लड्डूओं के रूप में कितनी ही कैलरीज़ पेट में गईं।

डोरी पर कूदने का भी प्रयत्न किया, परन्तु पहिली ही कूद अंतिम ठहरी ! क्योंकि ८ × १० की बैठक में प्रथम तो पूरी डोरी कूदना कठिन ! एकबार डोरी सिर के दूसरी ओर गई तो उसने दूसरी ओर रखी ड्रेसिंग-टेबिल पर की तेल एवं औषधियों की शीशियां नीचे गिरा दीं। दूसरी बार आधे गैलरी और आधे घर में रहकर डोरी घुमाई तो वह आचार्य बाबा बर्वे के गले में जा पड़ी। वह मुझ पर पहिले से ही रुष्ट थे। मेरे उपवास की बात सुनकर चाल के सब लोग मेरी दशा के विषय में पूछने आये थे, पर आचार्य बाबा बर्वे पास की कोठरी में होते हुए भी नहीं आए थे, क्योंकि उपवास पर वह अपना एकाधिकार समझते थे।

"यह दुष्टता मेरे गले में डोरी डालकर की, अच्छा हुआ तुम्हारी वय को शोभा न देने वाली इस धींगामस्ती की बलि यदि कोई और होगया होता तो तुम्हारा नाम-निशान भी न बचता। पर मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ।"

"पर···मैंने यह जानबूझ कर नहीं किया, आचार्य ! वज़न कम करने के लिए डोरी पर कूद रहा था।"

"कोई लाभ नहीं होगा!" आचार्य बाबा बर्वे ने भविष्यवाणी की।

"क्यों ?"

"क्यों का क्या मतलब ? जीभ पर तो संयम नहीं है जनाब का। उसके लिये चाहिए संयम, मन की एकाग्रता। उसके लिये कुछ बातें छोड़नी पड़ती हैं!"

"अब देखिये न, मैंने कूदने के लिये लाज तक त्याग दी है। बाबा ?"

"ठीक है, पहिले बोलना छोड़ दो।"

"बोलना छोड़ दूं ?"

"बिलकुल! खाने के लिये तो तुम्हें अपना मुंह बंद करना ही चाहिए, पर बोलने के लिए भी उसका उपयोग बंद करना होगा, तभी तुम्हारी जीभ तुम्हारे काबू में रहेगी।"

"पर बिना बोले मैं कैसे रह सकता हूँ, बाबा!" मैं आर्त स्वर में बोला।

"क्यों ? क्या इतना भी संयम नहीं है तुममें ? मौन की शक्ति महान् है। मौन ही शक्ति है। मौन ही······"

कूदने की डोरी का एक छोर हाथ में पकड़े-पकड़े बाबा एक घंटे तक 'मौन का महत्व' पर बड़बड़ाते रहे। अंत में उनके वाक्-प्रवाह को रोकते हुए मैं बोला, "पर बाबा, मैं बोलूंगा नहीं, तो खाऊंगा क्या ?"

"क्या मतलब! बोलने का खाने से क्या सम्बन्ध ?"

"मैं टेलिफोन आपरेटर हूँ न, बाबा। मुझे तो दिनभर बोलना पड़ता है।"

"फिर तुम्हारा वज़न कैसे कम होगा ?" अत्यन्त करुणापूर्ण चितवन से बाबा ने मेरी ओर देखा। और उनके गले में पड़ी डोरी मैंने क्यों नहीं कस दी, इसका मुझे पश्चाताप होने लगा।

बस फिर क्या था, मैं चिढ़ गया और मैंने निश्चय किया कि बस अब उपवास—वज़न कम होने तक उपवास! अपने दुबले होने के मैं स्वप्न देखने लगा, भरी थाली पर से मैं उठने लगा, बिना दूध और बिना चीनी की तो क्या, बिना शक्कर की चाय भी मैं पीने लगा। चीनी देखते ही मेरे तन-बदन में आग लग जाती। मैं केवल फल खाने लगा। केला देखते ही मुझे उसके भीतर के जीवन-तत्व दिखने लगते और अनादि-तत्व प्राप्त ऋषिमुनियों के समान अष्ट सात्विक भाव मेरे अन्दर में प्रवेश करने लगते। नीबू का रस तो मुझे अमृत सरीखा प्रतीत होने लगा। धारोष्ण दूध के लिये मैं जबतब अंधेरी की गोशाला में जाने लगा। डोरी पर कूदने का कार्यक्रम नीचे की मंजिल पर रहनेवालों की दुष्टता व झगड़े के कारण बंद करना पड़ा। वैसे बिना रुके हुए दस बार कूदने की स्थिति को मैं पहुंच गया था। दफ्तर की छुट्टी होते ही मैं गिरगांव मार्ग पर दौड़ने लगता। केवल सात्विक आहार करना मैंने आरंभ कर दिया था। लगभग दस-बारह दिन तक यह क्रम चला। अपने अन्दर हुए परिवर्तन का केवल मैं ही अनुभव कर रहा था!

छोटे बच्चे जिस प्रकार बीज बोने के बाद प्रतिदिन अंकुर को उखाड़कर देखते हैं कि वह कितना बढ़ गया है, उसी प्रकार मेरी इच्छा होने लगी कि प्रति संध्या मशीन पर अपना वज़न लूं, पर मैंने अपनी इच्छा दबा ली। पूरे एक मास बाद बज़न लेने का मेरा विचार था। एक मास तक घी की एक बूंद भी मेरे पेट में जाने वाली न थी। केवल दूध ! पर दुर्भाग्य से प्रतिदिन गाय का धारोष्ण दूध मिलने की सुविधा न थी। गाय चरानेवाली ग्वालिनों की गायें सबकी-सब सूख गई थीं। केवल पूछताछ में ही दो रुपये का चारा गायों को चराना पड़ता। खैर, दो रुपये में सोलह दूनी बत्तीस गायों की पूछतांछ भी की। बार-बार उन्हीं-उन्हीं गायों के बारे में पूछताछ करने के कारण ग्वालिन भी चिढ़ गई। तथापि आहार-व्रत जोर से चालू रहा।

पन्द्रहवाड़े में केवल दो बार मीठा-भात खाया—एक बार तब जब अण्णा पावशे के यहाँ सत्यनारायण की कथा में हम दम्पति गए और दूसरी बार उस दिन जब पत्नी की मनौती पति ने उपवास शुरू किया है, वह कुशलपूर्वक बीत जाय तो सत्यनारायण की कथा कहलाऊंगी पूरी हुई। उसके अतिरिक्त सोकाजी ने चोरी से एकबार कोलंबी-भात खिलाया था और नीचे की मंजिल पर रहने वाले भाऊजी ने नागपुरी बड़ी-भात भिजवाया था। इन अपवादों को छोड़कर भात का स्पर्श तक मैंने नहीं किया था। अतः चरबीयुक्त द्रव्य शरीर में कम हो गए थे। मेरे इस दृढ़ निश्चय को देखकर चाल के लोगों के मन में मेरे प्रति दुगना आदर उत्पन्न हो गया था, यह मुझसे छिपा न रहा। जो लोग मेरा, मेरी डायट और उपवास का मजाक उड़ाते थे, वे ही अब स्वीकार करने लगे, "पंत, अब वस्तुतः फर्क निखाई देता है।"

जनोबा रेगे सरीखे शैतान पड़ौसी को भी स्वीकार करना पड़ा, "पंत, भाई बड़े दुबले हो गये हो।" लोगों की प्रशंसा से यदि भय था, तो यही कि कहीं उससे मुट्ठी भर मांस न चढ़ जाय ? पर होने वाली प्रशंसा से मैं विचलित होनेवाला थोड़े ही था।

इतने असामान्य मनोनिग्रह और जिह्वा-संयम के कारण कम से कम बीस-पच्चीस पौंड वज़न तो अवश्य कम हो गया होगा, ऐसा मेरा विश्वास था। इसी विश्वास से मैंने दफ्तर के सामने स्थित वज़न तौलने की मशीन पर पैर रखा और इकन्नी डालकर टिकट ली। महीने भर पहिले इसी मशीन ने मेरा वज़न एक सौ इक्यासी पौंड बताया था। एक मास के उपवास, निराहार, शास्त्रोतक आहार, डोरी पर उछल-कूद इत्यादि उग्र साधना के बाद आज टिकट पर जो वज़न मुद्रित था…

पल भर को मुझे विश्वास ही न हुआ। एकसौ वानवें पौंड और भविष्यवाणी

१. छोटी मछली डालकर बनाया गया भात।

थी : "आप बहुत समझदार और गंभीर है।"

लगभग छ: इकन्नी मैंने उस यंत्र में डालीं पर—बज़न ज्यों का त्यों। केवल भविष्यवाणी बदलती रही। अन्त में "आपके जीवन में एक स्त्री आयेगी।" यह पढ़कर ही मैंने अपना हाथ रोका।

आजकल मैंने वज़न और भविष्य दोनों की चिन्ता छोड़ दी है और डायटिंग के चक्कर में तो इस जन्म में कभी फंसूँगा ही नहीं। छिः छिः वज़न का मार्ग वस्तुतः कांटों का मार्ग है।

बाल-यजमान

सदाशिव आठवले

विगत १६ वर्षों से इतिहास और राजनीति-शास्त्र के प्राध्यापक श्री आठवले न केवल गंभीर विचारक, कुशल अध्यापक एवं अपने विषय के प्रकांड पंडित हैं (जिसके परिणामस्वरूप इतिहास एवं राजनीति विषयक ग्रंथों की रचना हुई है) अपितु हास्य रस के कवि, उपन्यासकार, नाटक-कार एवं कहानीकार भी हैं। अब तक वे ललित-साहित्य के क्षेत्र में दो उपन्यास, एक नाटक तथा तीन कथा-संग्रह प्रकाशित कर चुके हैं। उनका हास्य रस की कविताओं का संग्रह 'कागदी पुड्या' अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। प्रस्तुत कहानी में सामाजिक व्यंग की प्रधानता है। मेहमानों के आतिथ्य से उत्पन्न कठिनाइयों का वर्णन तो अनेक कहानियों में उपलब्ध होता है, परंतु इस कहानी में स्वयं मेहमानों को होनेवाले कष्टों का चित्रण कर लेखक ने हास्य की सृष्टि की है।

संजय के कुछ स्थिर मत हैं। उनमें से एक यह है कि मनुष्य को यथाशक्ति किसी के यहां मेहमान बनकर नहीं जाना चाहिये। भारत एक गरीब देश है, यहां मेहमान का आना अच्छा नहीं लगता। फिर भी मेहमान आते ही हैं। उनका आदर-सत्कार भी करना पड़ता है। यहां के लोगों ने मेहमान-नवाजी का भी एक शास्त्र बना लिया है। आतिथ्य की भी एक भाषा बन गई है "आ ऽ ऽ इ ए" "बैठिये !!!" 'हां !!!" "हीः हीः हीः" आदि, आदि। संजय को यह सब पसन्द नहीं। उसे इस सब से चिढ़ है। वह सदा कहा करता है कि व्यक्ति को यात्रा में होटल में ठहरना चाहिये। उसका गणित है कि कुल मिलाकर होटल कभी मंहगा नहीं पड़ता। ऐसा लगता अवश्य है कि किसी परिचित के यहां ठहरना सस्ता पड़ता है, पर अन्ततः वह अधिक मंहगा ही पड़ता है। हम मेहमान बनकर किसी के यहां जाते हैं, एक दिन तक आतिथ्य भोगते हैं; पर आज एक दिन का आतिथ्य करने वाला आगे चलकर चार-छः दिन का अतिथि होता है। यदि वह स्वयं कभी आपके घर न भी आये, तो भी उसके पत्र तो आते ही हैं, जिनमें कुछ कष्ट के, तथा कुछ खर्चे के काम करने के लिये आग्रह होता है। आपको उनका नमक खाने

के बदले, नमक-हलाली करनी पड़ती है, कष्ट सहकर भी उनका काम करना पड़ता है। उनके बच्चों के लिये तो सदा मिठाई ले ही जानी पड़ती है, कभी-कभी वयस्कों के लिये भी भेंट ले जानी होती है। इस प्रकार यदि सम्पूर्ण जीवन का हिसाब-किताब किया जाय, तो होटल में उतरना अधिक सस्ता पड़ता है।

पर जयंत की समझ में यह बात नहीं आती। वैसे तो किसी भी बात में संजय और जयंत की नहीं पटती। संजय की सीधी-साधी बात भी उसे मान्य नहीं होती और भयंकर वाद-विवाद होने लगता है। पर चूंकि संजय को अधिक वाद-विवाद करना अच्छा नहीं लगता। अतः वह अंत में कह देता है, "मर, चल अपने मन की ही कर।"

इस बार भी ऐसा ही हुआ। संजय को कोल्हापुर जाना था। अगले दिन प्रातः एस० टी० के द्वारा जाने का विचार था। कुछ दिन पहिले जयंत बीमार पड़ा था, तो उसकी मां ने कोल्हापुर की अंबादेवी को भेंट चढ़ाने की मनौती की थी। पर वह अभी तक पूरी नहीं हो पाई थी। जयंत को एकदम उसका स्मरण हो आया और वह बोला, "मैं भी तेरे साथ चलता हूं।" संजय ने कहा, ' चल, अच्छा रहेगा।" इसके उपरान्त कोल्हापुर में कहां उतरा जाय, इस संबंध में दोनों में बड़े जोर से विवाद हुआ। संजय का मत था कि किसी अच्छे से होटल में उतरा जाय, पर जयंत चाहता था कि उसके काका के जिगरी दोस्त गोपालराव सिंधे के यहां ठहरा जाय। संजय ने अपने सम्पूर्ण दार्शनिक विचार और तर्क जयंत के सम्मुख बड़े आवेश के साथ रखे। पर जयंत ने उसे, जो मन में आई वे गालियां दीं "तू निकम्मा आदमी है, गधा है, चिड़चिड़े स्वभाव का है" आदि, आदि। और उसके बाद गोपालराव सिंधे के सौजन्य, उनकी पत्नी सौभाग्यवती वेणूताई सिंधे के सुग्रहिणीत्व तथा सेवा-भाव आदि की ऐसी विस्तारपूर्ण स्तुति की कि अंत में संजय ऊब कर बोला "मर, चल, सिंधे के यहां ही चल।"

रविवार को दोपहर के समय लगभग एक बजे संजय और जयंत का तांगा शिवाजी-पेठ के एक ऊबड़-खाबड़ मकान के सामने जा खड़ा हुआ। सामान भीतर ले जाने के लिए कोई नौकर अथवा कुली चाहिये था, पर मार्ग में आसपास कोई दिखाई न देता था। गोपालराव के यहां नौकर हुआ तो वह मिल ही जायगा, अन्यथा वह कोई दूसरा प्रबंध कर देंगे, यह सोचकर जयंत ने धीमे से आवाज दी "गोपाल राव"

पर कोई उत्तर नहीं आया।

इस पर जयंत ने थोड़ी अधिक ऊंची आवाज में पुकारा "गोपाल राऽऽव"

गोपालराव कदाचित् घर में नहीं हैं, अतः बड़े लड़के के नाम से पुकार लगानी चाहिये, यह सोचकर जयन्त चिल्लाया "विसूऽऽ"

एक बार, दो बार, पुकारा। पर सर्वत्र पूर्ण शान्ति थी।

अब किसे पुकारा जाय ? आठ वर्ष पूर्व जयन्त गोपालराव के पास घड़ी-भर को बैठ गया था, उस समय उनके पांच वर्ष का एक विसू नाम का लड़का था, बस इतना ही उसे याद था। उसके अतिरिक्त उस समय उनके दो वर्ष का एक लड़का तथा चार दिन की एक लड़की थी। पर उन दो बच्चों के नाम उसे याद नहीं थे। अब किस का नाम लेकर आवाज़ दे ? एक बार उसकी इच्छा हुई कि बेणूताई का नाम लेकर आवाज लगाए, पर वह भद्दा लगेगा यह सोचकर उसने वह विचार त्याग दिया। दो मिनिट तक वे दोनों एक दूसरे का मुंह देखते रहे।

"होटल में उतरे होते तो···?—"संजय कहने लगा।

"चुप रह, बड़ा चतुर बनता है।" जयंत ने उसे डांट दिया। इतने में तांगे के चारों और बीस-पच्चीस नंगे-धड़ंगे बच्चे एकत्र हो चुके थे। उनमें से दो बच्चों एक लड़के तथा एक लड़की के शरीर पर तनिक अधिक स्वच्छ कपड़े थे। उनकी ओर देखकर जयन्त ने पूछा, "बच्चे, तुम्हारा क्या नाम है ? और बेबी, तेरा क्या है ?"

"अरुण गोपाल सिंधे।"

"शोभा गोपाल सिंधे।"

"वा: वा: बहुत अच्छे। बाबा घर पर हैं न ?"

"नहीं।"

"नहीं ?"

"नहीं, आज पिताजी और अम्मा पड़ोस के सब लोगों के साथ ट्रिप पर गए हैं, हमें घर पर छोड़कर। मां ने विसू दादा को हमारी देख-रेख करने के लिये कहा था, पर वह हमारी चिन्ता क्यों करने लगे ? वह तो गए क्रिकेट खेलने। वह पिताजी तथा मां की बात तनिक भी नहीं सुनते।" अरुण बोला।

"दादा बड़े बुरे हैं।" शोभा ने अनुमोदन किया।

"ठीक, अच्छा जयन्तराव, अब तो होटल चलें" संजय बोला।

"चलो" जयन्त तांगे में बैठने लगा।

संजय और जयन्त स्तब्ध रह गए, कुछ देर तक एक दूसरे की ओर देखते रहे।

"अरे, आप हमारे यहाँ मेहमान आए हैं क्या ?" अरुण ने प्रश्न किया।

"हाँ, आए तो थे पर अब हम दूसरी ओर जाते हैं"—संजय। "अरे, रुकिये, रुकिये, हमारे घर चलिये ; सांयकाल को पिताजी और मां आ जायेंगे।"—शोभा।

"तो फिर हम सांयकाल को आ जायेंगे।"

"नहीं, नहीं, अभी चलिये। हमारे माता पिता जी सदा अतिथियों से 'आइए, आइए, कहते हैं, जाओ, कभी नहीं कहते।"—अरुण। "हां जी, अतिथि

जाने को होते हैं, तब भी 'आइए' कहते हैं"—शोभा। संजय और जयन्त हँसने लगे। संजय का मत भी थोड़ा-सा बदलने लगा था। सिंधे परिवार के विषय में अब उसका मत अच्छा होने लगा था। वह बोला, "ठीक है, चलो।"

"मेहमान, मेहमान" कहते तथा तालियां बजाते-बजाते अरुण और शोभा दौड़ते-दौड़ते आगे तथा कन्धों पर और हाथों में सामान लिये हुए संजय और जयन्त पीछे-पीछे सरकने लगे। सिंधे का घर नीचे की मंजिल पर था, संजय को कम से कम यह बात अच्छी लगी, क्योंकि वहाँ का ऊंचा, खड़ा जीना देखकर तो उसकी कमर ही टूट गई थी। सामान को ऊपर ले जाने का अर्थ होता···। सामान को कोने में फेंककर उन्होंने दीर्घ निश्वास छोड़ा।

"आप को हाथ-मुंह धोने हैं न ?" अरुण ने बड़ी विनय से पूछा। उसके 'आप को' उच्चारण पर संजय को बड़ा मजा आ रहा था।

"रुकिये, मैं दो मिनिट में गर्म पानी लाती हूं।" शोभा प्रौढ़ों की तरह बोली। संजय की इच्छा हुई कि प्यार से उसे चूम ले, पर अपरिचय के कारण वह ऐसा न कर सका।

"नहीं, नहीं हमें गर्म पानी नहीं चाहिये, ठंडे से काम चल जायेगा" जयन्त।

"नहीं, अभी गर्म किये देती हूँ।" शोभा।

"नहीं, बिल्कुल नहीं।" संजय।

"वाह, यह कैसे हो सकता है ? आप इतनी लम्बी यात्रा में थक गए होंगे" अरुण।

"रहने दो, हमें ठंडा पानी ही अच्छा लगता है।" संजय।

हां, ना, करते-करते अन्त में पतीले में अवशिष्ट गुनगुने पानी पर ही दोनों पक्षों को सन्धि करनी पड़ी। हाथ-पैर, मुंह आदि धोकर संजय और जयन्त घर में आए। शोभा तौलिया हाथ में लिये द्वार पर खड़ी थी। संजय ने उसके हाथ से तौलिया ले लिया और उसके एक छोर से अपना मुंह पौंछ कर उसने वह जयन्त को दे दिया। जयन्त ने उसके दूसरे छोर से अपना मुंह पौंछ डाला और संजय से कहा—

"संजय, जरा अपना शीशा-कन्घा तो दो।"

"यह लीजिये, मैं शीशा-कंघा ले आई हूं।" शोभा ने दोनों वस्तुएं आगे रख दीं।

जयन्त ने दर्पण में अपना मुख देखा और उसके मुख से हल्की सी चीख निकल पड़ी "ऊ ऊ ऊ ऽ ऽ"

"क्या हुआ रे ?" संजय ने एकदम ऊपर देखा। वस्तुतः चीखने की ही बात थी। जयन्त का मुख कालिमायुक्त हो गया था। दोनों ने सहज ही तौलिये की ओर देखा। बिल्कुल स्वच्छ था, धोबी के यहां से आया हुआ, पर उसका एक कोना

बिल्कुल काला पड़ा हुआ था। शोभा उसकी ओर देखती हुई खड़ी थी। संजय जयन्त से अंग्रेजी में बोला।

"अतिथियों का आदरातिथ्य करने के आवेश में यह बच्ची इतनी निमग्न हो गई कि अच्छा-खासा स्वच्छ तौलिया निकाल कर लाई, पर जल्दी-जल्दी में लाने के कारण उसमें कुछ कालौस लग गयी। बड़ी फुर्तीली प्यारी बच्ची है न?" "पर महामूर्ख, यदि होटल में उतरे होते, तो ऐसे व्यक्ति कहां से मिलते?" जयंत ने आंखें चढ़ाते हुए अंग्रेजी में कहा। संजय जरा चिढ़ गया था। पर वह उस भाव को प्रकट न करते हुए सीटी बजाने लगा।

तदुपरान्त नये कपड़े निकालकर उन दोनों ने पहने। जयन्त के द्वारा दी गई काजुओं की पुड़िया लेकर शोभा भीतर चली गई और इधर इन दोनों ने सिगरेट जलाई।

घर में कुछ काना-फूंसी करने के उपरान्त अरुण और शोभा पुन: बाहर आए। नीचे सरकती हुई चड्डी को सम्भालते हुए अरुण यथा-सम्भव विनम्रता से खड़ा रहा और बाएं हाथ से दांई चोटी के रिबन से खेलते हुए शोभा बोली, "अंगीठी जल गई है, दाल चढ़ा रही हूं और चावल भिगो दिये है। आप खाना तो खायेंगे न?"

फिर क्या था—जयन्त विजयी मुद्रा से और संजय थोड़े लज्जित चेहरे से एक दूसरे की ओर देखने लगे। फिर जयन्त बोला।

"नहीं, नहीं। हमें खाने के लिये तो बाहर एक मित्र के यहां जाना है।"

"वाह, वाह, यह कैसे हो सकता है? ऐसा कभी हुआ है क्या? घर छोड़कर दूसरे के यहां भोजन करना!" अरुण का यह पुरखों का सा भाव बड़ा मजेदार था। पर कुछ भी हो, उन बच्चों से भोजन बनवाना अमानुषिक था। खाने के लिये तो उन्हें बाहर ही जाना चाहिये, इस बात में संजय और जयन्त दोनों का एक मत था। संजय बोला, "बच्चो, हम आते हुए उन मित्र से कह आए हैं। अब उनका खाना व्यर्थ जायगा न? और फिर उनका कितना उत्साह-भंग होगा? हम शाम को तुम्हारे यहां आ जायेंगे।"

बहुत देर तक दोनों बच्चों ने उनकी बात न सुनी। शोभा तो अड़ ही गयी। संजय और जयन्त को भय लगने लगा कि पता नहीं वह मानेगी कि नहीं। अन्त में किसी तरह बात बनी। जयन्त ने तरकीब निकाली।

"हम लोग चार बजे तक लौट आएंगे और शोभा, तुम्हारे हाथ की चाय पीएंगे। अब तो ठीक है न?"

यह बात सब को जच गई। शोभा ने बार-बार कहा कि वे लोग चार बजे से पहिले ही लौट आएं। "बिल्कुल निश्चित" यह वचन देकर संजय-जयन्त बाहर चल दिये।

चार बजने में पांच मिनट पर वे दोनों लौट आए। शोभा नया फ्राक पहन कर उनकी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी थी। पिता का घर पर रह गया चश्मा आंखों पर चढ़ाये अरुण समाचार-पत्र पढ़ रहा था। अतिथियों की ओर मुड़कर बैठे ही बैठे, ठोड़ी छाती पर टिकाए, चश्मे के शीशों से आंखें बाहर करते हुए गंभीरतापूर्वक उसने पूछा, "ह: ह: ह:। घूम आए ? अच्छा लगा आपको हमारा कोल्हापुर ? यहां की आबहवा अच्छी है न—आपके यहां से— हां ठीक। आपका गांव कौन-सा है !"

अतिथि इस नकल पर बड़े प्रसन्न हुए और हँस भी पड़े। परन्तु उनकी वह हंसी अरुण को अच्छी नहीं लगी। उसके प्रश्न का उत्तर उसे अभी तक नहीं मिला था। उसने पुन: प्रश्न किया, "कहां के हैं आप ?"

"मालवण के"—जयंत

"मालवण अच्छा—मालवण अच्छा, वाह, वाह, क्या कहने"—अरुण

"वाह वाह क्या ?" संजय

"नहीं-नहीं, अर्थात् वाह वाह"—अरुण

"अरे रे।"—संजय

"अच्छा, मालवण कोंकण में ही तो है न ?"—अरुण

"हां, कोंकण में ही"—जयंय

"कोंकण, अच्छा, वाह"—अरुण

शोभा तभी चाय ले आई, अत: यह वाह-वाह का प्रकरण समाप्त हो गया। मेज पर कप रखते हुए वह धीरे से बोली

"लीजिये न।"

"हां, हां लेते हैं।"

दोनों कपों के कान टूटे हुए थे, अत: उन्हें पकड़ना कठिन था। खैर जैसे-तैसे उन्होंने प्याले मुंह से लगाये।

"अरे तुम नहीं पिओगे हमारे साथ ?" संजय ने पूछा।

"नहीं, हम चाय कभी नहीं पीते। हम तो प्रात: सांय धारोष्ण दूध पीते हैं जिससे हमारा स्वास्थ्य सदा ठीक रहता है। टानिक का बुरा परिणाम हम पर नहीं होता और दूध से हमें विटामिन्स ए० बी० सी० डी० मिलने के अतिरिक्त…"

अरुण के इस ज्ञान की ओर लक्ष्य देने की मनस्थिति में अतिथिगण नहीं थे। चाय के दो दो घूंट पीने के बाद ही उनके चेहरे अजीब बन गए थे। वे हतबुद्ध हो गए थे। चाय ऐसी कैसे हो सकती है ? दोनों एक दूसरे की ओर सहानुभूति से देख रहे थे। अंत में संजय ने जयंत को धैर्य बंधाया। वह अंग्रेजी में बोला "अरे जाने दो हम बाहर जाकर कहीं चाय पी लेंगे। बेचारी बच्ची है ही कितनी बड़ी। वह भला चाय कैसे बनाती ? जैसा उससे बन पड़ा, वैसी बना दी। स्वयं चाय बना

लाई यही क्या कम है।"

"वह तो ठीक है रे। लड़की की प्रशंसा करने को मैं मना नहीं करता, पर यह घूंट तो गले के नीचे उतरता ही नहीं।" जयंत अंग्रेजी में रोने लगा।

"अरे मेरे गले से ही कहां उतर रहा है। पर करें क्या? चल पी डाल। अपन देशी फार्मेसी का लिव्हर एक्स्ट्रेक्ट नहीं पीते क्या? कभी काढ़ा पीया है या नहीं?" संजय समझाने लगा।

"पीता हूं, पीता हूं।" जयंत ने उसे रोका

फिर दोनों ने प्याले खाली कर डाले और हिन्दी चित्रपट के विनोदी अभिनेताओं के समान मुंह बनाते हुए इधर-उधर का बहाना बना कर बाहर निकले, तो ठीक साढ़े पांच बजे लौटे।

रसोई में बच्चों की चीखपुकार चालू थी। दोपहर को क्रिकेट खेलने के लिए निकले विसू दादा लौट आये थे और अपने छोटे भाई-बहन की कवायद लेने में मग्न थे। अरुण और शोभा डरते-डरते पर स्पष्ट उत्तर दे रहे थे। बाहर के कमरे से अतिथियों को सम्पूर्ण संवाद स्पष्ट सुनाई दे रहा था।

"मेरा तौलिया किसने गंदा किया?"—विसू दादा

"मेहमानों ने"—अरुण

"मेहमानों को मेरा स्वच्छ तौलिया क्यों दिया? मां सदा मेहमानों को गंदा तौलिया देती है, मालूम नहीं?"—विसूदादा

"हां, मालूम है।"—शोभा

"फिर?"—विसूदादा

"पर मैं क्या करती? घर में एक भी गंदा तौलिया न था, अतः स्वच्छ तौलिया लिया औ उसी को अंगीठी से पौंछ कर काला कर दिया तथा मेहमानों को दे दिया। ऐसी गल्ती थोड़े ही कर सकती थी मैं!"—शोभा का स्पष्टीकरण। और यह इतनी सारी चाय किस के लिये बनाई थी, क्या मेहमानों के लिए?"—विसूदादा

"हां"—शोभा

"हां के क्या मतलब? मां क्या यही करती हैं?"—विसूदादा

"मां की तरह ही मैंने किया था"—शोभा

"गधी, तुझमें बुद्धि है क्या?" पता है मां क्या करती है? पहिले बनाई हुई चाय की छूंछ को ही पुनः पानी में डालकर वह चाय बनाती हैं और उसमें बहुत थोड़ी चीनी तथा सैपरेटा का दूध डालती है।"—विसूदादा

शोभा, "मैंने भी तो वही दूध डाला है। चीनी तो बिल्कुल डाली ही नहीं।"

"पर चाय?"—विसूदादा

"उसका हमने···?—अरुण

"उसका क्या ? पहिली बनाई चाय किसने पी ?"—बिसूदादा

"किसी ने नहीं। हम चाय नहीं पीते, तुम्हें पता ही है न ? फिर क्या करते, पहिली चाय को मोरी में डाल दिया, फिर उसी की छूंछ से दूसरी बार चाय बनाकर मेहमानों को दी। अब बताओ बन गई न मां की बनाई चाय की तरह ?"—शोभा।

'विसूदादा, अब चिल्ला रहे हो, तो पहिले से क्यों नहीं आए ? मैं तो चक्कर में पड़ गया। मुझे पिताजी की तरह बोलना कहां आता है ?"—अरुण

"ज्यादा मत बोलो। अच्छा, अब चलते बनो···मैं देखता हूं मेहमानों को"—विसूदादा।

मेहमानों ने खांसकर अपनी उपस्थिति प्रकट की। विसूदादा कोहनियों तक हाथ जोड़ते हुए, पीले दांत दिखाते हुए बाहर आए और बोले, "ओ हो हो हो ऽ हो ऽ हो। आइए ऽ आइए ऽ मेहमान"

"आते नहीं, अब तो हम जाते हैं। हमें इसी गाड़ी से बम्बई जाना है।" जयंत ने बैग उठाते हुए कहा।

"तब तो कोई इलाज़ नहीं। यदि हमसे भूल से कोई गल्ती हो गई हो, तो क्षमा कीजिये, हां।"विसूदादा ने मुंह बनाया।

"कुछ नही, कुछ नहीं। सब कुछ ठीक ही हो गया।" मेहमानों ने बत्तीसी दिखाते हुए मुंह टेढ़ा किया।

"अच्छा।"

"अच्छा।"

बंडू का आइसबैग

गंगाधर गाडगील

सन् १९२३ में जन्मे श्री गाडगील बहुमुखी प्रतिभावाले साहित्यकार हैं। एक कुशल अध्यापक तथा श्रेष्ठ समालोचक होने के साथ-साथ वह एक सफल कथा-लेखक भी हैं। अब तक उनके १५ से अधिक कथासंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'कबुतरें', 'तलावांतले चांदणें' और 'ओले उन्ह' अधिक प्रसिद्ध हैं। कथाओं के अतिरिक्त उन्होंने उपन्यास, प्रवासवर्णन, नाटक, नाटिका, तथा बाल-साहित्य भी लिखा है। वे अंग्रेजी भाषा में भी कहानी लिखते हैं। उनमें से कुछ के अनुवाद भारत तथा विदेशों में अनेक मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हें मराठी नवकथा का जनक कहा जाता है। जीवन के सूक्ष्म और सरल अनुभवों से उनकी कृतियां ओतप्रोत हैं। उनकी विनोद-बुद्धि उनकी सभी कृतियों में सहज ही दृष्टिगत होती है, यहां तक कि गंभीर लेखों में भी वह सर्वत्र झांकती दिखाई देती है। मराठी के अन्य विनोदकारों के सदृश इन्होंने भी दो अमर पात्रों—बंडू और स्नेहलता—की सृष्टि की है; उनका विनोद स्वतंत्र प्रकृति का है; उसमें न तो शाब्दिक चमत्कार का अतिरेक है और न सामाजिक कुरीतियों की आलोचना का अस्तर ही जोड़ा गया है। उनके विनोद की आत्मा है—स्वच्छंद कल्पना की सहायता से निर्मित रंगबिरंगी उच्छृंखलता जिसका उनके पूर्व के साहित्य में अभाव था।

क्या हो रहा है बंडो पंऽऽत !" पुकारते हुए राजा मुक्त हंसी हंसता हुआ घर के भीतर चला आया।

वह पुकार सुनकर बंडू एक क्षण को घबरा गया और फिर खिसियाहट की हंसी हंस दिया क्योंकि बंडू को राजा की अल्हड़ प्रकृति का बचपन से ही ज्ञान था। बचपन में वह हमेशा पाठशाला में पैन्सिल लाना भूल जाता और शिक्षक के 'कापी खोलो, पैन्सिल निकालो' कहते ही, इस चतुराई से बंडू से पैन्सिल मांगता कि बंडू को चुपचाव पैन्सिल देनी पड़ती और स्वयं शिक्षकों की मार खानी पड़ती।

इतना ही नहीं, बंडू पर मार पड़ते समय राजा खी-खी कर हंसा भी करता।

"ऐं ! बिलकुल निश्चिन्त होकर तान रहा है रे ! नो वरी, ऐं, मजे हैं तेरे भाई ! एक ओर ऑफिस में काम नहीं, दूसरी ओर घर का सारा प्रबंध भाभी करती ही हैं। सभी का ऐसा भाग्य कहाँ ?" राजा बंडू की ओर देखता रसोई की ओर तीर की तरह चला।

बंडू खोखली हंसी हंसा। उसे ऐसा लग रहा था जैसे किसी ने उसके कॉलर के पीछे बर्फ का टुकड़ा रख दिया हो।

राजा रसोई की ओर मुड़ा और द्वार पर खड़े होकर बोला, "क्यों भाभी ! कैसी तबियत हैं ? ऐं, ठीक नहीं जान पड़ती। पीहर से आई थीं, तब का तेज चेहरे पर नहीं दिखाई देता ! काम अधिक करना पड़ता हैं क्या ?"

"काम तो अधिक नहीं। पर प्रातः उठने को मन नहीं होता ज़रा भी ! एक बार उठ जाऊं, फिर तो कुछ नहीं मालूम देता पर।…"

"कुछ नहीं कैसे ? उठते समय सुस्ती ! क्यों रे बंडू, भाभी के स्वास्थ्य की ज़रा तो चिन्ता किया कर, डाक्टर को दिखा ला न, टॉनिक-वॉनिक ला दे। क्या बिल्कुल ही घर की तरफ ध्यान नहीं है ? ऐं !" बंडू को लगा जैसे वह किसी लंगड़े कुत्ते की घिसटती टांग मात्र है।

"आपने इन्हें कहा, अच्छा किया। यदि मैं कहती, तो समझते त्रिया-चरित्र कर रही है।" स्नेहलता इतने में ही गद्गद् हो चुकी थी। अपने स्वास्थ्य के विषय में बातचीत होने पर भला कौन स्त्री है, जो गद्गद् न हो !

"यह कुछ नहीं भाभी, तुम जितना अधिक दबोगी, उतना ही यह अधिक लापरवाह बनेगा। तुम इसे ठीक रास्ते पर लाओ न !"

"यही तो भाईसाहब ! मैं कितना ही काम क्यों न करूँ, पर इस घर में उसकी कोई वक़त नहीं।" स्नेहलता मखमली स्वर में बोली। अपनी पूंछ में किसी ने पटाखों की लम्बी डोरी बांधकर उसमें आग लगा दी हो, ऐसी दाहक अनुभूति अब बंडू को हो रही थी।

"यह कुछ नहीं भाभी, यह हमारा बंडू थोड़ा नासमझ है। इतना बड़ा होगया पर समझ अभी तक नहीं…"

"अपने मतलब की तो खूब समझ हैं इन्हें, पत्नी ने कुछ कहा कि बस…" स्नेहलता मन ही मन बड़बड़ाई; पर बंडू और राजा दोनों ने उसकी बात सुन ली।

"हा…हा…हा, भाभी वैसे ज़्यादा नहीं बोलतीं, पर जब बोलती हैं तो मर्म की बात कहती हैं।" राजा हंसते-हंसते लोटपोट होने लगा। इधर बंडू पीछे सरकता सरकता मानो किवाड़ के पीछे छिपे झींगुरों का ही अंग बन गया था, पर [illegible] अपनी तुच्छता से झिड़क रहे थे। उधर स्नेहलता ने विनय से गर्दन झुका ली थी।

"खैर, यह तो तुम पति-पत्नी का झगड़ा है। मैं इस में क्यों पड़ूं! पर भाभी तुम अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखा करो। और बंडू देख···पर नहीं, मैं ही किसी दिन भाभी तुमको ले चलूंगा। वह डाक्टकर कोल्हटकर एम. डी. हैं न! मेरी उनसे अच्छी दोस्ती है। उनके पास मैं ही आपको ले चलूंगा।"

अब तक बंडू को पूर्ण विश्वास हो गया था कि झींगुर भी उससे कहीं अधिक महान् हैं।

"आप बेकार की चिंता करते हैं, भाई साहब। मुझे हुआ ही क्या है?" स्नेहलता ने कौतुक से से गर्दन झुका ली।

"अरे हां भाभी, यह डाक्टर की बात चली तो मुझे अच्छी याद आ गई। हमारे वह क्षीरसागर हैं न, आजकल बेचारे बीमार हैं।"

"क्यों, क्या टॉयफाइड हो गया है?" बंडू ने बातचीत में भाग लेने का प्रयास किया।

"धन्य है तुम्हें बाबा। लोगों को टॉयफाइड ही हो, यह भी मरी कैसी इच्छा!" स्नेहलता ने नाक-भौं सिकोड़ी।

"अरे मेरी इच्छा क्यों होती? लोगों की बीमारी से मुझे क्या लाभ! मैं तो यह चाहता हूं कि बीमार कोई पड़े भी तो हार्टफेल हो ताकि व्यर्थ की यातना तो न भोगनी पड़े।" बंडू ने बात संभालने की कोशिश की।

"लो, लोगों के बीमार पड़ने मात्र से इन्हें सन्तोष नहीं। यह तो चाहते हैं कि लोग हार्टफेल होकर मर ही जाँय!"

"च् च्, ग़लत अर्थ क्यों लगाती हो! मेरा मतलब है हार्टफेल से कष्ट नहीं होता। अब तुम अपनी मौसी को ही देखो, बेचारी जलोदर से इतने दिन से पीड़ित हैं। हमारे यहाँ दो मास रहकर इलाज कराया, पर क्या कुछ लाभ हुआ? उससे तो···"

"बऽऽस, देखा भाईसाहब, ज़रा मेरी मौसी यहाँ दो महीने रह गईं तो उसीसे यह परेशान हो गए। इनकी इच्छा तो यह है कि वह मर जाय। पर हम चाहते हैं जितने अधिक दिन जीवित रहें, उतना ही अच्छा!"

"पर मेरे कहने का यह अर्थ थोड़े ही था।"

"बस भी करो अब, दुनियाभर के बुद्धू से पाला पड़ा है।"

बंडू का झींगुरावतार अब तक कभी किवाड़ से पिचकर मर चुका था।

जाने दो भाभी, इस बंडू को अभी भी कुछ समझ नहीं है—हां, तो मैं कह रहा था कि हमारे वह क्षीरसागर बीमार हैं।"

"कौन है यह क्षीरसागर?"

"अरे और कौन, हमारे मामा के साढ़ू हैं।"

"अच्छा, अच्छा?" किसी का किसी से क्या सम्बन्ध है, यह जानकर स्त्री

... जो गंभीर समाधान मिलता है, वह स्नेहलता के मुख पर झलक आया।

"... की तबियत ठीक नहीं है। अतः घर के लोग आइसबैग लेने बाजार जा रहे थे, मैंने कहा, "अरे बेकार में क्यों पैसा खर्च करते हो? हमारी भाभी के यहाँ आइसबैग है, और वह मुझे कभी मना न करेंगी। मैं अभी उनके यहाँ से लाए देता हूं।"

"हूँ!" स्नेहलता उधर ध्यान न देती हुई बोली।

'क्या कहूं भाई, मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि किसी को अड़चन में देखकर उसकी सहायता को दौड़ पड़ता हूँ। सोचता हूं जितना हो सके, उतनी सेवा इस जीवन में कर डालूं।"

"और नहीं तो क्या, अपनों की हम ही सहायता न करेंगे, तो कौन करेगा? पर इनको देखिए, मेरे पीहर से कोई आजाता है तो यह सोचते हैं हमें लूटने आए हैं।"

"अरे भाभी किसी-किसी का स्वभाव ही ऐसा होता है। पर तुम्हारा मेरा स्वभाव मिलता है। अपने घर में कोई वस्तु हो और मालूम हो जाय कि किसी को उसकी आवश्यकता है, तो स्वयं दे आता हूँ।"

"मुझसे भी इंकार नहीं होता" यह कहते ही स्नेहलता को लगा जैसे उससे कोई भारी भूल हो गई है। उसे याद हो आया कि उसके थर्मामीटर, एनिमा, दो कम्बल, प्लेट-प्यालों का सैट आदि किस प्रकार मांगे जाकर कभी वापिस नहीं आए। अतः अब उसे चिन्ता होने लगी, पर तीर हाथ से निकल चुका था।

इतने में उसका ध्यान बंडू की ओर गया। वह मुंह विगाड़कर हाथ के पंजे सिर के पास लेजाकर हिला रहा था। उसका चेहरा अत्यधिक कठोर हो गया था। स्नेहलता को लगा कि बंडू को फिट आने वाला है। वह चीख पड़ी, "अरे, इन्हें क्या हो गया?"

उसके ये शब्द सुन 'बेबंदशाही' नाटक में कबजी को मारने के लिए दौड़ता हुआ खंडोबल्लाल जिस प्रकार संभाजी का कठोर स्वर सुनकर जहाँ का तहाँ ठिठक कर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार बंडू उसी मुद्रा में ठिठक गया।

बंडू संकेत से स्नेहलता को कह रहा है कि वह आइसबैग न दे, यह बात राजा तुरन्त समझ गया, और बंडू को भी पता चलगया कि राजा ने उसका संकेत समझ लिया है। अतः वह बड़ा लज्जित हुआ और पागल की तरह बोला, "हें, हें। मैं जरा मजाक कर रहा था।"

"मज़ाक! हाय रे मेरे भाग्य, मुझे तो लगा तुम्हें फिट आ रहा है।" 'हूं, हूं, हूं!" बंडू ने टालने की चेष्टा की।

पर स्नेहलता घबराकर पीछे हटते हुए बोली, "पर यह पागलों की तरह क्या कर रहे थे?"

राजा ने भी अनजान बनते हुए कहा, "पता नहीं, क्या बात है ?" बंडू को लगा जैसे वह डिसैक्शन-टेबिल पर पड़ा मेंढक है और उन दोनों की पैनी दृष्टि उसकी अंतड़ियों को बाहर निकाल कर परीक्षा कर रही है। उसके कंधे झुक गए, चेहरा लटक गया और उसकी स्थिति ठीक मूर्छित मेंढ़क की सी हो गई। वह सोचने लगा कि आइसबैग तो क्या यदि सर्वस्व देकर भी उस समय राजा को बिदा किया जा सके तो अच्छा हो।

"अच्छा भाभी, वह आइसबैग मुझे दे दो। मेरा क्या, मैं तो और चार घंटे यहाँ गप्पें मारता रहता, पर रोगी की आवश्यकता भी देखनी है न।" राजा बड़ी सरलता से बोल गया। स्नेहलता भी निरूपाय हो बैग देने के लिए उठी। अपनी लापरवाही पर उसे पश्चाताप हुआ। पर अब देर हो चुकी थी। तभी बंडू ने आइसबैग बचाने का अन्तिम प्रयत्न किया। वह बोला, "अरे, पर हमारा आइस-बैग तो ताम्हनकर ले गया है न ?"

बंडू का यह कथन अर्धसत्य था। ताम्हनकर—आइसबैग ले अवश्य गया था पर एक दिन पूर्व ही लौट आया था—अर्थात् दर्जनों चक्कर लगाने और हजार बातें सुनने के बाद बंडू ने वह वसूल कर लिया था।

बंडू के ये सांकेतिक शब्द सुनकर स्नेहलता कहने ही वाली थी "हाँ, जी"। पर तभी राजा बोला, "अरे। यह बात क्या मुझे पता नहीं ? मैं पहले ही ताम्हन-कर के यहाँ होकर आया हूं। मेरा विचार था कि सीधे उसी से ले लूं, बाद में भाभी को बतला दूंगा कि वह मेरे पास है। पर वह बोला कि कल ही तुम उससे ले आए हो।"

यह सुनकर तो बंडू का दम ही निकल गया। सम्पूर्ण कमरे में बिखरे पड़े अपने शरीर के टुकड़ों को वह देखता रहा; उन्हें टोकरी में रख घूरे पर डाल आए, इतना भी होश उसे न रहा।

"वह नहीं, मैं लाई थी।" स्नेहलता ने उसकी स्थिति संभाली और आइसबैग राजा को दे दिया। फिर दोनों ने दुखातिरेक से गर्दन झुका ली। वे जानते थे कि आइसबैग अब हमेशा के लिए गया।

बंडू ने भी अश्रुपूर्ण नेत्रों से आइसबैग की ओर देखा। पर यकायक उसमें विलक्षण आवेश उमड़ पड़ा और उसने निर्णय किया कि वह प्राणों की बाजी लगाकर भी राजा से भिड़ जाएगा। चेहरे को यथाशक्य निर्विकार बनाते हुए बोला, "अच्छा, पर लौटाओगे कब उसे ?"

"कब लौटाऊंगा ? अरे क्या मुझे घर में रखकर इसकी पूजा करनी है ? और फिर अपने लिए थोड़े ही ले जा रहा हूं ! वह बेचारा क्षीरसागर मुसीबत में पड़ा है, अतः सोचा अपन से जितनी सहायता बन पड़े, उतनी कर दूं।"

"वह तो ठीक है, पर चीज लौट आएगी इसका विश्वास तो होना ही चाहिए"

[illegible]लता ने कोमल स्वर में कहा।

"लौट आने का विश्वास! और मैं बीच में किस लिए हूँ! भाभी, उसकी [illegible] भी चिन्ता न करो। मैं स्वयं लौटा जाऊंगा, तुम्हारी चीज अगर टूट गई [illegible] भरपाई भी कर दूंगा···अपनी गांठ से पैसे गिन दूंगा। अब तो ठीक है न! [illegible] अब भी ·········"

"अरे मेरे कहने का मतलब यह थोड़े ही था! पर अपनी···" स्नेहलता। "तुम्हारे मन में भले ही यह बात न हो भाभी, न हो क्या, है ही नहीं। मुझे आपका स्वभाव पूरी तरह मालूम है। पर मुझे अपनी ओर से तो सारी बातें [illegible]ट कर ही देनी चाहिए न! चीज दो-चार रुपये की ही क्यों न हो··और फिर तीन-चार वर्ष की बरती हुई भी क्यों न हो, फिर भी जिसकी हो, उसे वापिस [illegible] करनी ही चाहिए।"

"क्या हमारी आइसबैग देखी है?" स्नेहलता लज्जित सी होकर बोली, कम दामों की चीज़ खरीदने पर उसे बंडू के प्रति क्रोध हो उठा।

"अरे, यह दो-चार रुपये की ही तो है······"

"छः रुपये की है जनाब!" बंडू ने ढीठ होकर कहा।

"ठीक है बाबा, छः रुपये की ही सही। बड़ी मूल्यवान है यह तेरी आइसबैग, बस।" राजा ने बड़ी कठिनता से तुच्छता की हंसी रोकी। स्नेहलता को भी बंडू की क्षुद्रता देखकर मन हुआ कि धरती में गड़ जाय। राजा पुनः बोला, "मैं क्या कह रहा था? हाँ, एक बार मैंने ऑफिस में एक व्यक्ति से पैन्सिल ली थी, पैंसिल यानी सिर्फ चारआने की चीज़, कोई छः रुपये की नहीं।" यहाँ राजा ने पुनः हास्य-ध्वनि की और बंडू ने सातवीं बार खिड़की से कूदकर प्राण देने चाहे। पर वह लौटाना भूल गया। साधारणतः ऐसा होता नहीं, पर उस दिन हो गया, पर मज़ेदार बात तो यह हुई कि वह आदमी कर्ज़ देने वाले पठान की तरह मेरे पीछे पड़ गया। प्रतिदिन ऑफिस में पहुंचते ही पैंन्सिल मांगता और अन्त में तो कमाल [illegible]। [illegible] दिन स्वयं मेरे घर आ पहुँचा। अब बताइए?" मनुष्य की [illegible] आश्चर्य से राजा का मुखमण्डल स्वयं उद्गार-चिह्न बन गया।

[illegible] खिसियाहट की हंसी हंसी। उनके मन में शंका हुई कि कहीं वह [illegible] था।

"[illegible] कहने की जरूरत तो नहीं, पर विश्वास रखिए आपका आइसबैग [illegible] आएगा, उसकी चिन्ता न करें।" यह आश्वासन दे और आइसबैग [illegible] राजा चलने को हुआ। बँडू का साहस तब तक लगभग समाप्त [illegible], तथापि जीव मुट्ठी में रख वह एक बार पुनः बोला, "वैसे कोई बात [illegible], पर [illegible] दी हुई कोई चीज नहीं लौटी है, अतः यह बात हुई।"

राजा पीछे मुड़ा। उसका चेहरा प्रश्नचिह्न सरीखा हो उठा था तथा उस प्रश्नचिह्न से उद्विग्नता की लपटें निकल रही थीं। "क्यों रे, कौन सी चीज़ लौट कर नहीं आई तेरी ?—हाँ, उस थर्मामीटर की बात कहता होगा !" थर्मामीटर शब्द का उच्चारण राजा ने ऐसे किया मानो बम्बई में आजकल थर्मामीटर हर जगह मुफ्त बंट रहे हैं और लोग घिघियाकर कह रहे हैं, 'अरे बाबा, बस अब नहीं, घर भरा पड़ा है इनसे ! अब रखने तक को जगह नहीं।" और फिर भी थर्मामीटर कम्पनी के संचालक लोगों के हाथ में थर्मामीटर ठूंसे जा रहे हैं।

बंडू जब कुछ न बोला, तो राजा ने आगे कहा, "तेरा थर्मामीटर लौटाने के लिए मैंने बिबकराव से दस बार कहा, विश्वास न हो तो मेरे सामने पूछ देखना। अंत में मैंने स्वयं उससे लेकर अपनी लड़की के हाथ भिजवाया था, पर रास्ते में बेचारी गिर पड़ी और थर्मामीटर टूट गया। तेरी तो केवल साढ़े तीन रुपये की चीज़ गई, पर मुझे डाक्टर का दस रुपये का बिल चुकाना पड़ा। पर इसका यह मतलब नहीं कि तेरा थर्मामीटर हमेशा के लिए गया। तेरे साढ़े तीन रुपये का मैं कर्जदार हूं, अभी तो मेरी जेब में एक रुपया है। वह तू रख ले, शेष ढाई रुपया अभी घर जाकर लड़की के हाथ भिजवा दूंगा। इस आइसबैग के भी छः रुपये डिपाजिट के रूप में भिजवाए देता हूं, ले पकड़ यह रुपया।"

रुपया लेने के लिए बंडू हाथ बढ़ाने ही वाला था कि स्नेहलता बोली, "अरे यह क्या भाईसाहब, वह रुपया अपने पास ही रखिए। बस यह आइसबैग सुरक्षित लौटा दीजिएगा।"

राजा ने निश्चिंत होकर नोट जेब में रखते हुए कहा, "पर नहीं, हमारे दोस्त का तो समाधान होना ही चाहिए, मैं अभी घर जाकर साढ़े नौ रुपये भिजवाता हूं।" और रुष्ट होता हुआ वह आइसबैग लेकर चला गया।

यह विश्वास हो जाने पर कि राजा दूर निकल गया होगा, बंडू आवाज चढ़ा-कर बोला, "महामूर्ख है तू ! इतनी चीजें उसने नहीं लौटाईं, फिर भी आइसबैग दे दिया !"

अपने से चूक हो गई है, स्नेहलता यह महसूस कर रही थी। पर जब बंडू उस पर आरोप लगाने लगा, तो वह विद्रोह कर उठी। उसे क्षणार्ध में ही यह लगने लगा कि सारा अपराध बंडू का है। अतः निर्विकार मुद्रा में बोली, "क्या मैंने दे डाला ? मैं कौन हूँ देनेवाली ? घर तुम्हारा, घर का सामान तुम्हारा और मित्र भी तुम्हारा !"

स्नेहलता की सुविधा के अनुसार घर का स्वामित्व उसके तथा बंडू के बीच अदलता-बदलता रहता था।

बंडू और भी चिढ़कर बोला, "अच्छा, क्या मैंने तुझसे कहा था कि आइसबैग दे दे। उल्टे मैं तो इशारा कर रहा था कि मत दे, पर तू ने ही मेरा पागल बना

दिया; कहने लगी कि फिट आते हैं।"

"दैया री! मुझे क्या पता था कि ऐसा चेहरा बनाकर जैसे किसी ने तुम्हारी नाक में बरमा घुसा दिया हो और हाथी के कानों की तरह हाथ हिला-हिलाकर तुम आइसबैग देने को मना कर रहे हो।" स्नेहलता ने बंडू की नक़ल कर दिखाई और बिछौने पर लोटपोट हंसने लगी।

क्रोध में कांपता हुआ बंडू बोला, "इस तरह विषय-परिवर्तन की चेष्टा मत करो और न गधे की तरह लोटपोट हो।"

"अच्छा, तो गधा भी हंसता है? खु···खिखि···खु!" स्नेहलता ने पुनः एक कहकहा-सा लगाया।"

"गधा हंसता हो या नहीं, मुझे उससे क्या लेना है। यदि गधा नहीं भी हंसता हो तो मेरा उससे क्या अटका है? पहली तारीख को यदि गधा नहीं हंसेगा, तो क्या मुझे वेतन नहीं मिलेगा या यदि गधा हंस पड़ेगा तो सरकार मुझे बैंक-हॉलिडे दे देगी? इस सब बात से गधे का क्या सम्बन्ध?"

"तुम्हीं तो कह रहे थे कि गधे की तरह हंसती हो।" स्नेहलता हंसी रोकती हुई बोली।

"अच्छा मैंने ही कहा सही, तू ने नहीं कहा। अच्छा बाबा यही सही, मैं ही गधा सही, एक क्या हज़ार गधा हूँ मैं।" बंडू मुट्ठी बांधकर थयथय नाचने लगा।

"अच्छा भाई। तुम हजार गधे हो, अब तो सन्तोष हो गया? अब व्यर्थ मत चीखो।"

"पर यह पहले ही स्वीकार क्यों नहीं किया था?" बंडू शांत होते हुए बोला। पर आइसबैग की याद आते ही पुनः नाचने लगा और चिल्लाया "पर आइसबैग तूने क्यों दिया? बोल, पहले यह बता।"

"बेकार में मुझ पर गुस्सा क्यों उतारते हो? अगर तुम्हें आइसबैग नहीं देना था तो स्पष्ट अपने मित्र से कह देते, बाबा, न तो मेर घर आया करो और मुझसे कोई चीज न मांगा करो। क्यों नहीं यह साफ-साफ कह देते? तब क्यों तुम्हारा मुंह बंद हो जाता है?"

बंडू के सामने भी यही समस्या थी। राजा के सामने मुंह बंद क्यों हो जाता है, यह प्रश्न पिछले पच्चीस वर्ष से उसके सामने था, पर उसका उत्तर वह अभी तक नहीं पा सका था। और स्नेहलता ने सदा की तरह इस समय भी उसके मर्म को छू दिया था। अतः वह और भी चिढ़ते हुए बोला, "मैंने तो गोबर खा लिया है, पर तूने आइसबैग क्यों निकाल कर दे दिया?"

"खूब, अब व्यर्थ में मेरा सिर मत खाओ। जरा-सा मरा वह आइसबैग और उस पर इतना कुहराम! यही है, तो मैं अपनी मां को लिखे देती हूं कि एक

आइसबैग भिजवा दो। इतनी-सी चीज के लिए वह मना नहीं करेंगी। तब तो तुम्हें सन्तोष हो जाएगा! पत्नी से भी अधिक इन्हें मरा आइसबैग प्यारा है।" फफकती हुई स्नेहलता घर से निकल गई और बंडू दोनों हाथों से सिर दबाकर बैठ गया।

उस रात बंडू को नींद नहीं आई। ज़रा आंख लगती कि उसे भास होता द्वार पर कोई धक्का दे रहा है और पुकार रहा है, "बंडू काका, द्वार खोलो। बाबाने मुझे साढ़े नौ रुपये लेकर भेजा है।" पर बंडू के द्वार खोलने पर वह बालिका अदृश्य हो जाती।

उस दिन के बाद बंडू को प्रतिक्षण वह आइसबैग दिखाई देने लगा। स्वप्न में वह आइसबैग पर बैठकर हिमालय के रम्य शिखरों पर 'ईव्हिनिग वॉक' के लिए जाता, खाते समय स्नेहलता से कहता, "एक गरमागरम आइसबैग दे।" और एक बार तो क्रुद्ध अफसर से "फाइल घर भूल आया" की बजाय वह कह बैठा "आइसबैग घर भूल आया" जिससे भयंकर विस्फोटक स्थिति हो गई थी।

इस प्रकार प्रयत्न करने पर भी लगभग आठ दिन तक वह राजा से नहीं मिल पाया। राजा उसके सभी परिचितों से मिलता। लोग बंडू को बताते, अरे अभी तो यहाँ था ही, पर स्वयं राजा तो क्या, उसकी कमीज़ की लटकती बांह भी बंडू को दिखाई नहीं दी। एक दिन बंडू को वह दिखाई भी दिया और बंडू प्राणों की चिन्ता न कर उसके पीछे दौड़ा भी, पर दौड़ते-दौड़ते उसके दोनों ओर कर्कश आवाज सुनाई दी और यह जानने से पूर्व कि क्या हुआ उसके पैर जमीन से उठ गए। जब उसे स्थिति का भान हुआ, तो उसने अपने आप को एक मोटर के बफर पर खड़ा पाया और दूसरी ओर घोड़े को अपने कानों में कुछ कहते हुए अनुभव किया। उस कठिन क्षण में भी होश-हवास दुरुस्त रख बंडू ने एक ओर मोटर थपथपाई और दूसरी ओर घोड़े से क्षमा मांगी और वहाँ से सरक आया। पर तब तक राजा अदृश्य हो चुका था।

नवें दिन बंडू को राजा सब्ज़ी-मंडी में दिखाई दिया। देर करने से वह खिसक जायगा, इस डर से बंडू सब्जीवाले को बिना पैसे दिये ही आगे को भागा, पर उसी समय हंसते-हंसते राजा उसके पास आया और सदा की तरह मुक्त स्वर में बोला, "क्या बात है, बंडोपंत?"

"क्या?" बंडू झेंपता हुआ सा बोला।

"अरे तू आजकल रहता कहाँ है? दो दिन से तुझे खोज रहा हूं, पर तेरा पता ही नहीं।"

"नहीं, मैं तो यहीं था।" बंडू को विश्वास हो गया कि राजा से न मिलकर उसने बड़ी ग़लती की।

"अरे, वह क्षीरसागर !" राजा बोला।

"क्यों, मर गया क्या ?" बंडू ने घबराकर पूछा। उसे तुरन्त उस व्यक्ति का स्मरण हो आया जो उससे सौ रुपये उधार लेकर तुरन्त मर गया था।

"वाह, बड़ी शुभ बात मुंह से निकालता है रे तू ! अरे मैं कह रहा था कि अब उसका स्वास्थ्य ठीक हो रहा है। क्रिटिकल केस था, पर देखो, भाग्य का सिकन्दर···"

"मेरा आइसबैग भी काम में आया न ?" बंडू चतुराई से इष्ट विषय की ओर वार्तालाप मोड़ने की चेष्टा करने लगा।

"अरे, कैसा आइसबैग और कैसा क्या ?"

"क्या मतलब ? क्या आइसबॅग खो गया ?" पैर पर अचानक पत्थर गिर पड़ा हो, ऐसा चेहरा करते हुए बंडू बोला।

"अरे, तेरे आइसबैग को कुछ नहीं हुआ। तू भी क्या आदमी है। वह बेचारा तो मौत के मुख में पड़ा है और तुझे आइसबैग की पड़ी है। तुझमें उदारता है भी या नहीं ? तेरे यहाँ से आइसबॅग गया था, तो कम से कम एक बार तो दो मौसम्बी लेकर उसका हाल तो पूछ आना था !"

बंडू लज्जित हो, तुरन्त दो मौसम्मी ले राजा के साथ क्षीरसागर का हाल पूछने के लिए जाने को तैयार हुआ, पर राजा ने उसे यह कहकर रोक दिया कि अब समय नहीं है।

उसके बाद एक-दो बार राजा मिला भी, तो क्षीरसागर की तबियत के बारे में पूछने से अधिक बात करने का साहस बंडू को नहीं हुआ। उसके पश्चात् तो वे पन्द्रह दिन बाद मिले। मिलते ही बंडू ने पहले क्षीरसागर के स्वास्थ्य के विषय में पूछा।

"एँ, क्षीरसागर ? क्या हुआ ?······हां, हां, बीच में वह बीमार पड़ गया था, पर अब तो उस बात को एक माह हो गया। अब तो वह बिल्कुल स्वस्थ है ! क्या तेरी यह कामना थी कि वह सदा बीमार ही बना रहे ? कमाल है भाई तुझे भी।"

"अरे यह बात नहीं, मेरा आइसबैग अभी तक नहीं लौटा, अतः पूछा था।"

बंडू खिसिया गया, फिर भी उसके नेत्रों में चमक बनी रही।

"ओह ! बिल्कुल भूल ही गया। तेरा आइसबॅग न ? वही छः रुपयेवाला (यहाँ राजा के स्वर में अभिनयात्मकता थी) डोण्ट वरी, मैं लाए देता हूँ ! बिल्कुल चिन्ता न कर, कल ही ला दूंगा, परसों तो अवश्य ही।" और राजा झटपट निकल गया।

इधर बंडू के हृदय में आशा की कोपल खिलकर छोटी-छोटी पत्तियाँ भी लाने लगीं। उसके बाद एक बार राजा ने बंडू को जाते देखा, तो दौड़कर उसकी

पीठ पर थाप मारी और बोला, "तू चिन्ता न करना, तेरे आइसबैग का मुझे पूरा ध्यान है।"

कुछ दिन बाद बंडू जा रहा था कि उसे मार्ग के दूसरी ओर शुक् शुक् की आवाज सुनाई दी और फिर ताली सी बजी। बंडू ने उधर देखा तो राजा खड़ा था। और सारे राहगीर उसकी तथा बंडू की ओर देख रहे थे। बंडू बेचारा झेंप गया और जल्दी-जल्दी रास्ता पार कर राजा की ओर जाने लगा, पर राजा वहीं से चिल्लाया "नहीं, नहीं, कोई विशेष काम न था, बस यही कहना था कि मुझे आइस बैग का ध्यान है। (आवाज़ ऊँची कर) तेरे आइसबैग की याद है, किसी दिन ला दूँगा।"

बंडू ने 'समझ लिया' के अर्थ में हाथ हिलाया और गर्दन झुकाकर पुनः चल दिया। किसी समय वह एक आइसबैग का स्वामी था, इसका स्मरण मात्र भी उसे दुखदायी हो उठा।

उसके बाद जब राजा उसे मिला तो बोला, "क्यों भई बंडू, बहुत दिन से मिले नही यार! अब मैं ही किसी दिन तुम्हारे घर आऊंगा। मेरी बात अच्छी तरह समझ ले, अकेला नही आउंगा, पत्नी सहित आउंगा। तेरा बहुत दिन से आग्रह है न···"

"आ न, कभी भी आ, यू आर वेल्कम्! पर क्यों रे, यकायक याद आई बात पूछता हूं, वह हमारा आइसबैग क्या हुआ? मुझे उसकी जरूरत है।"

"आइसबैग···आइसबैग!" राजा ठोड़ी पर तर्जनी रख याद करने लगा और फिर एकदम हंसी से लोट-पोट होने लगा", वह तेरा आइसबैग न? छः रुपये वाला!"

बंडू ने गर्दन हिलायी। राजा की हंसी में साथ देना उसे अपना कर्त्तव्य जान पड़ने लगा।

"अरे तेरे उस आइसबैग का तो बड़ा तमाशा हुआ!" राजा और ज़ोर से हंसा, "हुआ क्या कि क्षीरसागर की तबियत ठीक होने पर उस आइसबैग को पैंडसे ले गया और उसके बाद जोशी।"

बंडू के मुख की मुस्कान गायब हो गयी, वह पेट में दर्द होने की सी मुद्रा बनाकर बोला, "और जोशी के यहां से?"

"च्-च्, अरे मुख्य बात वह नहीं है। तू उस जोक (मज़ाक) को समझा ही नहीं। हुआ क्या कि जोशी के एक लड़का है, चार बरस का, पर बड़ा नटखट है भाई।"

"उसने आइसबैग फेंक दिया क्या?"

"नहीं रे, सुन तो सही पूरी बात।"

"हां, हां, तो कोई बात नहीं।" बंडू ने पुनः अपना मुख हास्ययुक्त बनाया।

"तो उस लड़के ने क्या किया कि ब्लेड लेकर सचमुच आइसबैग को बड़ी सावधानी से काट डाला, बिल्कुल गोल-गोल और उसे कौंटी कैप कहकर तथा सिर पर रखकर बड़ी ऐंठ के साथ क्रिकेट खेलने चला गया। घर में हम लोग ढूंढ रहे थे कि आइसबैग कहाँ गया और उधर वह राजश्री उसे पहने क्रिकेट खेल रहे थे। बड़ा नटखट है, भाई।" और राजा पुनः खीःखीः कर हंसने लगा।

पर बंडू का चेहरा ऐसा बन गया जैसे सचमुच पेट में दर्द हो रहा हो। उसके मुख पर वह भाव देख राजा को भी आश्चर्य हुआ और वह बोला, "क्यों रे, क्या हुआ तुझे?"

बंडू रोते स्वर में बोला, "इसका क्या मतलब? मेरे आइसबैग का अब क्या होगा? कौन उसके पैसे भरेगा? मेरी चीज क्या कोई रास्ते पर पड़ी फालतू चीज है?" बोलते बोलते बंडू का आत्म-विश्वास बढ़ चला। उसके मन की भीति नष्ट हो गई। उसे विश्वास होने लगा कि अब राजा की कलाई पकड़कर वह अपने आइसबैग के पैसे धरवा लेगा। पर बंडू का यह भाव देख राजा ने पैंतरा बदला। वह बंडू की पीठ थपथपाता हुआ बोला, "अरे ऐसी चिन्ता क्यों करता है? तेरा आइसबैग, उसकी कीमत मैं भर दूंगा। छः रुपये का तो सारा मामला ही है। ऐं, डोण्ट वरी!"

बंडू का लड़ने का जोम उतर गया। उसे लगा वह व्यर्थ ही लड़ने को तैयार हो गया। राजा से तुरन्त पैसे वसूल करने की बात भी उसे बचकाना लगी। गर्दन झुका वह घर की ओर चल दिया।

उसके बाद बहुत दिनों तक राजा बंडू को दिखाई ही न दिया। उसके बाद जब मिला, तो बड़ा चिन्ताग्रस्त प्रतीत हुआ, फिर भी बंडू बड़ी ढिठाई से आगे बढ़ा और डरते-डरते छः रुपयों की याद दिलाई। राजा ने उसकी ओर देखा तक नहीं और बोला, "छः रुपये, अरे मैं तो स्वयं मुसीबत में पड़ गया हूं। घर से एक महत्त्वपूर्ण काम के लिए निकला था, पर बटुआ घर पर ही छूट गया। अच्छा, बंडू तू है रे! अच्छा हुआ मिल गया, जल्दी से एक रुपया तो निकाल, मुझे अभी-अभी जाना है। चल यार, जल्दी कर, देर न लगा।"

इसके बाद कब रुपया निकालकर उसने राजा को दिया और कब वह उछल कर बस में जा बैठा, यह बंडू को पता ही न चला।

छः रुपये के अब सात हो गए और साथ ही बंडू का जोश भी बढ़ गया। अब वह मार्ग में मिलने की प्रतीक्षा न कर उससे घर के चक्कर लगाने लगा। तीन बार तो राजा मिला ही नहीं। चौथी बार वह द्वार में घुसा ही था कि राजा की पत्नी ने चिड़चिड़ाते हुए कहा, "घर में नहीं हैं।"

"कब आएगा?"

"बता नहीं गए हैं।"

"मैं ज़रा बैठता हूं।" बंडू ढ़ीठ होकर बोला। इस पर कुछ न कहती हुई पर बंडू की ओर तिस्कारपूर्वक देखती हुई राजा की पत्नी अन्दर चली गई।

कुछ लोग अकारण ही तिरस्कारपूर्वक व्यवहार क्यों करते हैं, इस विषय पर वह सोच ही रहा था कि उसे घर की कानाफूसी सुनाई दी।

"कैसे कैसे लोग हैं! दस बार मना कर दिया, पर निर्लज्ज की तरह पांच-दस रुपये मांगने के लिए आते ही रहते हैं। अरे पैसा नहीं है, तो घर का खर्च कम क्यों नहीं करते, हमारे घर में क्या रुपयों का पेड़ लगा है?"

यह बातचीत किसके विषय में हो रही है, बंडू यह विचार कर ही रहा था कि उसे द्वार पर एक कौतूहलपूर्ण चेहरा दिखाई दिया। राजा की मां आगुन्तक कौन है, यह देखने आई थी। वह घर में घुसती हुई बड़बड़ाई, "और घर में नहीं है, कहने पर भी मरों की समझ में नहीं आता।"

ये शब्द सुनते ही बंडू को स्पष्ट हो गया कि सारी बातें उसी को लक्ष्य कर कही गयी हैं। इसका अर्थ था कि राजा ने घरवालों को यह बताया है कि बंडू उसके पास उधार मांगने आता है। बंडू स्तब्ध रह गया। तपे रांगे की तरह क्रोध में लाल होकर भी उसका सन्तोष न हो पा रहा था। वह और अधिक लाल होना चाहता था। तभी राजा आ गया और बंडू उछलकर बोला, "क्यों रे राजा, तू ने घरवालों को क्या उल्टा-सीधा समझा रखा है कि···"

"मूर्ख, धीरे बोल!" ऐसा संकेत कर राजा उसे खींचकर गैलरी में ले गया।

"पर तूने ऐसी बात कही ही क्यों?" बंडू धीमी आवाज में पर झल्लाकर बोलने का प्रयत्न कर रहा था।

"नहीं भाई, मैंने कुछ नहीं कहा। मेरा स्वभाव तो तुझे पता ही है। कोई उधार मांगता है, तो मुझसे ना नहीं होती। अतः सदा कोई न कोई पांच-दस रुपये मांगने आता रहता है। घर की स्त्रियों को इस पर क्रोध आना स्वाभाविक ही है, अतः बड़बड़ाई होंगी।"

राजा ने इतनी ऊंची गप्प मारी कि शंका का प्रश्न ही न था। बंडू बुद्धू की तरह राजा की ओर देखता रहा और अन्त में अपनी सारी शक्ति एकत्र कर बोला, "अच्छा, रहने दे ये सारी बातें, बस मेरे सात रुपये लौटा दे।"

"उस विषय में भी तो यही अड़चन है, दोस्त! मैं लोगों को उधार देता हूं, यह देख स्त्रियां सारा वेतन ले लेती हैं और केवल बस के लिए किराये-भर के पैसे प्रतिदिन दे देती हैं।"

बंडू पुनः चक्कर में पड़ गया। राजा का तर्क नितान्त सरल और विश्वसनीय था, बिल्कुल निरुत्तर कर देने वाला। अतः बंडू को बहुत देर तक विचार करना पड़ा। फिर वह बोला, "अच्छा तो भाभी को बतला दे कि किस प्रकार तू क्षीर-सागर को आइसबॅग दे आया था···"

राजा ने भयाकान्त मुद्रा बनाते हुए कहा, "अरे बाप रे, मैं यदि उसे बता दूं, तो बस मुझे फाड़ ही खाएगी। कहेगी कि यह सब करने के लिए तुमसे कहा किसने था?"

पुनः बंडू को उसकी बात पर विश्वास हो गया; पुनः वह निरुत्तर हो राजा की ओर बुद्धू की तरह ताकता रह गया। अंत में राजा बोला, "तू घर आया, गल्ती की। अब ऐसा कर कि किसी दिन मेरे दफ्तर आ। वहां शायद कुछ बात बन जाय।"

बंडू अपराधी की सी मुद्रा में घर लौट आया। उसका सम्पूर्ण विवेक उससे पुकार-पुकार कर कह रहा था, "हमेशा के लिए भूल जा कि कभी तू आइसबैग का स्वामी था, सात रुपयों का मोह भी अब छोड़।" पर उसकी जिद ज्यों की त्यों बनी रही। राजा का एक बार पराभव करना ही है, यह महत्त्वाकांक्षा उसके मन में जमकर बैठ गई थी।

अतः वह राजा के दफ्तर के चक्कर लगाने लगा। एक बार गया तो राजा दफ्तर में ही न था, दूसरी बार वह काम में व्यस्त था; तीसरी बार अफसर ने उसे बुला भेजा था। चौथी बार वह कुछ मित्रों के साथ होटल में चाय पीता हुआ मिला।

बंडू को देखते ही वह चिल्लाया, "क्यों बंडूपंत। कौन-सा चक्कर है? ठहर बाबा, तेरा परिचय कराए देता हूँ। हाँ तो दोस्तो, यह···यह है मेरा जिगरी दोस्त बंडू। एक बार मैं इसके यहाँ से एक आइसबैग लाया था—वह भी अपने लिए नहीं—इसी के परिचित एक सज्जन के लिए। अर्थात् मेरा काम तो केवल उसे पहुंचाना मात्र था। फिर वह अधिक मूल्य का भी न था—जापानी था। यह कहता है कि छः रुपये का था, पर मेरा विश्वास है कि वह पांच से अधिक का न था। फिर तीन-चार वर्ष काम में भी लाया जा चुका था। खैर, वही आइसबैग उन तीसरे सज्जन के यहाँ फट गया। पुराना तो था ही, काम में लाते-लाते फट गया होगा। तब से आज छः महिने हो गए, यह महाराज मेरे पीछे साहूकार की तरह पड़े हैं। कहते हैं कि मेरे छः रुपये चुका। घर, दफ्तर, सड़क—हर जगह परेशान करता है। इस समय भी छः रुपये मांगने के लिए ही आया है। क्यों बंडू, ठीक कहता हूँ न?"

सारा हॉटल मशीनगन की यह बौछार सुन रहा था और बंडू की ओर तुच्छ, तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देख रहा था। बंडू को लगा कि धरतीमाता उसे अपने में समा ले, तो कितना अच्छा हो! वह बुद्धू की तरह पुटपुटाया, "छिः छिः, इसके लिए थोड़े ही।"

"व्यर्थ में झूठ क्यों बोलता है रे बंडू? तेरे हित के लिए ही कहता हूँ, यह आदत अब तू छोड़ दे। और दोस्तो, पता है जब मैं बॅग लेने गया था तो इसने बैग

की कीमत डिपाजिट के रूप में माँगी थी। उधर तो उस व्यक्ति के जीवन-मरण का प्रश्न था और यह महाशय कह रहे थे—छः रुपये दे जा, नहीं तो बैग नहीं मिलेगा। "अन्त में जब मैंने छः रुपये देने का वायदा किया, तो इसने बैग दिया।"

"पर तूने दिये तो नहीं न छः रुपये।" बंडू ने अपना पक्ष संभालने का आत्मघाती प्रयत्न किया।

"अच्छा, तो तू सारी रात छः रुपयों की प्रतीक्षा में जगा पड़ा रहा क्या ? धन्य हो महाराज।" और राजा तथा उसके सारे साथी खिलखिला कर हँस पड़े।

"यह तो कुछ नहीं हुआ। तेरी इस वृत्ति के लिए तुझे दंड मिलना ही चाहिए। हमारा चाय का बिल हुआ है दो रुपया। चुपचाप उसे चुका दे। ए छोकरे, हमारे बिल के दाम इस आइसबॅग वाले साहब से ले लेना।" और राजा अपने मित्रों सहित उठकर चल दिया।

बंडू ने चुपचाप बिल चुकाया। हॉटल में बिखरे हुए अपने टुकड़े एकत्र कर थैले में भरे और वह थैला घूरे पर डालकर चुपचाप घर लौट आया। उसके चले जाने पर वहाँ दो कौए आए। उनमें से एक दूसरे से बोला, "बंडू नामक व्यक्ति के यह टुकड़े खाएगा क्या ?"

दूसरा बोला, "छिः, ऐसा अभक्ष्य खाना काक जाति को शोभा नहीं देता। इससे अच्छा तो वह चूहा खाना रहेगा जो तीन दिन पहले मरा था और उधर पड़ा है।"

और तुच्छतापूर्वक 'काँव काँव' करते हुए वे चले गए।

आत्म-कथा लिखने का संकल्प

बसन्त सबनीस

पाँच वर्ष तक पत्रकार रहने के बाद महाराष्ट्र सरकार के सूचना और विज्ञापन विभाग में कार्य करने वाले श्री बसन्त सबनीस का जन्म शोलापुर में सन् १९२३ में हुआ था। वह मुख्यतः विनोदकार एवं एकांकी-लेखक हैं। नाटक, लेख, कथा, लोक-नाट्य सभी में विनोद एवं हास्य उनके प्रधान तत्त्व हैं। अभी तक प्रकाशित उनके ग्रंथों के दो विनोदी लेख-संग्रह, दो विनोदपूर्ण एकाँकी-संग्रह, एक विनोदी लोक-नाट्य जिसे मराठी में तमाशा कहते हैं तथा जो हमारे यहाँ के नौटंकी जैसा होता है तथा एक बाल-कथा-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। रेडियो-नाटक लिखने में भी आप कुशल हैं। दिन-प्रति-दिन के जीवन के भिन्न-भिन्न प्रसंगों को खोज-खोजकर उनके द्वारा विनोद सृष्टि करना सरल कार्य नहीं है, परन्तु श्री सबनीस इसी में विचक्षण हैं। साधारण व्यक्ति, विद्यार्थी, नौकर, पति, पिता आदि विविध भूमिकाओं में कार्य करता है। उन भूमिकाओं में होनेवाले मजेदार अनुभवों को देखने तथा कुशलतापूर्वक चित्रित करने की अद्भुत् शक्ति इस लेखक में है। यही कारण है कि इन अनुभवों के चित्रण में कहीं शुद्ध विनोद है, तो कहीं व्यंग्य, कहीं हास्य की वर्षा है, तो कहीं कटु आलोचना की ज्वाला।

अपना बंगला हो, अथवा मृत्यु के बाद स्मारक बने, यह इच्छा कभी मेरे मन में उदय नहीं हुई। यदि मेरे पास कभी कुछ हो तो वह चरित्र, आत्म-चरित्र हो, यह इच्छा बचपन से ही मेरे मन के कोने में छिपी रही। केवल यही आकांक्षा क्यों उत्पन्न हुई, यह बताने में मैं असमर्थ हूँ। कदाचित् इसका कारण यह रहा हो कि बचपन में एक ज्योतिषी ने मेरी जन्म-कुँडली देखकर भविष्यवाणी की थी कि यह लड़का आगे चलकर चरित्र-नायक बनेगा और इसका जीवन-चरित्र लिखा जायगा और मैं उनकी भविष्यवाणी को झुठलाना नहीं चाहता था।

जब महाराष्ट्र में प्रतिदिन इतने जीवन-चरित्र लिखे जा रहे हैं, मेरा चरित्र न लिखा जाना, चरित्र-साहित्य का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है। मैंने अपने मित्र-वर्ग से कहा, "दोस्तो! मेरा चरित्र लिख डालो जिससे मैं उसे अपने नेत्रों

से देख सकूँ। यदि मेरे बाद तुम्हें मेरा चरित्र लिखने की रुचि हुई, तो उससे क्या लाभ! समय का लाभ तुम लोगों को उठाना ही चाहिए।"

वासुदेव मेरा बचपन का अभिन्न मित्र, लंगोटिया यार था। उसे शुद्ध मराठी भी लिखनी आती थी। मैंने जब उससे चरित्र लिखने की प्रार्थना की तो बड़े उद्धत स्वर में बोला, "अरे तेरा चरित्र पढ़ेगा कौन? और क्यों?" मैंने कहा, "अरे यदि कोई और न पढ़ेगा, तो कम से कम दो व्यक्ति तो पढ़ेंगे ही। एक मैं और दूसरा प्रूफ-रीडर!" पर वासुदेव ने कानों पर हाथ रखते हुए कहा, "भैया, तू जिसका कहे उसका मैं खून कर सकता हूँ, पर तेरा चरित्र लिखकर संपूर्ण मराठी पाठकों की हत्या मुझसे न हो सकेगी।"

"ब्रूट, यू टू!" की पद्धति पर मैंने कहा, "वासुदेव, यू टू!" और मित्र-वर्ग के प्रति मेरा क्रोध उमड़ पड़ा।

आरंभ में चरित्र लिखाने की आशा से न जाने कितनी बार मैंने इन मित्रों के कारण होटल के बिल चुकाये थे। पर अब वे ही लोग मुझे दूर से देखकर कर्फ्यू लगने की तरह गलियों में छिप जाते थे। "इन चरित्र-नायक को देखिये" कहकर मेरा मज़ाक उड़ाते थे, पर मैं यह सोचकर सन्तोष कर लेता था कि शुरू में सभी महान व्यक्तियों का इसी प्रकार मज़ाक उड़ाया जाता है। मैं मन ही मन कहता, "अरे बच्चू! आज भले ही तुम मेरा ठट्ठा करो, पर एक दिन तुम्हारी संतान शालाओं में मेरे चरित्र का पाठ करेगी।" एक मित्र ने परामर्श दिया, "पैसे खर्च करो तो लिखा-लिखाया चरित्र मिल जायगा" पर पैसे देकर लिखाये चरित्र में अपनत्व, प्रेमल स्निग्धता कहाँ!!"

हाय! ऐसा प्रसंग किसी चरित्र-नायक के साथ न घटे। चरित्र है, नायक है, पर लेखक नहीं है!

मित्र एक न एक दिन मेरा जीवन-चरित्र अवश्य लिखेंगे, इस आशा से मैंने उसकी भूमिका लिखकर पहले से ही रखने की दूर दृष्टि से काम लिया और लगातार पन्द्रह दिन तक जागकर उसे पूरा किया। उसमें मैंने लिखा, "मैंने हिटलर की तरह इंग्लैंड से युद्ध नहीं किया और न नैपोलियन के समान विश्व-विजय का बीड़ा उठाया। ज्ञानेश्वर की तरह 'ज्ञानेश्वरी' नहीं लिखी और न शैक्सपियर के समान नाटकों के चक्कर में पड़ा। शिवाजी महाराज के समान स्वराज्य-स्थापना नहीं की और न बाजीराव के सदृश मस्तानी ही प्राप्त की; यह सब मैंने नहीं किया, भविष्य में कर सकूँगा, इसका भी विश्वास नहीं। परन्तु मित्रो (हरामखोरो!)—(कोष्ठक के शब्द बाद में जोड़े गए हैं) तथा सम्बन्धियों का आग्रह हुआ कि मैं अपना जीवन चरित्र लिखने की उन्हें अनुमति प्रदान करूँ। मैंने उन्हें तरह-तरह से समझाया, पर कोई सुनने को तैयार न हुआ। मेरे बाल-मित्र वासुदेव (अब यह नाम यहाँ नहीं है, ऐसा पाठक समझ लें) ने मुझे बोलने

ही न दिया। दिन-रात उसे मेरे चरित्र की रट लगी रही। उसी के कारण आज यह जीवन-चरित्र आपके सम्मुख है।"

पर यह भूमिका व्यर्थ गई! पन्द्रह दिन का परिश्रम मिट्टी में मिल गया! इस विस्तृत भू-मंडल पर मेरा चरित्र लिखनेवाला एक व्यक्ति भी तैयार न हुआ (फिर भी परमेश्वर सबको सुखी रखे!)

बिना अपने मरे जैसे स्वर्ग नहीं दीखता, उसी प्रकार स्वयं लिखे बिना चरित्र नहीं दिखाई देगा, इसका विश्वास हो गया। तब हारकर मैं स्वयं आत्म-चरित्र लिखने का विचार करने लगा।

अस्तु, आत्म-चरित्र लिखने का एक कारण तो यह था। दूसरा कारण यह था कि आत्म-चरित्र-साहित्य में मुझे क्रान्ति लानी थी। केवल राजा-महाराजा, पूंजीपति, नाटककार, इन्हीं का चरित्र लिखा जाय, यह क्या उनकी बपौती है! मेरी हड्डी-हड्डी में प्रजातंत्रवाद रमा है। अतः एक दिन भोर ही उठ बैठा, (उषाकाल का दर्शन जीवन में कभी नहीं किया था, वह भी इस तरह हो गया) स्नान किया और दफ्तर से चुराए कागजों पर आत्म-चरित्र लिखना आरंभ किया। पहले तो प्रकरणों के नाम रखे—'बचपन की बालक्रीड़ा', 'शाला में शालिग्राम', 'ध्येय-निर्धारण', 'सेबों से सेवा की ओर', 'अन्तर्दृष्टि' आदि। फिर बचपन की बातों का स्मरण करने लगा। पर बचपन में मैं बहुत छोटा था, इससे अधिक कुछ याद ही न आया।

दूसरे दिन मामा के पास गया, यह सोचकर कि उन्हें अवश्य मेरे बचपन के कुछ प्रसंग याद होंगे। मामा बोले, "तुझे अपने बचपन के प्रसंगों की क्या जरूरत आ पड़ी?" मैंने कहा, "आत्मचरित्र लिख रहा हूं।"

मामा ने पूछा, "किसका?"

मैं बोला, "अपना।"

फिर क्या था! मामा क्रोध से लाल होकर बोले, "अपने को बड़ा तीस मार खां समझता है! यह काम करने को तुझसे कहा किसने है? चुपचाप नौकरी कर! आत्मचरित्र लिखने में समय नष्ट करने की बजाय मां की सेवा कर।" चाय की भी न पूछते हुए उन्होंने मुझे उल्टे पैरों लौटा दिया।

पाठशाला के संस्मरणों के लिए मैं अपने शिक्षक के पास पहुंचा, तो उन्होंने परामर्श दिया, "आत्मचरित्र लिखने के स्थान पर मेरा चरित्र लिख!" वासुदेव ने मेरा चरित्र तो न लिखा था, पर एक उपकार अवश्य किया था। वह जिस समाचार-पत्र के प्रचार-विभाग में काम करता था, उसके सम्पादक से उसने मेरा परिचय करा दिया था ताकि मेरे आत्म-चरित्र का पूर्व-प्रचार हो सके और प्रकाशित होने के बाद उस पर विस्तृत सम्मतियां यथासंभव प्रकाशित हो सकें। पर जब सम्पादक जी के पास पहुंचा, तो वह सम्पादकीय सलाह देने की बजाय

वैद्यकीय परामर्श देने लगे, "पूना जाकर किसी मानसशास्त्री से अपने मस्तिष्क की परीक्षा कराइए। परिचय-पत्र मैं दिए देता हूं।"

इतनी अड़चनों के पर्वत से भी मैं विचलित नहीं हुआ। अगले दिन प्रातःकाल ही उठा और प्रथम परिच्छेद लिखने लगा। पहले तो जन्म-तिथि याद करने की चेष्टा की, पर शिवाजी महाराज की तरह मेरी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में भी मतभेद है। पाठशाला में लिखाई तिथि कर्मचारियों की ग़लती के कारण बदलते-बदलते छः वर्ष पीछे हट गई है! जन्म के बाद कई मास तक मैं अज्ञानी रहा (आज भी मुझे कुछ ज्ञान नहीं है—इति मामा)। मां मुझे पालने में वस्त्रों में लपेट कर सुला जाती थी, अतः मेरे पैर भी अन्य महापुरुषों के समान पालने में न दिख सके। छः वर्ष की आयु तक तो मैं पालने में ही सोता रहा (उसके बाद तो मां मुझे घोड़ा कहने लगी थी)।

"अब कुछ बातें मां के सम्बन्ध में! वह उस समय की अद्भुत् स्त्री थीं। एक ही समय में वह मां, पत्नी, ननद, भावज, जेठानी, बूआ, मामी और मावशी की भूमिकाओं का सफलतापूर्वक निर्वाह करती थीं। (आजकल तो नाटक में एक भूमिका का निर्वाह भी नट सफलतापूर्वक नहीं कर पाता) अहा हा! मां का वह प्रेम! चाय की मिठास भी उसके सम्मुख तुच्छ है! अनेक महापुरुषों ने जो कुछ अपनी-अपनी मां के सम्बन्ध में लिखा है, वही मुझे भी कहना है। अतः पुनरुक्ति नहीं करता। मैं उसे 'मां' कहता था, वह मुझे "लाजा" कहकर पुकारती थी। गाय को अपने बछड़े से, यशोदा को कृष्ण से इतना प्रेम न होगा जितना मां को मेरे से था। पर मां केवल बचपन में ही मां रहती है। अब वह कितनी बदल गई है। अब तो कहती है, "मरे बापू! मां के सामने सिगरेट पीते तुझे शर्म नहीं आती?" बचपन में यही मां कहती थी, "मेरे राजा को सिगरेट चाहिए क्या? मैं एक क्या, पूरा पैकेट लाउंगी अपने बच्चे के लिए।" आज बहू से उसकी नहीं पटती, तो मुझे गाली मिलती हैं "मरा जोरू का गुलाम है!"

"पाठशाला जाने के लिए मुझे घर में मां की प्रतिदिन मार खानी पड़ती थी और पाठशाला में गणित के प्रश्न ग़लत होने पर मास्टर जी की।" (यह सब आत्मचरित्र में लिखना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में अभी भी शंका है।)

बड़े होने पर मैंने समाज-सेवा का व्रत लिया, क्योंकि उस समय देश को मेरे समान समाज-सेवकों की आवश्यकता थी। पर समाज-सेवा का क्षेत्र मेरे लिए दुर्लभ बना रहा। वह तो धनिकों, मिल-मालिकों, बड़े-बड़े सरकारी अफसरों की पत्नियों से भरा पड़ा था। 'नायलॉन की साड़ी' की तरह वह भी मनोरंजन की वस्तु बन गया था। अतः समाज-सेवा का व्रत लेकर भी सामाजिक परिस्थितियों के कारण मुझे वह त्यागना पड़ा।

"देश के लिए मरने को भी मैं तैयार हो गया था पर तभी अंग्रेजों ने स्वतंत्रता

दे डाली और मुझे जीवित रहना पड़ गया। फिर देश के लिए जब कभी कुछ करने की बात मुंह से निकालता, तभी पत्नी अत्यन्त दयनीय दृष्टि से मेरी ओर देखतीं और कहतीं "यदि कुछ करना ही है, तो कुटुम्ब के लिए करो। (उसकी दृष्टि अब भी विशाल नहीं हुई है, तभी तो बेचारी चश्मा लगाती है)

"अन्त में देश की आर्थिक स्थिति का ध्यान कर मैंने त्याग करते हुए म्यूनिसिपैलिटी की कम वेतन वाली नौकरी स्वीकार कर ली। देश-कल्याण की बात सोचकर मैंने गत छः वर्षों से वेतन-वृद्धि की भी मांग नहीं की है, केवल नौकरी बनाए रखने का प्रयास करता रहा हूं। इससे अधिक त्यागमय जीवन और क्या होगा? उसी का परिचय कराने के लिए मैंने यह आत्मचरित्र लिखने का संकल्प किया है।"

आत्म-चरित्र का इतना भाग ही लिखा गया था कि म्यूनिसिपैलिटी के अध्यक्ष दाजीबा ढ़ेमसे ने मुझे बुला भेजा। मुझे लगा वह मेरी नियुक्ति किसी कमेटी में करने जा रहे हैं। मैं विनय और नम्रता की मूर्ति बना उनके घर पहुंचा। अध्यक्ष और सामान्य कर्मचारी की वह अपूर्व भेंट थी। हिमालय और चींटियों की बांबी अथवा सागर और पोखर की भेंट ही उसे समझिए। मैं विनय से कुर्सी पर न बैठकर चटाई पर ही बैठ गया, क्योंकि कुर्सी पर बैठने का मुझे मोह न था। मोह हो भी कैसे सकता था? प्रतिदिन कार्यालय में वैसी ही कुर्सियों पर तो बैठता था! मूंछों पर लगी चाय पोंछते हुए दाजीबा बाहर आए।

"अरे कौन है तू?" उन्होंने मुझसे पूछा।

"मैं···बापू कालूराम!"

"अरे हमारी मुन्शीपाल्टी का है न?"

"जी हां!"

'बहुतकर तू टिकट फाड़ने वाली खिड़की पर काम करता है!" मेरा चेहरा क्या वैसा दिखता था? पर वे अध्यक्ष थे, मुझे टिकट फाड़ने वाली खिड़की पर बिठा भी दिया तो क्या हुआ? अतः क्रोध आया और चला गया।

"नहीं श्रीमान्! मैं स्कूल-सैक्शन में हूं।" मैंने नम्रता से कहा।

"अरे, श्मशान में ही क्यों न हो,···पर वेतन तो मुन्शीपाल्टी से ही पाता है?"

मैंने स्वीकृति में गर्दन हिलाई।

"तुझे विद्वानों की तरह लिखना आता है या नहीं?" दाजीबा का कठिन प्रश्न था।

"नहीं मैं विद्वान नहीं हूं···"मेरा विनयपूर्ण कथन।

"यह तो मुझे पता है, अगर मुन्शीपाल्टी के करमचारी भी विदवान होने लगे [illegible]···"

इस पर मेरी खिसियाहट भरी मुस्कान।

"तुझे लिखना आता है न ? बस ठीक है ! क्या लिखता है ?"

अपनी योग्यता अध्यक्ष के सम्मुख प्रदर्शित करने का स्वर्ण अवसर था। अतः बोला, "वैसे कुछ अधिक नहीं, पर आजकल आत्मचरित्र लिख रहा हूं।"

"क्या ?"

"आत्मचरित्र !"

"आतमचरित्तर ? अरे बाब्या ! अरे बाब्या ! इधर तो आ।" दजीबा ज़ोर से पुकारने लगे। मैं घबरा गया, "अब क्या होगा ?"

बाब्या आया। अच्छा खासा बड़ी-बड़ी मूंछों वाला वह व्यक्ति बाब्या हो सकता है, यह सुनने पर भी विश्वास न होता था।

"बाब्या !" दाजीबा बोले "अरे यह आतमचरित्तर लिखता है ! हो गया न ठीक अब ! ताली तो बजा।"

बाब्या ने ताली बजाई। फिर भी मेरी घबराहट दूर न हुई। अब दाजीबा बोले, "तू ऐसा कर, मेरा एक आतमचरित्तर लिख डाल।"

"आपका आत्मचरित्र ? और मैं लिखूं !" मैंने पूछा।

"क्यों ? इसमें क्या तुझे मौत आती है ?"

"नहीं, वैसी कुछ बात नहीं। पर आत्मचरित्र स्वयं लिखा जाता है।"

"अरे कोई भी लिखे, छपने के बाद सारी किताबें एक-सी ही दिखती हैं कि नहीं ? फिर किसी को क्या मालूम होगा कि किसने लिखी है वह।"

"पर आत्म-चरित्र लिखने की भाषा शैली···"

"चूल्हे में डाल अपनी भाषा-शैली ! बस कागज ले आ और झटपट लिख डाल ! धत्, शैली का क्या करना है ?"—दाजीबा

"पर यह इतना सरल नहीं है, साहेब !" मैं थोड़ा ढीठ बन गया।

"क्यों रे, किसे सुना रहा है यह सब ? तू मेरी मुन्शीपाल्टी का नौकर मुझे ही सिखा रहा है,···ठहर जा, अभी तुझे नौकरी से अलग करता हूं।" दाजीबा उठकर फोन की तरफ चले।

मेरे पेट में खलबली, हाथ-पैरों में कंपन और छाती में धड़कन होने लगी। अध्यक्ष के चरणों में गिर पड़ा, नाक रगड़ी, "अब ऐसा न कहूँगा" इसकी शपथ खाई। "आप मेरे सिर पर लात भले ही मारें, पर पेट में मत मारिए।" आंखों में आंसू भरकर बोला। दाजीबा के सभी घरवालों का, पालने के बच्चों तक का आत्मचरित्र लिखने को प्रस्तुत हो गया।

"अब कैसे सरल हो गया ?" दाजीबा सन्तोष के स्वर में बोले, "हाँ, चल लिखना शुरू कर।"

"पर मुझे कार्यालय···" मैंने कहा।

"उंह, अरे यदि तू चार, छः, दस दिन कार्यालय नहीं जायगा तो मुन्शीपाल्टी कुछ डूब नहीं जायगी। मैं स्कूल-कमैटी के चेरमन को फोन किए देता हूँ। वह मेरी बात मानेगा, नहीं तो बच्चू का बजट न रोक दूंगा।"

"पर आत्मचरित्र में लिखूं क्या-क्या ?"

"अरे बस यही—मैंने कैसे उन्नति की—प्रेशिडेन्ट कैसे बना—देशा-सेवा कैसे की ? बस सब प्रशंसा की बातें।"

"पर साहेब, आत्मचरित्र में सच्ची बातें भी लिखनी पड़ती हैं।"

"अरे, क्या यह भी आवश्यक है ?"

"और नहीं तो क्या, अध्यक्षीय चुनाव के समय विरोधी पार्टी के चार सदस्यों को आपने पकड़कर जंगल में भिजवा दिया था, उसका क्या करना होगा ?" मैंने तनिक झिझकते हुए पूछा।

"अरे लिख डाल उसे, अब तो चुनाव हो गया, मेरा कोई क्या करेगा ?"

"और वह कचरे का प्रकरण ?"

"उसे डाल कचरे में।"

"और उस शिक्षिका ने जो आरोप आप पर लगाया था…" पुनः मैं हकलाया।

"अरे तुझे उसका भी पता है ?" दाजीबा क्रोध न करते हुए बोले, "अरे यदि यह सब आतमचरित्तर में लिखा गया, तो मेरी लाश न निकल जायगी ?"

"फिर करें क्या ?"

"ऐसा कर, तू खा पी आ, मुन्शीपाल्टी से दो रिम कागज लेते आना। एक रिम साले के बच्चों के लिए कापियाँ बना देना और दूसरे रिम में आतमचरित्तर लिख डालना। उसमें क्या-क्या लिखना होगा और क्या छोड़ना होगा, वह मैं तुझे बाद में बता दूंगा…"

दाजीबा का आत्मचरित्र लिखना आवश्यक है क्योंकि न लिखने पर नौकरी छूटने का डर है। लिखने पर भी यदि उनके मनोनुकूल न हुआ, तो भी नौकरी जाने की आशंका है। ऐसे विलक्षण जाल में मैं फंस गया हूं। प्रतिदिन प्रातः-संध्या आत्मचरित्र लिखता हूं। इस बीच म्यूनिसिपैल्टी के अन्य मेम्बरों के आत्मचरित्र के आर्डर भी आ गए हैं। सन्तोष इतना ही है कि अब शेष जीवन केवल आत्मचरित्र लिखने में बीतेगा।

पिता की मृत्यु

सदानन्द रेगे

कथाकार, कवि तथा अनुवादक के रूप में श्री रेगे आधुनिक मराठी साहित्य में विख्यात हैं। उनके कथानकों में प्रायः दुःख, कारुण्य और काव्यात्मकता के तत्व ही प्रधान रूप में मिलते हैं, तथापि कभी-कभी उनकी लेखनी से हास्य-विनोद के फूल भी झड़ते दिखाई देते हैं। वह अपनी लेखनी से पाठक को कभी हंसाते हैं तो कभी गुदगुदाते हैं, कभी रिझाते हैं, तो कभी आतंकित भी कर देते हैं। अबतक उनके मौलिक ग्रन्थों में 'काळोखाचीं पिसें', 'चांदणें', 'अक्षरवेल' प्रसिद्ध हैं। साथ ही उन्होंने स्टाइनबेक के 'पर्ल' तथा 'जॉन आरबेल के 'The Animal Farm' *का भी अनुवाद किया है।*

मेरे पिता ने ज्योंही बुद्धि का दीपक जलाकर अपना घर अपने भतीजे के नाम कर दिया, त्योंही मां तनतनाती हुई घर छोड़कर चली गईं और अपनी मां के यहां जाकर रहने लगीं। उसके साथ ही मेरी बहिन भी चली गई। पिताजी ने बहुत खुशामद की, समझाया, पर त्रिया-हठ! उसने एक न सुनी; वह पति को अच्छा-खासा सबक़ देना चाहती थी। अतः जब वह किसी प्रकार राजी न हुई, तो पिताजी ने हड्डियों तक भिदे अपने आलस्य को झटक फेंका और गम्भीरता-पूर्वक काम में लग जाने का अभिनय शुरू कह दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी कहना शुरू कर दिया कि उन्होंने अब शराब और जुआ दोनों छोड़ दिए हैं। पिताजी का अनुमान था कि इस नाटक पर विश्वास कर मां लौट आएंगी। पर मां बुद्धू थोड़े ही थीं जो ऐसे बहानों में आ जाती! वह टस से मस न हुईं, पूरे तीन मास तक नानी के पास रहीं और एक बार भी हमें देखने नहीं आईं मानो हमारे प्रति उनकी माया-ममता एकबारगी ही सूख गई हो। जैसे-जैसे समय बीतता गया, मेरे बहानेबाज पिता का धैर्य छूटने लगा। स्क्रू ढीले हुए के समान पेट में घुटने दिए चौबीस घंटे घर में बैठे रहते। खेतों में घुटनों-घुटनों घास उग आई जिससे दोनों फसलों को हानि होने की संभावना थी।

"अब क्या करना चाहिए?" उन्होंने काका से परामर्श किया।

"करना क्या है रे ? मरने के अतिरिक्त अब उपाय ही क्या है ?" मेरे अद्भुत् काका ने सलाह दी।

"पर···यह तो मुझसे न होगा। जीने में ही तो सारा आनन्द है।" पिताजी नथुने फुलाते हुए बोले।

"क्या वस्तुतः तुझे ऐसा लगता है ?" काका ने स्पष्ट पूछा।

"अब यह सारा वितंडावाद छोड़ो। मुझे न जाने कैसा-कैसा लगता है ! —" पिताजी।

"अच्छा, तो मैं बताऊं ?"

"बताओ, जीवन-भर दूसरों को ही सलाह देते रहे, अपना भी तो काम···"

"देखो, ऐसी युक्ति बताता हूं कि तेरी पत्नी बच्चों सहित उल्टे पैरों लौट आयेगी। हाँ ऽऽऽ···" काका अपनी पुतलियाँ कपाल में चढ़ाते हुए तथा स्वयं पर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए बोले।

मेरे आलसी और बुद्धू पिताजी को कुछ राहत मिली। तुरन्त उन्होंने भौंहे चढ़ाकर काका से पूछा, "क्या है वह युक्ति ?"

"अरे बड़ी आसान है ! बिलकुल आसान।" काका ने व्यर्थ दोनों नेत्र बन्द कर लिए और जीभ से 'टक्क' जैसी आवाज़ की।

पिताजी मुंह बाए उनकी ओर देखते रहे।

"एकदम आसान" काका बोले, "करना ही क्या है। बस तू कुछ दिन के लिए गायब हो जा। हाँ, तू ही ! बस कुछ दिन के लिए कहीं चला जा, यहाँ से बिलकुल ओझल ! किसी को भी दिखाई मत दे और कुछ दिन बाद जब दाढ़ी के बाल छाती पर लटकने लगें, तो मुझे ख़बर देना।"

"पर इससे क्या होगा ?" पिताजी ने पूछा।

"क्या होगा ? अरे इससे तो बहुत कुछ होगा, बहुत कुछ···ज्योंही तेरी दाढ़ी छाती पर लटकने लगेगी, मैं सारे गांव में तेरे मरने की बात फैला दूंगा···।"

"ऐं ऽऽऽ।"

"ऐं ऽऽऽऽ···क्या ? सारे गांव में फैला दूंगा कि तू मर गया।"

"इससे क्या होगा ?"

"देखना, क्या होता है ?"

"तो फिर ?"

"तो फिर क्या ?"

"नहीं, मैं जीते-जी मर कैसे जाऊंगा ?"

"तू है पूरा बैल, अरे यही तो तरकीब है। तेरे मरने की सूचना पाते ही अपना तेरी पत्नी कैसी छाती पीटती और सिर धुनती आती है ! यदि न आए

तो मेरी मूंछ मूड़ देना !"

इसके बाद पिताजी दीवार के सहारे सिर लगाकर बैठ गए और काका की युक्ति पर विचार करने लगे। पर उन्हें तसल्ली नहीं हो रही थी। उनके भोंदू सिर में शंकाओं का झुंड अब भी धींगामस्ती कर रहा था। उन्होंने पुनः काका से पूछा, "पर क्या तुम्हें विश्वास है ?"

पिताजी का प्रश्न सुनते ही काका आगबबूला हो उठे। सिर पर राख डाले भूत की तरह वह गुर्राते हुए पिताजी की ओर दौड़े, "मुझे जो सूझा, बता दिया। जंचे तो कर, वर्ना भाड़ में जा।"

"वह तो ठीक है, पर मेरा कहना यह था कि···"

"मुझे तेरी एक बात नहीं सुननी। मेरी बात झूठ निकले, तो अपना सिर मुड़ा लूंगा, बस···।"

"नहीं पर···"

"बस···पर-वर कुछ नहीं। मैंने जो बताया, वह कर। कुछ भी हो, है तो वह तेरी ब्याहिता पत्नी ही। तेरे मरने की बात सुनकर वह दौड़ी नहीं आएगी, तो कौन आएगा ?"

"तुम ठीक कहते हो !" अन्त में मेरे अक्ल के दुश्मन पिता की समझ में बात आ गई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि काका की बताई तरकीब को काम में लाएंगे।

बस हम धिडोरा से शिगाडा आ गए और वहां की मड़ैया में बिस्तर जमा दिया। शिगाडा आते ही पिताजी ने सबसे पहिले जो चतुराई का काम किया वह था एक बोरी चावल खरीदने का। जंगली फल खाकर शिगाडा के जंगल में रात काटते और दिन में सिर्फ मैं गांव में आता।

इस प्रकार एक सप्ताह बीत गया। पहिले-पहिले मैं अपना भैंसा चराने के लिए ले जाता। उसकी पीठ पर बैठकर मुझे कभी-कभी झपकी आ जाती और सन्तुलन ठीक न होने से कभी-कभी झाड़-झंखाड़ में गिर पड़ता। कभी सनक उठती, तो किसी दूसरे राह-भटके भैंसे को अपने भैंसे के सामने हांक लाता और 'बढ़ बेटा, वाह, वह मारा, एक दफा और" आदि शब्दों से उन्हें प्रोत्साहन देकर उनकी लड़ाई का मज़ा लेता।

धीरे-धीरे पिताजी के दाढ़ी के बाल वायु में लहराने योग्य लम्बे हो गए।

एक दिन वह मुझसे बोले, "कल से तुम जंगल में मत आना। मैं अकेला ही रहूंगा यहाँ—"

मैं भी तो यही चाहता था।

मैं नाक में कन्नी अँगुली का बर्मा घुमाते हुए बोला, "अच्छा।"

फिर तो वेग से दिन पर दिन बीतते गए। बहुत दिन तक पिताजी गांव

नहीं आए। एक दिन रात के समय खिड़की पर खटखट की आवाज़ हुई। मैं लालटेन लेकर खलिहान में आया, तो क्या देखता हूं कि एक लम्बी जटाओं और दाढ़ी वाला आदमी वहां खड़ा है। उसकी पीठ पर एक बोरी बंधी हुई थी। मैं उसे नहीं पहचान पाया।

"अरे बाबा, तू कौन है ?" मैंने पूछा।

"मैं बेताल हूं।" वह बोला।

"तेरी कमर पर यह बोरी कैसी है ?"

"उसमें डायन और प्रेतिनी हैं।"

"पर यहाँ तेरा क्या काम ?"

"साधना करता हूं न !"

"साधना, कैसी साधना, किसकी साधना ?"

"हाः हाः हाः हाः···अरे पहचाना नहीं तू मुझे···अरे मैं तेरा बाप हूं। अब भी पहचाना कि नहीं ?"

मैंने लालटेन ऊँची की और उसकी जटाओं को एक ओर कर उसे निहारा। अरे, वस्तुतः वे पिताजी थे। बिल्कुल पिताजी।

"हा ऽऽऽ, कैसा छकाया बेटा !"

"सचमुच, बड़ा कुशल वेश बनाया है, वा वा ऽऽ"

"हाँ ऽऽ, अब तू एक काम कर···"

"क्या ?"

"तू धिंडोरा चला जा और अपने काका से जाकर कह कि पिताजी ने आपको शिगाडा बुलाया है।"

"अच्छा !"

रातोंरात मैं धिंडोरा आया। गहन निद्रा में मग्न काकी की आँख बचाकर काका को जगाने के लिए झंझोड़ा पर उनकी नींद तो कुम्भकर्ण की नींद थी ! कितना ही गुदगुदाया, चिकोटियाँ काटीं, पर कोई असर नहीं। अब क्या करूँ। मैं चाहता था कि मेरे आने की आहट तक घरवालों को न मिले और वह महाशय अजगर की तरह पड़े जगने का नाम तक न ले रहे थे। अन्त में जब कुछ बस न चला, तो मैं उनके पेट पर बैठ गया और छाती में एक जोर से मुक्का मारा। काका, 'ओय् ओय्' करते उठे। मुझे भय था कि कहीं उनकी चीख से घर के अन्य लोग न उठ बैठें। पर नहीं, काका के घरवालों की नींद काका से कम थोड़े ही थी ! अतः बच गया।

"कौन ?" काका ने आँखें चिमचिमाते हुए पूछा।

"मैं हूं।"

"एं, बेंबटे ! क्यों रे तू यहाँ कैसे ?"

"बाबा ने आपको बुलाया है।"

"अच्छा, यह बात है! तो मैं ज़ोर-ज़ोर से रोने लगता हूं। तू भी मेरे साथ रोना शुरू कर दे। ठीक है न!"

"हाँ।"

फिर काका बिस्तर से उठकर बैठ गए और लगे गला फाड़-फाड़कर रोने। उनके साथ मैं भी रोने लगा। हम दोनों का हाहाकर सुनकर घर के सारे लोग एकत्र हो गए।

"अरे क्या हुआ ?···क्या हुआ ?···" किसी को कुछ पता न लगा। पर हमें उसकी क्या चिन्ता थी ? मैं और काका, नहीं काका और मैं ज़ोर-ज़ोर से ढ़ारें मार-मारकर रोते रहे। हमें उसमें मज़ा भी आ रहा था। किसी को कुछ पता नहीं लग पा रहा था; फिर काकी भी हमारे साथ रोने लगी, उसके साथ बच्चे भी। बस फिर क्या था, इस रुदन को सुन सारे पड़ौसी इकट्ठे होने लगे।

"अरे क्या हुआ, जो सब के सब रो रहे हो ?" आए लोग मुंह-बाए एक दूसरे की ओर देख रहे थे। उनमें जो चतुर थे, उन्होंने चारों ओर दृष्टि डालकर यह देखा कि चोरी तो नहीं हो गई है। घर में कोई शव भी नहीं दिखाई दे रहा था, पर सारे लोग ज़ोर-ज़ोर से रो रहे थे। इस पर पड़ौसियों ने भी धोती के छोर से यूंही नाक-आंख पौंछते हुए सूं-सूं करना शुरू कर दिया। काका का और मेरा रोना नितान्त तीक्ष्ण और स्वच्छन्द स्वर में जारी था। कुछ देर बाद काका ने अपना सिर तकिये पर पटकना शुरू कर दिया और विलाप करने लगे, "अरे, ऐसे क्यों छोड़ गया रे ऽऽ। हमसे क्यों रूठ गया रे ऽऽ!"

इस पर किसी ने मेरी पसलियों में अंगूठा गड़ाते हुए पूछा, "क्या हो गया रे ?"

"पिताजी मर गए।"

क्षण-भर को मैं रोना भूल गया, पर तुरन्त ही ध्यान आने पर फिर से दहाड़ मार कर रोने लगा।

"किसके पिताजी ?"

"मेरे।"

"कब ?"

"दुपहर को"

"कहाँ ?"

"शिगाडा में"

"कैसे ?"

"बीमार थे"

"कैसी बीमारी ?"

"सीधीसाधी"

"सीधीसाधी ! पर क्या रोग था ?"

"पटकी"

उस उत्तर में कदाचित् मुझसे कुछ ग़लती हो गई क्योंकि काका ने एकदम रोना बन्द कर कहा, "पटकी से नहीं, भगंदर से—" और वह पुनः रोने लगे ।

धीरे-धीरे पिताजी की मृत्यु का समाचार सारे गांव में फैल गया । हमारी मां को भी उसकी सूचना मिल गई। काका का अनुमान था कि सूचना मिलते ही वह छाती पीटती आयेगी । अतः हम रात के तीन साढ़े तीन बजे तक राह देखते रहे, पर वह थी कि नहीं ही आई ।

प्रातःकाल पिताजी धिडोरा आ गए और काका के घर में छिप गए । इसके बाद मैं और काका नानी के घर गए और मां से बोले, "मां, पिताजी चल बसे ।"

मां कुछ न बोली, धीरे-धीरे मठा बिलोती रही ।

इस पर काका ने खांसते हुए कहा, "भैया, कल शाम हम सबको छोड़ गए···"

इस पर भी मां कुछ न बोली, गर्दन उठाकर देखा तक नहीं । थोड़ी देर बाद मैं फिर बोला, "मां, पिताजी कल मर गए ।" पर फिर भी कोई असर न हुआ । हारकर हम उठ खड़े हुए और सिर झुकाये लौट पड़े ।

पिताजी आंगन के द्वार पर नीम की लकड़ी छील रहे थे । घरवाले उन्हें साधु समझे बैठे थे ।

हमने उन्हें सारी बात बताई और वहीं बैठ गए । पर कुछ देर बाद ही मां बच्चों सहित धाड़-धाड़ पैर पटकते हुए वहां आ पहुंची और बाल बिखेरकर रोने लगी । ज़ोर-ज़ोर से गला फाड़कर रोते-रोते उसने माथे का सिन्दूर पोंछ डाला, चूंड़ियां तोड़ फेंकी और कोने में रखी चक्की पर सिर पटक-पटक कर विलाप करने लगी, "अरे गया तो मेरा गला दबाकर क्यों नहीं गया रेऽऽ ! अब तेरे बाद इन बच्चों को कौन देखेगा रेऽऽ ?"

उसके साथ ही और घरवाले भी रोने लगे । मुझे भीतर ही भीतर हँसी आ रही थी; बहुत देर तक तो रोके रहा पर जब न रहा गया तो खम्भे के पीछे मुंह छिपाकर चुपके-चुपके हंसने लगा । पिताजी भी बीच-बीच में मेरी ओर देख लेते थे ।

फिर यकायक मां भूतनी की तरह उठी और मुझे दोनों हाथों से घसीटती हुई चिल्लाई, "चल रे बेंबटे, अब हमें इस घर में नहीं रहना है । तेरा बाप तो आलस करते-करते मर गया, हमारा काम ऐसे थोड़े ही चल जायगा···" मां बड़-बड़ाती हुई पिताजी को गाली देती रहीं ।

घसीटते-घसीटते वह मुझे खलिहान में ले आई और बोली, "यह घर हमारा था, पर उस नामुराद ने भतीजे के नाम कर दिया ; खुद तो मर गया, बाल-बच्चों को दर-दर का भिखारी बना गया।"

इस पर मुझसे न रहा गया। पीछे मुड़कर मैंने पिताजी को पुकारा, "बाबा··· बाबा···!"

पिताजी द्रवित हो उठे। उन्होंने मुझे मां के शिकंजे से छुड़ाया और अपने मुंह पर से लटें हटाते हुए बोले, "अरे बेंबटे का बाप अभी जीवित है और तेरे सामने ही है। तुझे गए तीन मास बीत गए, फिर भी तू न लौटी। इसीलिए यह सारा स्वांग करना पड़ा। अरे क्या हुआ, यदि एक घर चला गया, ऐसे छप्पन घर तेरे लिए बना दूंगा। और फिर गया भी तो किसी बाहरवाले के पास थोड़े ही गया है। वह तो अपने ही भतीजे के पास तो है। ऐंऽऽ···।"

जब तक पिताजी बोलते रहे, कोई कुछ न बोला। पर उनका बोलना बंद होते ही उनके भौंदू सिर में यह बात आई कि उनकी पत्नी बेहोश पड़ी है। अब कोई पानी के लिए दौड़ रहा था और कोई प्याज़ कुचल रहा था। और कोई मां की नाक के पास जूता रख रहा था···।

पर इसका उस पर कोई प्रभाव न पड़ा। कुछ भी हो अपनी पत्नी आखिर में घर लौट आई, इसी कल्पना में पिताजी निमग्न थे और काका उनकी ओर देखकर मन ही मन हँस रहे थे। वह भला क्यों न हँसते ? उनके लड़के को पिताजी की मूर्खता के कारण ही तो हमारा घर मुफ्त में मिल गया था।

अब मां के होश आने में आने पर उसके माथे पर सिंदूर लगाना था···उसके लिए नई चूड़ियाँ लानी थीं···नई साड़ी और जम्पर लाने थे और उन सबका खर्चा काका को थोड़े ही उठाना था ! वह भी तो हमारे मूर्ख पिताजी को ही भुगतना था।

दूसरे दिन गुंडा भाई नामक नाई से अपनी छाती पर झूमती हुई दाढ़ी और पीठ पर लटकती हुई जटाओं को मुड़वाते हुए पिताजी मुझसे पूछने लगे, "कल तेरी मां को जो बेहोशी का दौरा पड़ा था, उसका कारण क्या था ?"

मूर्छा का कारण मैं उसी समय मां की दृष्टि से पहचान गया था।

मैं नाटक में अभिनय करने वाले घटोत्कच के समान हाथ घुमाते हुए बोला, "मेरा बेअक्ल और आलसी पति अभी भी जीवित है, यह देखकर ही मां के हृदय को बड़ा गहरा आघात लगा था और इसीलिए वह ··"

नाई पिताजी के दांए गाल पर उस्तरा चला रहा था। अतः उस समय उनसे डरने का मुझे कोई कारण न था। फिर शायद उनके आलसी मन में मुझे मारने का विचार आया ही न हो !"

उन्होंने मुझसे शांतिपूर्ण स्वर में पूछा, "तो क्या वस्तुतः उसकी इच्छा है कि मैं मर जाऊँ?"

मैंने कहा, "हां।"

"पर सारा आनन्द तो जीवित रहने में है।"

मैंने कहा, "होगा, मुझे तो पता नहीं।"

मितव्ययता

रामकृष्ण जोशी

आधुनिक मराठी कथाकारों में श्री रामकृष्ण जोशी का नाम उल्लेखनीय है। अल्पकाल ही में कीर्तिशिखर पर पहुंचने वाले इस उदीयमान लेखक ने उपन्यास, कहानी, विनोदी लेख तथा नाटकों द्वारा मराठी साहित्य-भंडार को समृद्ध बनाया है। अब तक उनके १० ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं तथा 'किर्लोस्कर', 'मोहिनी', 'बसंत' और 'हंस' जैसे मासिकों में उनकी कहानियाँ एवं विनोदी लेख प्रकाशित होते रहते हैं। उनके विनोद-साहित्य का क्षेत्र विशाल है, उनकी दृष्टि गरुड़ के समान सर्वलक्षी है तथा विनोद द्वारा चिकोटी काटना उनकी शैली की विशेषता है। मराठी के प्रसिद्ध विनोदकारों के सदृश उन्होंने भी तीन अमर पात्रों—धोंडीबा नाई, केरोपंत तथा धोंडू—की सृष्टि की है जिन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता।

'टेक केअर ऑफ ए पैनी एन्ड पौन्ड्स विल टेक केअर ऑफ दैमसैल्व्ज़', "बूंद बूंद कर तालाब भर जाता है', 'एक-एक पैसा जोड़कर मनुष्य लखपति बनता है', आदि सुभाषितों से मैं पाठशाला में ही परिचित हो गया था। परन्तु पैसा बचाने के लिए क्या करना चाहिए, यह मुझे अभी तक पता नहीं चला था।

कल यूँही अपनी पत्नी के साथ अपने बाल-मित्र चिबूड के यहाँ गया तो वहाँ एक नहीं दो गुरु मिले। चिबूड-दम्पति ने मितव्ययता का सरल उपाय हमें बता दिया। चिबूड एक हाईस्कूल में और उसकी पत्नी एक म्यूनिसिपल-पाठशाला में अध्यापक थे। उस दम्पति की मितव्ययता देखकर ही मानों ईश्वर ने उन्हें निस्सन्तान रखा था। उनके सीमित परन्तु समृद्ध जीवन को देखकर मुझे और मेरी पत्नी को ईर्ष्या भी हुई और प्रोत्साहन भी मिला। उन्होंने घर का बहुत सा सामान दिखाया।

"यह है स्टील की अल्मारी—" चिबूड बोला।

"साढ़े चार सौ रुपये में आई थी!" उसकी पत्नी ने जोड़ा।

"साढ़े चार सौ? अरे बाप रे!" मैं कह उठा।

"भीतर से देखिए न !" कहकर चिबूड की पत्नी ने उसका द्वार खोला। अन्दर रखे बहुमूल्य वस्त्र तथा अन्य वस्तुओं को देखकर हमारी आंखें चौंधिया गईं। "यह देखिए चांदी के बर्तन !" यह कह चिबूड ने मुझे एक में एक रखे पांच चांदी के बर्तन तथा एक चांदी का लोटा दिखाया।

"ठीक ही है, अलमारी के बाद उसमें रखने के लिए चांदी के बर्तन तो होने ही चाहिएं।" मैं बोला।

"इसीलिए तो खरीदे थे।" चिबूड की पत्नी ने मेरा समर्थन किया। डरते-डरते मैंने धीमे स्वर में चिबूड से पूछा, "क्यों रे, कहीं से कोई लॉटरी मिल गई थी क्या ?"

"छिः, लॉटरी कहाँ से मिलती। यह तो हमारी मितव्ययता का फल है।" चिबूड की पत्नी बड़ी ठसक के साथ बोली।

"इतनी बचत कैसे कर लेती हो तुम ? हमें भी तरकीब बता दो !" मेरी पत्नी चिबूड के वैभव से प्रभावित होकर बोली।

"बात यह है कालिंदीबाई, वेतन मिलते ही मैं इनका वेतन तो बैंक में जमा करा देती हूँ और अपने वेतन से ही घर का खर्चा चलाती हूँ।"

"पर काम चल जाता है क्या ?" मैंने पूछा।

"चलता तो नहीं पर, चलाते हैं।" बैंक में एक बार जमा किये पैसे कभी नहीं निकालते ! निश्चय कर लिया, सो कर लिया, फिर कुछ भी क्यों न हो !"

—चिबूड की पत्नी बोली।

"कभी-कभी बड़ी खींचतान करनी पड़ती है, फिर भी एक दमड़ी तक हम नहीं निकालते। अधिक से अधिक किसी मित्र से उधार ले लेते हैं और वेतन मिलते ही लौटा देते हैं।"

"पर अगले वेतन में कैसे दे पाते हो !" मैंने कुतूहल से पूछा।

"न देने की कौन-सी बात है ! घर की सारी बातों में कतरब्यौंत की नहीं कि अपने आप पैसे बच जाते हैं। उसके बिना भला यह अल्मारी, ये बर्तन, ये आभूषण कैसे आते ?" चिबूड की पत्नी बोली।

"सचमुच ? पर कतरब्यौंत करें भी तो कहां। मुझसे तो बन नहीं पड़ता।" मेरी पत्नी अपनी असामर्थ्य प्रकट करती हुई बोली।

"अच्छा बहिन, मैं तुम्हें तरकीब बताती हूँ। ऐसा किया करो कि यदि आजकल छः सेर चीनी खर्च होती हो, तो अबसे पहली तारीख को केवल पाँच सेर ही लाया करो और एक सेर के पैसे गुल्लक में डाल दिया करो।"

"ठीक है बहिन, बड़ी अच्छी तरकीब है।" मेरी पत्नी आनंदित हो बोली।

"पर पांच सेर चीनी से काम कैसे चलेगा ?" मैंने शंका प्रकट की।

"कैसे नहीं चलेगा ! केवल योजना बनानी पड़ेगी। चाय में दो की बजाय

डेढ़ चम्मच चीनी डालो। महीने के अंत में यदि फिर भी कमी पड़े तो दिन में केवल एक बार चाय पीओ, पर पहली तारीख़ से पूर्व घर में चीनी किसी भी दशा में मत लाओ।"

"और साग-सब्ज़ी में ? हमारा तो बड़ा खर्च होता है इसमें।" कालिन्दी चिबूड पत्नी से अगला पाठ सीखने के लिए बोली।

"साग-सब्ज़ी के लिए हम केवल पांच रुपये रखते हैं।"

"और उनके समाप्त होने पर ?"

"सब्जी खाते ही नहीं।"

"और यदि उन पांच रुपयों में से कभी कुछ बच जाय ?" मुझे यह भी शंका हुई।

"तो उन्हें गुल्लक के हवाले कर देती हूं। वही हमारा सेव्हिंग-बैंक है।"

चिबूड-पत्नी से पैसे बचाने के निराले-निराले मार्ग सीखकर कालिन्दी के साथ मैं घर लौट आया। चिबूड दम्पति के कर्तृत्व से हम बड़े प्रभावित हुए थे। कालिन्दी तो चिबूड पत्नी का अनुकरण कर कतरब्यौंत की कल्पना में इतनी उलझ गई कि यह मेरा सौभाग्य ही था कि उसने लौटते समय ट्राम में मेरी उम्र बारह वर्ष की है, यह बताकर आधा टिकट खरीदने का परामर्श मुझे नहीं दिया।

रात को थाली परोसे जाने पर मैंने पूछा, "क्यों, आज सूखी सब्ज़ी और चटनी नहीं बनाई ? क्या बात है ?"

"अब चटनी प्रतिदिन नहीं मिलेगी। अब चटनी या रायता केवल सोमवार, बुधवार और शनिवार को बना करेंगे। बचत करनी है न !"

"और सब्ज़ी ?"

"सब्ज़ी मंगल, बृहस्पति और रविवार को।"

"और इस तरह क्या भूखा रहना पड़ेगा ?"

"इश्श ! भूखा क्यों, अच्छी खासी आमटी (पतली दाल) है, मठा है।"

"हां, हां, नमक है, मिर्च है। पेट भर खाओ।" मैंने व्यंग्य में वाक्य पूरा किया।

इस पर कालिन्दी हँसते हुए बोली, "उसमें भी कोई बात नहीं। अनेक लोगों को रोज चटनी-रायता नहीं मिलता।"

"पर यह सब किसलिए ?"

"किसलिए ? अब बचत कर पैसे बचाने हैं न !"

"उस चिबूड-पत्नी ने तुझ पर पागलपन सवार कर दिया दिखता है ?"

"पागलपन नहीं। वस्तुतः हमारा खर्च है ही ज्यादा; बचत होनी ही चाहिए।"

"पर हमसे बचत होनी है कठिन ! चिबूड के तो बच्चे नहीं हैं।"

"हमारे बच्चे हैं, इसलिए तो बचत की और भी अधिक आवश्यकता है।

सुभाष को पढ़ाना है, माया का विवाह करना है, उसके दहेज के लिए एक कौड़ी भी तुमने बचाई है ?"

"अरे अभी से उसकी क्या चिंता ? और फिर दहेज तो सरकार ने बंद ही कर दिया है ! तुझे क्या कमी है—रहने को चार कमरे और खाने को दोनों वक्त स्वादिष्ट भोजन—"

"हूं, आपको तो लगता है दोनों वक्त भोजन मिल गया कि बस ! पिछले दस वर्षों में कितने गहने बनवा कर दिए हैं, ज़रा बताइये ।"

"पर गहनों का क्या करना है ? गहनों से तो राष्ट्र की सम्पत्ति सड़ती ही है, ऐसा महान पुरुषों का कहना है ।"

"कौन से महान् पुरुषों का ?"

"उदाहरण के लिए मेरा ही ।"

"तुम ! तुम्हें कौन महान कहेगा ?"

"अच्छा बताओ कालिन्दी, आज तक किस स्त्री को अपना पति महान लगा है ?—आगरकर भी यही कह गए हैं ।"

"कौन आगरकर ? शेटे बिल्डिंगवाला ! उसे क्या अक्ल है ?"

"अरे ठहरो, ठहरो ! शेटे बिल्डिंगवाला नहीं, पूना के आगरकर, गोपाल गणेश आगरकर—सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक और 'सुधारपत्र' के सम्पादक।··· इस सामान्य व्यक्ति का नाम आपके असामान्य कानों में कभी पड़ा है या नहीं ?"

"हं, हं···अच्छा वह आगरकर !" कालिन्दी के मस्तिष्क में मानो एकदम बिजली का बल्ब जल गया। "उन पर लिखा पाठ तो मैंने पढ़ा है सुभाष की पुस्तक में 'देव को न माननेवाला देवपुरुष' खांडेकर द्वारा लिखा हुआ ।"

"अब कैसी बोलीं ! जिस आगरकर का पाठ तूने पढ़ा है, उसी ने कहा है कि गहनों से राष्ट्र की सम्पत्ति सड़ती है ।"

"उनको ऐसा कहने में क्या लगता है ? अधभूखे को उपवास रखने की सलाह देने में क्या ? आगरकर के पास गहनों के लिए पैसे ही कहाँ थे ?"

"पैसे न सही, पर बुद्धि तो थी। उनका कथन क्या असत्य है ?"

"झूठ हो चाहे सच, पर मुझे गहने चाहिएं। घर में सड़ेंगे, सड़ने दो। उस चिबुड को देखो, गहनों से बक्स के बक्स भरे पड़े हैं। राष्ट्र की क्या हानि हुई है उससे ? मोहनमाला, सात तोले की चूड़ियाँ, छः तोले के कंगन, हीरे की अंगूठी कदाचित्···"

"चपला—जोड !"[1]

"चपला जोड नहीं, चपलाहार ।"

"मेरा मतलब वही था ।"

---

१. श्लेष से इसका अर्थ होता है चप्पल-जूते ।

"पर मैं कहती हूँ, कल से बचत कर मैं भी गहने बनवाऊंगी।"

"ठीक है, पत्नी को सब कुछ सौंप कर, जो कुछ आन पड़े, उसे भुगते।"

अगले दिन रविवार था। प्रातः कम चाय और कम चीनी की चाय पीकर पत्नी की इच्छा के अनुसार मैं हॉल में बैठकर बचत-योजना की रूपरेखा बनाने लगा।

पत्नी बोली, "अरे सुनते हो ? आज पैसे रखने के लिए 'गुल्लक' लाना।"

"ठीक है, कितने की आएगी ?"

"चिबूड-पत्नी कहती थी दो रुपये में आती है।"

"अरे बाप रे, दो रुपये ? इससे तो अल्मारी में ही रख देना।"

"अरे तुम्हें इतना भी नहीं सूझता कि अल्मारी में से तो पैसे निकाले जा सकते हैं। जब ज़रूरत पड़ती है, तभी निकाल लेते हैं और बचत के नाम पर रह जाता है—ठनठन गोपाल !"

"पर गुल्लक में से भी तो निकाले जा सकते हैं।"

"नहीं, चिबूडबाई कहती थी कि नहीं निकाले जा सकते।"

"अरे, उसे क्या मालूम ! अगर उसमें से निकाले न जा सकें, तो फिर उसका उपयोग ही क्या ?"

"अन्त में तो निकाले जा सकते हैं।"

"यदि अन्त में निकाले जासकते हैं, तो पहले क्यों नहीं निकाले जासकते हैं।"

"बस मैंने कुछ कहा नहीं कि तुम मीन-मेख निकालने लगते हो। जैसे मुझे कुछ आता ही नहीं !" चिढ़ने और रोने की सीमारेखा पर स्थित कालिन्दी बोली। अतः मैंने भी अधिक आग्रह न किया और कहा "अच्छा ला दूंगा गुल्लक !"

"और एक बही भी लेते आना, हिसाब लिखने के लिए।"

"क्यों, बही का क्या होगा ? कागजों पर लिख लेना हिसाब। माया की निबन्ध की कापी में हैं तो काग़ज।"

"पर बही लाने में क्या हर्ज़ है ?"

'भाई, दो रुपये की गुल्लक और एक रुपये की बही लाकर बचत-योजना का मुहूर्त करना मुझे तो पसन्द है नहीं। इससे तो इन तीन रुपयों की ही बचत कर उसका आरम्भ करना कहीं अच्छा होगा।"

"पर इन तीन रुपयों को रखेंगे कहाँ ?"

"मेरी अल्मारी में।"

"ठीक, ताकि ज़रूरत पड़े तो हज़रत तुरन्त निकाल लें। यह कुछ नहीं। गुल्लक और बही आनी ही चाहिए।"

"ठीक है, ले आओ।"

थोड़ी देर बाद ही कालिन्दी देवी बाजार गईं और एक गुल्लक तथा एक

मोटी सी बही ले आई।

गुल्लक में से पैसे निकल सकते हैं कि नहीं यह देखने के लिए मैंने उसमें एक नया पैसा डाला और चूंकि वह नहीं निकला, अतः हमारे सेविंग-बैंक में एक नया पैसा जमा हो गया और कालिन्दी खुश हो उठी।

दोपहर को बचत का भोजन कर हम 'रहन-सहन' में बचत पर विचार करने बैठे। पहले रविवार को भोजन के बाद मैं घंटे-दो घंटे आराम किया करता था, पर उस बचत-भोजन के कारण उस दिन नींद भी न आयी और इस प्रकार समय की भी बचत हो गयी। और समय तो साक्षात धन है ही 'Time is money'।

"मुझे लगता है चाय के खर्च में काफी बचत हो सकती है।" कालिन्दी नुकीली पेंसिल को ओठ पर रखती तथा गहन विचारों में डूबी होने का अभिनय करती बोली, "तुम बहुत चाय पीते हो जी!"

"बहुत कहाँ, दो बार ही तो पीता हूँ।"

"पर मैं कहती हूँ, दो बार की क्या आवश्यकता है? प्रातः की चाय तो ठीक है, पर संध्या को तुम दफ्तर से सात बजे आते हो और आठ बजे खाना खाने बैठ जाते हो। अतः चाय की क्या जरूरत है?"

"और तुम जो दुबारा पीती हो।"

"पर मुझे चाय के बाद तुरन्त खाना थोड़े ही खाना पड़ता है। बीच में चार पांच घंटे हो जाते हैं। पर तुम्हारे संध्या के भोजन और चाय में तो आधा घंटा भी नहीं बीतता। खाने का मज़ा भी किरकिरा हो जाता होगा, इसीलिए कहती हूँ...।"

"और मैं भी तो यही कहता हूँ कि तुम सदा की तरह सात बजे चाय बनाया करो, उससे कम खाना खाने के कारण अन्न की बचत होगी।"

"अच्छा बाबा! तुम नहीं मानोगे। मैं ही एक बार की चाय कम कर दूंगी।"

"और मैं कहता हूँ कि महीने में दस कंघे तोड़ने की बजाय तू पांच कंघे तोड़ा कर। उससे पांच कंघों के पैसे बचेंगे और उनसे तेरे गहने......

"तो क्या मैं जानबूझ कर कंघे तोड़ती हूँ?"

"यह कौन कहता है। मैंने तो वस्तुस्थिति और उसका उपाय मात्र बताया है।"

"और तुम जो हर तीसरे दिन दो आने देकर बूट-पालिश कराते हो।"

"अरे मैं अफसर हूँ, यदि खराब बूट पहनूं, तो कर्मचारी मेरी इज्ज़त न करें।"

"तो फिर घर पर पालिश क्यों नहीं करते?"

"कौन करेगा? तू कर देगी?"

"[illegible] जी! पैसे बचें, इसलिए मेरा सुझाव था।"

"ठीक है, मैं तैयार हूँ, पर क्या तुम भी वर्तन साफ करोगी ?"

"हां, हां, आजकल पानी की भी कमी नहीं है नलों में। उस महरी को व्यर्थ ही दस रुपये माहवार देना पड़ता है। स्वयं बर्तन साफ करने में क्या बुराई है ?"

इतने में महरी आ गई। कालिन्दी बोली, "गंगाबाई, कल से तुम काम पर मत आना।"

"क्यों बाई जी !" गंगाबाई आश्चर्य से बोली।

"कल से हम स्वयं काम कर लेंगी।" माया ठसक से बोली।

"तुम ?" गंगाबाई मुस्कराते हुए बोली।

"हाँ, हम ! हम अब पैसे बचायेंगे।" सुभाष ने कहा।

"अरे सुभाष, तू बीच में क्यों बोलता है ? तुम दोनों जाकर पढ़ो।"

गंगाबाई के चले जाने पर मैं उद्वेगपूर्ण स्वर में वोला, "हूँ, तो बचत करने की ठान ही ली तुमने !"

"और भी बहुत-सी बातों में बचत हो सकती है। तुम रोज सिगरेट के डिब्बे के डिब्बे पी जाते हो ! क्या जरूरत है ? सिगरेट पीने में और फिर उसके कारण बीमार पड़कर दवा में दुगना खर्च करना पड़ता है। वह भी कम हो सकता है।"

"ठीक है, और ?"

"और तुम जो एक रुपयेवाला रूमाल लाते हो, वह बंद करो। मैं धोती के बना दूंगी।"

"क्या नई धोती फाड़ोगी ?"

"अरे नई नहीं, पुरानी ! जरा सी बात भी तुम्हारे दिमाग़ में नहीं बैठती।"

"ठीक, और यदि मैं दादर से चर्चगेट तक दफ्तर के लिए पैदल जाया करूँ, तो फर्स्ट क्लास के पास के पैसे बच जाएंगे। ठीक है न ?"

"हां, ठीक है।" अपने विचारों में डूबे रहने के कारण उसने मेरा व्यंग्य नहीं समझा।

इस प्रकार दिन भर माथापच्ची कर पैसे बचाने के अनेक मार्ग हमने ढूंढ निकाले। कहीं चार आने, कहीं चार रुपये, कहीं एक नया पैसा—इस प्रकार प्रतिमास सौ रुपये की बचत हो सकती थी। प्रतिमास सौ अर्थात् प्रतिवर्ष बारह सौ ! अर्थात् दस वर्ष में बारह हजार !···इतनी रक़म के तो ब्याज से ही मनचाहे आभूषण बन सकते थे···और यदि कहीं सुभाष तथा माया ने परीक्षा में प्रथम स्थान पाकर दस रुपये मासिक का वजीफा पा लिया···इसी तरह किसी घी-कम्पनी ने आकर्षक विज्ञापन के लिए एक हज़ार रुपये के इनाम की घोषणा की थी और कालिन्दी का मत था कि मैं उसे पा सकता हूँ।···इस प्रकार आनेवाले दस वर्षों में लाख-डेढ़ लाख की रक़म सहज ही जमा करने का हमारा अनुमान था।

अरे हाँ, इस हिसाब में एक आना जोड़ना तो रह ही गया ! —कुछ दिन हुए एक ग़रीब स्त्री भीख मांगने आई थी। उस पर दया कर एक आना देने के लिए मैंने जेब में हाथ भी डाला था, पर तभी बचत-योजना का स्मरण आते ही मैंने उसे टाल दिया था। वह आना भी तो लाख रुपयों में जुड़ना चाहिए।

अगले दिन से घर में बचत-योजना जोरों से शुरूहुई। अब बड़ा भारी काम कँधों पर आ पड़ा है, इस भावना से कालिन्दी प्रातः जल्दी उठी। उसने अंगीठी जलाई और वह भी बहुत कम मिट्टी का तेल डालकर। लकड़ियाँ भी कम डालीं। स्वयं गुनगुने पानी से ही स्नान किया और मुझे तथा बच्चों को भी गुनगुने पानी से ही नहाने का आदेश मिला। उस गुनगुनेपन में भी प्रतिदिन कमी कर अन्त में हम सब को ठंडे पानी से स्नान करने की आदत डालने का उसका विचार था।

अब तक कालिन्दी बहुत सिन्दूर लगाती थी, अब उसमें भी कमी हो गई। कालिंदी का अनुमान था कि इससे वर्ष में छप्पन नए पैसों की बचत होगी। पाउडर में भी कमी की गई। बाल काढ़ते समय हल्के हाथों कंघे का प्रयोग कर उसके दांते भी कम तोड़े गए। इसमें तिगुना समय अवश्य लगा, पर निश्चय ही कुछ नए पैसे तो बचे ही। बाल-पिन दराज में ढूंढ़ते समय सिन्दूर की शीशी गिर कर टूट गई। पर कालिंदी ने फुर्ती से स्वच्छ कपड़े से उसे समेट कर कम से कम चौथाई बचा लिया।

दूध, चाय, चीनी के कम प्रयोग से बनी कड़वी चाय हमें अन्य दिनों से भी मीठी लगी। अतः मुझे एक कप और पीने की इच्छा हुई और वह मुझे चुपचाप होटल में जाकर पूरी करनी पड़ी।

संध्या समय ऑफिस से घर लौटने पर चाय बंद होने की याद कराये जाने पर मैंने लोटा भरकर पानी लाने के लिए कहा। पानी पीते समय जब मुझे बर्तन कुछ अस्वच्छ दिखा, तो मैंने कालिंदी से कहा, "अरे उस गंगाबाई से कहो कि तनिक बर्तन साफ धोया करे।"

कालिंदी क्रोध में बोली, "क्यों ? क्या बर्तन गन्दा है ? क्या गन्दगी है इसमें ?"

"सदा की तरह स्वच्छ नहीं है। स्टेनलैस स्टील का बर्तन तो चाँदी की तरह चमकना चाहिए न ! इसमें तो कालौस लगा है।"

"ठीक है जी, यहाँ तो काम करते-करते हाथ टूट गए, पर आपको क्या ?"

"पर मैं तो गंगाबाई के लिए कह रहा था, तुम क्यों नाराज होती हो ?"

"आज बर्तन मैंने साफ किए थे। गंगाबाई को तो कल मना कर दिया था ।"

बचत की वह योजना ध्यान में आते ही मैं बोला, "क्षमा करना, मैं तो भूल

ही गया था। यदि वह बर्तन तूने साफ किया है, तब तो वस्तुत: बहुत स्वच्छ है—अर्थात् तुम्हारी दृष्टि से।"

"यदि यही बात है तो मैं कल से ही बर्तन मांजना बंद कर दूंगी।"

"फिर कौन मांजेगा ? मैंने भी यह काम नहीं सीखा है। गंगाबाई से पूछ देखना, शायद वह फिर से तैयार हो जाय।"

"हाँ, तुम तो चाहते ही यह हो। तुम्हें अच्छा थोड़े ही लगता है कि पत्नी पैसे बचाकर चार गहने बनवा ले और तनिक सुन्दर दिखे।"

"पर तुम तो बिना आभूषणों के ही सुन्दर दिखती हो।"

"बस बातें बनाना ही तुम्हें आता है।"

"पर पैसे बचाकर क्या कोई लखपति हुआ है ? टाटा-बिड़ला क्या पैसे बचा-बचा कर करोड़पति बने हैं ?"

"टाटा-बिड़ला की बात छोड़ो, पर चिबूड कैसे धनवान बन गया ?"

"उस चिबूड को जाने दो, मैं उसे धनवान नहीं मानता। चार चांदी के बर्तन खरीदकर कोई धनवान नहीं बन जाता।"

"पर तुम्हारे पास तो वह भी नहीं हैं।"

"न सही, पर मन में आए तो मैं चार क्या, चार सौ ला सकता हूँ।"

"आहाऽ हा ! आहाहा ऽ !" कालिन्दी मज़ाक उड़ाते हुए हँसी।

"नहीं मानती तो रहने दो।"

रात को खाना खाने के बाद मैं तानकर सो गया। बचत-योजना के कारण बत्ती जल्दी बुझाने का कम से कम यह तो लाभ हुआ कि प्रात: सात बजे तक मजे में सोता रहा। प्रात: उठा तो देखा आज पहली बार स्नानगृह में ब्रुश के ऊपर पेस्ट रखा हुआ था। निसन्देह वह कालिन्दी का काम था। रोज से कम पेस्ट होने की वजह से कुछ और पेस्ट निकालना पड़ा।

चाय जब बिल्कुल ही कड़वी लगी, तो मैंने कालिन्दी से कहा, "क्यों, यह चाय है कि…?"

"क्यों क्या हुआ ?" उसने तत्परता से पूछा।

"इसमें शायद चीनी डालना भूल गई हो।"

"भूल कैसे हो सकती थी। मुझे खूब याद है, चीनी का डिब्बा तख्ते से उठाया था।"

"पर तख्ते पर से चीनी का डिब्बा उठाने मात्र से तो चाय मीठी होती नहीं।"

"मैंने चीनी डाली थी चाय में।"

"डाली होगी ! पर वह इतनी कम है कि उसका पता ही नहीं है। इसमें एक चम्मच और डालो।"

अन्त में बड़ी मुश्किल से आधा चम्मच चीनी मिली।

इस बचत-योजना के परिणामस्वरूप हमारे जीवन में नव चैतन्य निर्माण होने लगा। अब कालिन्दी प्रत्येक छोटा-मोटा काम बड़ी सावधानी और मन लगाकर करने लगी। बच्चे नहाना शुरू करते कि "मरो! कितना साबुन खराब करते हो? साबुन कम लगाओ, शरीर ज्यादा मलो! ···साबुनदानी में से पानी निकाल दो" यह चीख-पुकार शुरू हो जाती। पहले के साढ़े छः आने के साबुन के स्थान पर छः आने वाला आने लगा। यद्यपि मुझे उसकी गन्ध पसन्द न थी, पर दो पैसों की बचत के लिए उसीसे नहाना पड़ा।

बचत के अभिनव उपायों को खोज निकालने की ओर मेरी अपेक्षा कालिन्दी का ध्यान कितना अधिक था, इसकी कल्पना आपको निम्न प्रसंगों से हो जायगी—

एक रविवार को दोपहर के समय हम सब खुशी का ढोंग बनाए हाल में बैठे थे। कालिन्दी कुछ पढ़ रही थी। पढ़ते-पढ़ते एकदम उत्साह से बोली, "तुमने यह पढ़ा क्या?"

"क्या?" मैंने चौंककर पूछा।

"मुरारजी देसाई अपने बाल स्वयं काटते हैं।"

"ठीक है, दूसरे की तो हजामत नहीं बनाते।" मैं अनास्था दिखाते हुए बोला।

"पर अपने केश वह स्वयं ही क्यों काटते हैं?" कालिन्दी पर समाचार-पत्र के उस संवाद का बड़ा प्रभाव पड़ा था।

"काटते होंगे यों ही।" मैं बोला।

"मुझे लगता है, वह बचत के लिए ऐसा करते होंगे।"

"पर बाल-कटाने में बचत करके ऐसा कितना खर्च कम हो जायगा।"

"बहुत होगा, अब तुम हर बार दस आने खर्च करते हो न!"

"दस आने और ऊपर से चार आने टिप।"

"हां, तो चौदह आने तुम्हारे, दस आने सुभाष के-कितने हुए? चौदह, पन्द्रह, सोलह···"

उसका हिसाब लगने तक मैं आंखें बन्द किए बैठा रहा।

"···तेईस आने हुए।" वह बोली।

"तेईस नहीं, चौबीस" मैंने कहा।

"हां, चौबीस! एक आना जोड़ना भूल गई! अब तुम महीने में एक बार बाल कटवाते हो न!"

"हां।"

"यदि तुम अपने और सुभाष के बाल स्वयं काटने लगो, तो महीने में चौबीस आने बच जाएं। ठीक है न?"

"पर यदि मैंने अपने बाल स्वयं काटे तो मैं कैसा दिखूंगा, इसकी भी कल्पना

है? तेरे तो पैसे बच जायेंगे, पर बच्चे यह समझकर कि पड़ौस में बाबला ऊंट आगया है, मुझे पत्थर मारने लगेंगे।"

मेरी बात कालिन्दी को ठीक लगी, फिर भी उसने हार नहीं मानी और बोली, "ठीक, पर सुभाष के बाल काटने में तुम्हें क्या आपत्ति है?"

"आपत्ति तो कुछ नहीं, पर यदि बाल काटते-काटते गल्ती से कान कट गया, तो डाक्टर को देने पड़ेंगे पच्चीस रुपये।"

"अच्छा तो ऐसा करो कि एक महीने की बजाय दो महीने में बाल कटाया करो।"

यह बात मुझे हारकर माननी ही पड़ी। और इस तरह मैं चौदह आने बचाने लगा तथा एक बार तो बाल बिना कटवाए केवल नाई को चार आने टिप देकर ही लौट आया और दस आने बचा लिये।

उसके बाद तो हम सबने एक बार तो इतनी बचत की कि पूछो मत। हम सबने ढाई रुपये की टिकट खरीदकर नाटक देखने का निश्चय किया पर ऐन नाटक शुरू होते ही नाटक न देखने का निश्चय किया और इस तरह हम चारों ने मिलकर दस रुपये बचा लिए! यह युक्ति मिल जाने पर तो मैंने बचत्त करने में हद ही कर दी। प्रतिदिन मैं सिनेमा अथवा होटल जाने का कार्यक्रम बनाता और तुरन्त उसे रद्द कर पैसे बचा लेता। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में खर्च की नाकाबन्दी कर हम प्रतिमास सौ रुपये बचाने लगे।

कालिन्दी का कपड़े धोने और बर्तन मांजने का जोश तीन दिन से अधिक टिका होता तो हमने प्रति माह दस रुपये और बचा लिये होते। पर तीन दिन के बाद ही उसकी अंगुली छुरी से कट जाने के कारण बर्तन धोने और कपड़े धोने का कार्य पुनः गंगाबाई को पहले से दो रुपये अधिक देकर तथा हाथ-पैर जोड़कर सौंपना पड़ा।

थोड़े दिनों में ही हमारी बचत चाल के सब लोगों की चर्चा और कौतुक का विषय बन गई। कितनों ने ही तो हमसे उसकी शिक्षा ले अपने घरों में उसका प्रयोग शुरू कर दिया। कालिन्दी का नाम घर-घर में गूंजने लगा। "उस कालिन्दी बाई को देखो, कैसे पैसे बचाती है! फिर तू क्यों नहीं!" इस प्रकार की बात कितने ही पति अपनी पत्नियों से कहने लगे। और तो और, यदि कोई हमारे घर आता तो यह पूछने की बजाय कि क्या हालचाल हैं? खाना चल रहा प्रतीत होता है! पूछने लगे "क्या हाल हैं? बचत चल रही दिखती है।" और हम भी अभिमानपूर्वक पर नम्रता से कहते "हां, थोड़ी थोड़ी।"

बचत के कारण कम अन्न खाने से कालिन्दी का मुटापा कम हो गया। उसे लगने लगा कि उसकी उम्र दो-चार वर्ष कम हो गई है। मेरी तोंद भी कम होगयी और जो पतलून छोटी होगई थीं वे फिट आने लगीं। इससे नई पतलून सिलवाने

के पैसे वच गये। बच्चे भी दुबले होने के कारण हिरन की तरह चपल हो गये।

हमारे बचाये पैसों से गुल्लक भर गई। उसमें दो सौ रुपये तो हो ही गए होंगे।। कालिन्दी का विचार उनसे गहने बनवाने का था, मैं उनसे किसी गांव में मकान के लिए ज़मीन खरीदना चाहता था और बच्चे उनसे मोटर खरीदने के पक्ष में थे। पर एकमत न होने के कारण हम सब उस गुल्लक की ओर चोर-दृष्टि से देखते थे।

एक दिन हम सब उसे हाथ में ले-लेकर यह देख रहे थे कि वह कितनी भारी लगती है कि डाकिये ने एक पत्र डाला। उसे पढ़ते ही गुल्लक मेरे हाथ से गिर पड़ी। कालिन्दी ते घबराकर पूछा "किसका पत्र है ?"

"मेहमान का !" मैं कपाल पीटते हुए बोला।

"मेहमान ? अरे राम राम ! कौन ? सास जी आरही हैं क्या ?" कालिन्दी भौं सिकोड़ती हुई बोली।

"सास जी नहीं, तुम्हारी बहिन जी, हमारे साड़ू साहब, उनके बच्चे और नौकर।"

"सच, मालती आ रही है ! जबलपुर जाने के बाद देखी ही नहीं।" कालिन्दी हर्षित स्वर में बोली।

"पर इसमें इतना आनन्दित होने की क्या बात है ?"

"अरे दो वर्ष बाद बहिन से मिलूँगी, आनन्द नहीं होगा, तो क्या होगा ?"

"पर अपनी बचत-योजना का क्या होगा ?"

"उसका क्या, फिर कर लेंगे।'

"पर आधे-पेट रह यह जो पैसे बचाए हैं, सो क्या मेहमानों के लिए ?"

"अब समझी ! मेरे पीहर वालों के आने पर तुम कभी खुश हुए हो ! मेरी तो तकदीर ही फूट गई जो ऐसा घर मिला !" कालिन्दी उस गल्ती पर शोक प्रकट करने लगी जो अब नहीं सुधर सकती थी।

"ठीक है, आने दो अपनी बहिन को ! पर अब गहने न बनने के लिए मेरे नाम को कभी मत रोना।" मैंने कहा।

मेहमान लोग आए। कालिंदी बड़ी प्रसन्न थी। उसका बहनोई धनवान था। अतः हमारे घर में उल्टी गंगा बहने लगी। हम भी कुछ कम रईस नहीं हैं, यह दिखाने के लिए कालिंदी बहुत खर्च करने लगी। उसकी बहिन के बच्चों के लिए सायं-प्रातः रुपये का बिस्कुट का डिब्बा खर्च होने लगा। उसकी बहिन चन्दन का साबुन और टाटा का सुगन्धित तेल प्रयोग करती थी। ये दोनों चीज़ें हमारे बचत के जीवन में आज तक वर्ज्य थीं। पर ज्योंही बहिन ने कहा, "यह कैसा रद्दी साबुन इस्तेमाल करती हो ? और यह दुर्गन्धित तेल तुम कैसे लगा पाती हो ? हम तो सदा कोकोनट हेअर आयल प्रयोग करते हैं।' त्योंही कालिन्दी ने मुझ से दस

रुपये लेकर वे दोनों चीज़ें और साथ ही स्नो-पाउडर घर में लाकर रख दिये।

यद्यपि मेहमान लोग इन वस्तुओं का जी-भर कर उपभोग करते थे, पर बचत की आदत होने के कारण हम लोग अब भी सादा नारियल का तेल और छः आने वाला रद्दी साबुन ही प्रयोग करते थे। हमारे बच्चे भी अतिथि-बच्चों के अनुपात में पांच की जगह एक ही बिस्कुट खाकर बचत करते थे।

मालती के पति को दिन में छः बार चाय पीने और संध्या को कोको पीने की आदत थी। अतः कालिन्दी को उस सबकी व्यवस्था करनी पड़ी।

प्रति दिन नई सब्जी, नए व्यंजन, सिनेमा, नाटक, प्रेक्षणीय स्थल देखने इत्यादि में मेरी जेब खाली हो गई। कालिन्दी जब पैसे मांगने आती, तो मैं अर्थ-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए पूछता, "उस बचत का क्या हुआ ?" पर वह यह कहते हुए कि फिर कभी बात करूंगी चली जाती।

अन्त में यह खर्च असह्य हो उठा। खर्च होते हुए भी हम स्वयं दरिद्रता का जीवन बिता रहे थे। अतः मेरा मन विद्रोह कर उठा।

रविवार को सब लोग 'आरे कालोनी' देखने जाने वाले थे। पहले तो मैंने भी जाने की सहमति दे दी थी, पर बाद में 'दफ्तर' का 'अर्जेंट वर्क' कहकर मैं घर पर ही रह गया।

जाते हुए कालिन्दी ने मुझसे दस रुपये का नोट मांगा। "यह अन्तिम नोट है" मैंने थोड़े में बहुत कहने का प्रयत्न किया।

"होने दो। कल मित्रों से उधार ले आना। अगले महीने लौटा देंगे।" कालिंदी उधार खाने वाले व्यक्तियों की तरह बोली।

"ठीक है !" यह कह मैंने विद्रोही विचारों को कार्यान्वित करने का निश्चय किया।

कुछ देर बाद सब लोग चले गए। उनके जाने के दस मिनिट बाद ही मैं उठा और गुल्लक निकाल लाया। फिर हथौड़ी, पेचकश ले उसे तोड़ने लगा। पांच मिनिट में ही चतुर चोर की तरह मैंने उसका ढक्कन तोड़ डाला और उसमें के नोट और रेज़गारी निकाल ली तथा गुल्लक बाहर फेंक दी। लगभग दो सौ रुपये मिले। उन्हें जेब में डाल तुरन्त घर से निकल पड़ा और पैसे खर्च करने की जगह खोजने लगा।

पहले एक होटल में गया। पिछले दो महीनों की होटल की बचत एक ही बार में खर्च कर डाली। फिर ५५५ का एक सिगरेट का डिब्बा लिया तथा उसमें से एक सिगरेट सिलगाता हुआ मॉर्निंग-शो के विज्ञापन देखता हुआ घूमने लगा। 'दुपार' थियेटर में 'मिज़रेबिल हसबैंड' नामक चित्रपट लगा हुआ था। सबसे ऊंचे दर्जे का टिकट ले थिएटर में गया। चित्रपट देखने के बाद एक उत्तम भोज-नालय में गया और भोजन के बाद पान चबाता हुआ घर लौट आया।

आज का आधा दिन बड़े मज़े में बीतने के कारण मन अत्यंत सन्तुष्ट था। जेब में अभी भी काफी पैसे बचे थे। अत: शेष आधा दिन भी मज़े में बीतने वाला था। पर इस समय मैं सोने की सोच रहा था। उधर अतिथि 'आरे-डेयरी' की भैंस देखें, और इधर मैं भैंसे की तरह आराम से सोऊं, यह मेरा विचार था।

कालिन्दी की बचत भगवान जाने कब तक चले। पर मैंने आज उस बचत का बदला ले लिया था।

एप्रिल फूल

वि० आ० बुवा

पांढरपुर में १९२६ में उत्पन्न बुवा आज मराठी के सर्वप्रथम विनोदकारों में से एक हैं। आपने १९५० ई० से अब तक लगभग २० पुस्तकें लिखी हैं और नवयुवकों में उनका साहित्य अत्यधिक रुचि के साथ पढ़ा जाता है। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं—कथा, एकांकी, निबन्ध आदि में हास्य-सृष्टि द्वारा मोहकता उत्पन्न की है। बम्बई के आकाशवाणी केन्द्र से वह हास्य-लेखों का प्रसार कर श्रोताओं को लोट-पोट कर डालते हैं। मराठी पत्र-पत्रिकाएं उनकी कृतियां प्रकाशित करने में अपना गौरव मानती हैं और वह स्वयं भी दीपावली के अवसर पर 'बुवा' नामक वार्षिक पत्र निकाल कर पाठकों को मनोरंजन की सामग्री प्रदान करते हैं। उनके हास्य के अनेक भेद हैं—स्वाभाव-निष्ठ, प्रसंग-निष्ठ, शब्द-निष्ठ और कल्पना-निष्ठ। चटकले बनाने में भी वह सिद्ध-हस्त हैं।

बुधवार दिनांक १ एप्रिल, १९५९ को मुझे पुरस्कार मिला। शपथ खाकर कहता हूं कि मुझे पुरस्कार मिला। शपथ खाने का कारण यह है कि आप शायद विश्वास न करें क्योंकि पहली एप्रिल की महिमा सबको ज्ञात है। वह तो केवल संयोग था कि उसी दिन मुझे पुरस्कार मिला।

१९५९ के जनवरी मास की बात है। दिल्ली से मेरे नाम एक पत्र आया। पत्र टंकित था। पत्र के लैटर-हैड पर छपा था 'साहित्य विकास अकादमी,' नई दिल्ली' और हस्ताक्षर थे एक सिविलियन अधिकारी के। सारा पत्र यद्यपि टंकित था, पर पत्र के आरम्भ में श्रीयुत के आगे स्याही से मेरा नाम लिखा था; और एक विषय पर चिह्न लगाकर उसकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया गया था। उस पत्र की प्रतिलिपि यह है—

साहित्य विकास अकादमी
नई दिल्ली
दिनांक ३-१-१९५९

श्री वि० आ. बुवा को साष्टांग नमस्कार विनती विशेष,

स्वातंत्र्योत्तर-काल में ललित साहित्य और ललित कलाओं को प्रोत्साहन देने के हेतु सरकार द्वारा इससे पूर्व भी दिल्ली में दो संस्थाएं–'साहित्य अकादमी' और 'ललित कला अकादमी' स्थापित की जा चुकी हैं। पर इन संस्थाओं में से 'साहित्य अकादमी' केवल प्रकाशित पुस्तकों को ही पुरस्कृत कर उनके लेखकों को गौरवान्वित करती है। आपको विदित ही होगा कि तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री का 'वैदिक धर्म का इतिहास' तथा स्वर्गीय चिंतामणराव कोल्हटकर का 'बहुरूपी' इस संस्था द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं।

अकादमी के इस सीमित कार्यक्षेत्र को देखकर ही उसकी एक शाखा के रूप में उपर्युक्त संस्था स्थापित की गई है। इस नवीन संस्था की मूल कल्पना वस्तुतः स्वर्गीय मौलाना अबुल कलाम आज़ाद की थी। परन्तु उसे कार्यान्वित करने का श्रेय बहुत कुछ श्री हुमायुं कबीर और डा० श्रीमाली को है।

साहित्य के मुख्यतः दो भेद हैं—अभिजात साहित्य और साहित्य-शास्त्र। शास्त्रीय ग्रंथों को पुरस्कृत करने का कार्य साहित्य अकादमी करती है। प्रत्येक व्यक्ति महान् ग्रंथ नहीं लिख सकता। अतः दीर्घ निबन्धों को पुरस्कृत करने के लिए ही इस संस्था की स्थापना हुई है।

भारतीय संविधान के अनुसार इंग्लिश और संस्कृत सहित चौदह भाषाओं में यह अकादमी कार्य करती है। इस वर्ष अकादमी ने निम्न विषयों पर प्रदीर्घ निबन्ध अथवा प्रबन्ध मांगे हैं। नीचे लिखे विषय मराठी के लिए हैं—(१) ज्ञानेश्वरी में अलंकार-योजना (२) रामदास और तुकाराम का व्यवहारवाद (३) अव्वल अंग्रेजी काल में मराठी का विकास (४) आधुनिक विनोद और विनोद शास्त्र (५) आधुनिक मराठी लघु कथा।

उपर्युक्त पांच विषयों में से आप कृपया चिह्नांकित विषय पर अपने विचार लिखें। तीन-चार वर्ष पूर्व केन्द्रीय सरकार ने' 'Who's who of Indian writers' नामक पुस्तक के लिए सभी भारतीय भाषाओं के लेखकों का परिचय एकत्र किया था। उसी के आधार पर लेखकों को पत्र के रूप में यह 'परिपत्र' भेजा गया है। जो लेखक जिस प्रकार का साहित्य लिखता है, उसी के अनुरूप उसे निबन्ध का विषय दिया गया है।

प्रत्येक विषय के लिए तीन पुरस्कार निर्धारित किये गये हैं—प्रथम दो हज़ार का, दूसरा १५००) का तीसरा १०००) का। निबन्ध पहुंचने की अन्तिम तिथि २८ फरवरी १९५९ है। निर्णय ३१ मार्च १९५९ को डाक द्वारा

सूचित कर दिया जायगा। पुरस्कृत व्यक्तियों के नाम ३१ मार्च १९५९ को ही रजिस्टर्ड पोस्ट द्वारा 'स्टेट बैंक ऑफ इंडिया' की स्थानीय शाखा की मार्फत चैक भेज दिया जायगा। सत्कार-समारोह और प्रशस्ति-पत्र देने का कार्यक्रम एप्रिल के अन्तिम सप्ताह में विज्ञान-भवन में राष्ट्रपति द्वारा सम्पन्न होगा। पुरस्कृत सज्जनों को निश्चित तिथि की सूचना बाद में भेज दी जायगी।

भवदीय

—हस्ताक्षर

यह पत्र पढ़कर जब आनन्द पेट में न समा सका, तो मैं देखने लगा कि वह आकाश में भी समाता है या नहीं, पर वह वहाँ भी न समाया। दो हज़ार का पुरस्कार और राष्ट्रपति द्वारा सत्कार की कल्पना कर मेरा पेट हँसते-हँसते दुखने लगा। आज तक लेखक के नाते मुझे पर्याप्त मान मिला है। प्रसिद्ध मासिक पत्रों के विशेषांकों के लिए लेख लिखने के हेतु तो पत्र आते ही रहते है; व्याख्यान देता हूं; कहीं अध्यक्ष बनाया जाता हूं; मेरे कर-कमलों से पारितोषिक भी दिलाये जाते हैं; बहुत से लोग मेरे हस्ताक्षर लेते हैं; आकाशवाणी पर तो कार्यक्रम होते ही रहते हैं। अभिप्राय यह कि बहुत से सम्मान मैं पाता रहता हूं। अब यह एक और महान सम्मान घर बैठे ही मेरी ओर बढ़ा चला आ रहा था।

पारितोषिक जितना बड़ा था, उसका पाना उतना ही कठिन था क्योंकि नागपुर से कोल्हापुर तक फैले वृहद् महाराष्ट्र में अनेक यशस्वी लेखक भाग लेंगे, यह निश्चित था। उनमें भला मेरी दाल कैसे गल सकती थी ? मैं कल्पना करने लगा कि कौन-कौन विद्वान उस प्रतियोगिता में भाग लेंगे। यदि पु. ल. देशपांडे ने भाग लिया तो प्रथम परितोषिक की आशा ही मुझे नहीं करनी चाहिये। फिर दूसरे या तीसरे पुरस्कार को हड़पने वाले प्रा० मालशे सरीखे विद्वान विनोदी-लेखक अथवा 'विनोद' पर विद्वत्ता पूर्ण प्रबन्ध लिखने वाले लेखक भी महाराष्ट्र में कुछ कम नहीं हैं। आज तो महाराष्ट्र के घर-घर में लेखक पैदा हो गए हैं।

ऐसी स्थिति में उस प्रतियोगिता में भाग लेना मानो स्वयं पराजय और अशुभ को निमंत्रित करना था। अतः मैंने धीरे-धीरे प्रतियोगिता में भाग लेने का विचार ही मन से निकाल दिया। मैं सोचने लगा वह मेरे बस का काम नहीं, वह तो किसी प्रसिद्ध प्रोफेसर को करना चाहिए। इस प्रकार छः-सात दिन बीत गए। यद्यपि निश्चय कर लिया था कि प्रतियोगिता में भाग नहीं लूंगा, तो भी विषय हर समय मस्तिष्क पर छाया रहता था। दो हज़ार का पुरस्कार मुझे बार-बार लिखने के लिए प्रवृत्त कर रहा था।

मेरा मन दोलायमान हो रहा था, पर अन्त में मैंने प्रतियोगिता में भाग लेने का निर्णय कर ही डाला। मेरे मन में यह जानने की भी उत्सुकता हुई कि और कौन-कौन लेखक उसमें भाग लेंगे। पु. ल. देशपांडे कार्य-व्यस्तता और सरकारी

नौकरी के कारण भाग नहीं ले रहे थे। मैंने सोचा, 'चलो अच्छा हुआ, एक महारथी तो मार्ग से हटा। मानो अब मुझे ही प्रथम पुरस्कार मिलने वाला था। इस प्रकार मैंने भाग लेने का अन्तिम निर्णय कर डाला और उस कार्य में लग गया। 'विनोद' पर लिखी अनेक पुस्तकें एकत्र कीं, उनमें से टिप्पणियाँ लीं, नोट्स लिखे, रूपरेखा तैयार की। उसे किस प्रकार विस्तार देना है, यह मन ही मन सोचा और विवेचन को अधिक सरल और मार्मिक बनाने के हेतु अनेक उपयुक्त हास्य-कथाएं चुन लीं। शुभ दिन एवं शुभ मुहूर्त में प्रबन्ध लिखना प्रारंभ कर दिया और धीरे-धीरे अथवा सच तो यह है कि जल्दी-जल्दी मेरे लेख का कलेवर बढ़ने लगा और निश्चित तिथि से पूर्व ही मैंने उसे लिख डाला। कुल मिलाकर मेरा प्रबन्ध २५० टंकित पृष्ठों का बैठा।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से उसकी परीक्षा होनी थी। अतः उसकी एक प्रति अपने पास रखकर शेष आवश्यक प्रतियाँ मैंने नई दिल्ली भेज दीं। चार पाँच दिन बाद उनके पहुंचने की सूचना भी मुझे मिल गयी। पिछला मास अत्यन्त व्यस्तता में बीता था, प्रतिदिन लगातार घण्टों तक लिखना पड़ा था, अतः अब प्रबन्ध भेजने के बाद केवल ३१ मार्च की प्रतीक्षा थी।

मेरे मित्रों—चिन्तू देशपांडे, अनन्त कुलकर्णी, माधव जोशी को मेरी यह व्यस्तता ज्ञात थी। ज्ञात होना स्वाभाविक भी था क्योंकि फरवरी से ही मैंने उनके साथ घूमना, ताश खेलना, होटल में जाकर चाय पीना और गप्पें मारना छोड़ दिया था। वे लोग बार-बार घर आकर देख जाते थे कि मैं किस धंधे में लगा हुआ हूं। अतः मुझे उन्हें सारी बात बतलानी ही पड़ी थी, यद्यपि शपथ ले ली थी कि वे लोग यह बात किसी से न कहेंगे और उन्होंने अपनी इस शपथ को पूरी तरह निभाहा भी !

लिखने का भार यद्यपि सिर से उतर गया था, पर अब निर्णय की प्रतीक्षा के कारण परेशान रहने लगा था। ऊपर से यद्यपि सबके प्रति मेरा व्यवहार पहले की ही तरह था, तथापि मन में चौबीस घण्टे उथल-पुथल होती रहती थी। और ज्यों-ज्यों ३१ मार्च निकट आती जाती थी, त्यों-त्यों वह भी अधिक बढ़ती जाती थी। ३० मार्च की रात को तो वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। बहुत देर तक तो नींद ही न आयी, लगातार निर्णय तथा प्रथम पुरस्कार सम्बन्धित कल्पनाएं ही मन में चक्कर काटती रहीं। प्रातः के समय जाकर कुछ देर के लिए आंखें लगीं।

आंखें लगते ही उस प्रातःकालीन स्वप्न में मैंने एक आह्लाददायक दृश्य देखा। मुझे प्रथम पुरस्कार मिलने का पत्र आया है। अतः मैं अत्यन्त हर्षित हो उठा हूं। दो चार दिन बाद २०००) का चैक आया है और एक सप्ताह बाद नई दिल्ली से पत्र भी आया है कि २१ अप्रैल को विज्ञान-भवन, नई दिल्ली में राष्ट्रपति द्वारा

मेरा सत्कार होगा। स्वप्न में ही मेरा मन तुरन्त नई दिल्ली पहुंच गया और मैंने देखा कि राष्ट्रपति के कर-कमलों से मैं प्रशस्तिपत्र तथा स्वर्ण-पदक पा रहा हूं। वह ये वस्तुएं मुझे सहास्य मुद्रा में प्रदान कर रहे हैं। फोटोग्राफर हम पर फ्लैश बल्ब का प्रकाश डालकर क्लिक कर रहा है और उपस्थित सज्जनों द्वारा तालियाँ बजाने पर मैं राष्ट्रपति तथा उपस्थित जनसमुदाय का विनम्र अभिवादन कर रहा हूं। यह स्वप्न चल ही रहा था कि दूध वाले भैय्या की 'दूध, दूध' की आवाज से वह भंग हो गया।

दिन निकलते ही जब मन न माना तो डाक देखने के लिए डाकखाने चल दिया। वहाँ चितू देशपांडे था ही। अतः उसने हमारे क्षेत्र के डाकिये के पास जाकर स्वयं मेरी डाक के विषय में खोज-बीन की, रजिस्टर्ड पत्र भी देख डाले, पर 'अमेरिकन रिपोर्टर' तथा एक विवाह के निमंत्रण-पत्र के अतिरिक्त कुछ न निकला। मेरा चेहरा एकदम उतर गया। मैं समझ गया कि निर्णय मेरे पक्ष में नहीं हुआ—मुझे तृतीय पुरस्कार भी नहीं मिला है। मुझे उदास देख चितू मुझे धैर्य बंधाने लगा, घबरा मत दोस्त, आज नहीं तो कल आयेगा। सरकारी काम ऐसे ही चलते हैं। हमारा डाक-विभाग तो शतशः सरकारी है। 'ग्यारह मील पर भेजा गया पत्र बारह वर्ष में पहुंचा।' इस तरह के अद्‌भुत् समाचार नित्य ही समाचार-पत्रों में छपते रहते हैं। यदि आज सूचना नहीं मिली, तो कल अवश्य मिल जायगी।

"अरे कल कैसी मिलेगी? कल तो जगत्-प्रसिद्ध पहली अप्रैल है।"

"डाक-विभाग में पहली अप्रैल नहीं मनायी जाती। हम लोग तो सदा ही जनता को मूर्ख बनाते रहते हैं, अतः पहली अप्रैल का विशेष महत्त्व नहीं।"

"पर चिन्तू, मुझे सन्देह है कहीं सरकार ने ही लेखकों को अप्रैल फूल बनाने की न सोची हो! मुझे तो वस्तुतः यह आशंका हो रही है कि लेखकों को सन्देह न हो जाय इसीलिए उन्होंने १ अप्रैल के स्थान पर निर्णय की तिथि ३१ मार्च रखी है।"

"मेरे दोस्त", चिन्तू बोला, "तेरा स्वभाव बड़ा सन्देहशील है रे! क्या सरकार और अकादमी के पास केवल यही धंधे करने के लिए रह गये हैं? हिमालय से समुद्र तक फैले विस्तीर्ण देश पर राज्य करनेवालों के लिए क्या जनता को मूर्ख बनाने के लिए केवल पहली अप्रैल का दिन पर्याप्त होगा? सरकार तो साल भर लोगों को मूर्ख बनाती रहती है, फिर भी उसका काम समाप्त नहीं होता। अतः पहली अप्रैल के बारे में यह शंका अपने हृदय से निकाल बाहर कर।"

चिन्तू ने मुझे बड़ा धैर्य बंधाया, पर मेरे मन का चोर नहीं गया। मुझे दुतर्फा भय अस्वस्थ किये डाल रहा था—क्या मुझे मूर्ख बनाया गया है अथवा मैं पुरस्कार के योग्य नहीं ठहराया गया? मेरे मुख पर यह अस्वस्थता स्पष्ट झलक आयी होगी जिसे देख चिन्तू मुझे पुनः धैर्य बंधाते हुए बोला, "क्यों मित्र, तू

इतना बड़ा विनोद-लेखक, लोगों को हंसाने वाला और तेरी यह रोनी सूरत ! कमाल है भाई, मेरी अन्तरात्मा कहती है कि पुरस्कार और वह भी प्रथम तुझे ही मिलेगा ।"

"तेरे मुँह में घी-शक्कर !" मैं बोला ।

"अरे केवल घी-शक्कर से काम नहीं चलेगा । तीनों दोस्तों के लिए एक नीला नोट खर्च करना होगा जनाब ! बोलो हो तैयार ?"

मैं तुरन्त बोला, "हां, हां, पार्टी में सौ रुपये अवश्य खर्च कर दूंगा, यदि दो हजार का पुरस्कार और वह सम्मान मुझे मिल जाय ! सौ का नोट तुझे ही सौंप दूँगा । उसे खर्च करने का प्रोग्राम तू ही बनाना ।"

"हूं, अब ठीक बोला न ! अरे, यह डाक गाड़ी क्या कभी समय पर आती है ? आज दुपहर की डाक मैं स्वयं देखूंगा । तू घर पर ही रहना । यदि शुभ संवाद हुआ, तो मैं स्वयं ही छुट्टी लेकर तुझे सूचित करने आ जाऊंगा । ठीक है न ? बस यार तू १००) का नोट तैयार रख । आज ३१ मार्च है, अतः अप्रैल फूल बनने का भी झंझट नहीं । पिछली दफा एक बार पहली अप्रैल को तेरा फूल बनाया गया था न, इसीलिए बताये देता हूं ।"

चिन्तू की बात सुनकर मैं घर लौट आया । मन की अजीब दशा थी । खाना भी अच्छा नहीं लगा । दुपहर की डाक और चिन्तू की प्रतीक्षा में लगातार घड़ी की सुइयों की ओर देखता रहा । दुपहर के बारह बजे, एक बजा, दो बजे, तीन बजने में केवल दस मिनट रह गए, तभी 'बुवा' पुकारते हुए चिन्तू ने ज़ोर से आवाज़ दी और तुरन्त ही वह मेरे सम्मुख आ खड़ा हुआ । झटके के साथ मेरा हाथ अपने हाथ में लेता हुआ और उसे इतने ज़ोर से झकझोरते हुए कि मुझे लगा मेरा हाथ ही कंधे के पास से उखड़ जायगा, वह बोला, "कांग्रेचुलेशन्स बुवा, हार्टी कांग्रेचु-लेशन्स, तुझे प्रथम पुरस्कार मिला है । मेरा अनुमान और मेरी अन्तर्वाणी क्या कभी असत्य हो सकते थे ? दोपहर को मैंने पुनः डाक देखी । साहित्य-अकादमी से तेरे नाम का पत्र दिखायी दिया । हमेशा की तरकीब के अनुसार भाप पर रख कर उसे खोला । बस क्या कहूं ? आंखें चौंधिया गयीं । लिफाफे में २०००) का चैक विराजमान था । मैंने लिफाफा तुरन्त बन्द किया और पोस्टमास्टर से छुट्टी लेकर तथा तेरी ओर से हस्ताक्षर कर उस रजिस्टर्ड लिफाफे को ले मैं दौड़ा चला आया । ले यह चैक । भाभी, ज़रा एक कप चाय तो पिला दो ।"

"अरे एक कप क्या, आज केतली भर कर चाय पीओ" पत्नी बोली ।

मैंने लिफाफा खोला । अन्दर २०००) का स्टेट-बैंक का चैक तथा कवरिंग लैटर था । मैंने उस चैक को देवमूर्ति के सम्मुख रख देवता को प्रणाम किया । चिन्तू बोला, "हां, तो बुवा साहब, सुबह का वचन याद है न ? नीला नोट तैयार है न ?"

"हां, इस मास रेडियो पर मेरे कुछ कार्यक्रम थे, उनका चैक परसों ही

आया था। उसके पैसे घर पर ही हैं। लो ये हैं।" कहकर मैंने अलमारी में से दस-दस के दस नोट निकाल उसको दे दिए। तब तक चाय भी तैयार हो गई थी। चाय पीकर चिन्तू चला गया। रात को चिन्तू, अनन्त और माधव का त्रिकूट शोरगुल मचाता आया और तीनों ने मुझे गोद में उठा लिया, मुझ पर अभिनन्दन की वर्षा की और कहा कि इतना महान व्यक्ति उनका मित्र है, यह सोचकर वे अपने को भाग्यशाली समझते हैं। फिर हम चारों की मीटिंग हुई—अजेंडा का एक मात्र विषय था कि उन सौ रुपयों को किस प्रकार ठिकाने लगाया जाय। अगले दिन रविवार होने के कारण सब की छुट्टी थी। बहुत देर की बहस के बाद उन रुपयों को खर्च करने की सम्पूर्ण योजना तैयार हो गयी —यह निश्चित हुआ कि वे तीनों प्रातःकाल मेरे घर आएंगे और फिर हम चारों सात बजे तक घर से निकल पड़ेंगे और फिर रात को सिनेमा का अन्तिम शो देखने तक बाहर ही रहेंगे। यह भी निर्णय हुआ कि उस दिन गोल्डफ्लेक के अतिरिक्त और किसी सिगरेट को हाथ भी न लगायेंगे तथा टैक्सी के अतिरिक्त किसी अन्य वाहन का उपयोग नहीं करेंगे। होटल में जाकर गुलाबजामुन, हलवा, पेड़े, बर्फी जैसे स्वादिष्ट और पौष्टिक व्यंजनों के अतिरिक्त और कुछ न छूएंगे। यदि किसी ने प्याज की पकौड़ियों अथवा खजला का नाम भी लिया, तो उस पर सवा रुपया जुर्माना होगा।

रविवार को प्रातः साढ़े छः बजते ही वह त्रिकूट आ पहुंचा। पहले ही दिन सर्वसम्मति से निश्चय कर लिया गया था कि स्वच्छन्दता से घूमने तथा मनमानी बातें करने में किसी प्रकार की अड़चन न हो, अतः पत्नी को कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं किया जायगा। हम चारों निकल पड़े। पत्नी के लिए सोमवार का दिन निश्चित किया गया (उसका एक रहस्य यह भी था कि उस दिन दूकानें बन्द रहती हैं)। सात बजे हम घर से निकले। द्वार पर ही टैक्सी मिल गयी, उसमें बैठ इधर-उधर घूमते रहे। फिर एक बड़े होटल में गये, वहां बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थ खाए, गोल्डफ्लेक सिगरेट फूंकीं और पुनः घूमना शुरू कर दिया। भूख लगने पर हमने 'पुरोहित होटल' में लंच खाया। मुख-शुद्धि के लिए बारह-बारह आने वाली कैडबरी चूसीं। फिर तुरन्त 'इरोज़' में गए, सबसे ऊंचे दर्जे की टिकट खरीदकर सिनेमा देखा। सिनेमा के बाद 'पिचमेल्बा' या ऐसे ही किसी नाम की मंहगी आइसक्रीम खायी। कुछ घूमे, फिर टैक्सी की और दादर में चौपाटी पर 'भेल'[1] खाने के लिए आ पहुंचे (भला कर्म-दारिद्रय थोड़े ही जाता है।)

भेल खाते-खाते गप्पें मारते रहे। अब कितने पैसे बचे हैं, उसका जब हिसाब लगाया गया, तो पता चला कि प्रातः से अब तक टैक्सी, होटल, भोजना-

१. एक प्रकार की चाट।

लय, आइसक्रीम तथा इसी प्रकार की बातों में ६७ रु० १२ आने खर्च हो चुके हैं। अभी भेल वाले को एक रुपया देना था। सारांश यह कि सौ का नोट लगभग उड़ चुका था। भेल खाकर हाथ मलकर हाथ पोंछने का नाटक किया, भेलवाले को रुपया दिया और चार कच्चे नारियल का पानी पीकर सौ के सौ समाप्त कर दिए। अब चौपाटी पर मुफ्त मिलने वाली हवा खाते हुए हम बैठ गए और आती-जाती तितलियों की ओर जीभ चाटते हुए देखते रहे।

इतने में चिन्तू देशपांडे मुझसे बोला, "बुवा, सौ रुपये ख़त्म हो गये न ?"

"हां, अब एक नया पैसा भी नहीं बचा, दो हज़ार का चैक भुनने तक।"

"क्यों, कल वेतन भी तो मिलेगा।" अनन्त कुलकर्णी बोला।

"हां, कल मिलेगा, पर अब जेब बिल्कुल ख़ाली है।" मैंने कहा।

"अगर वह दो हज़ार का चैक तुम्हारे पास इस समय जेब में हो, तो मुझे दे दो।" अनन्त कुलकर्णी बोला, "क्योंकि वह स्टेट-बैंक ऑफ इंडिया का ही तो है। कल भुनने के लिए मेरे काउंटर पर ही तो आयेगा।"

अनन्त कुलकर्णी स्टेट बैंक में ही नौकर था और मेरा खाता भी उसी शाखा में था। अतः मैंने दो हज़ार का वह चैक जेब से निकाल, उसके पीछे हस्ताक्षर कर उसे दे दिया। अनन्त कुलकर्णी ने भी अपनी जेब से चालान का फॉर्म निकाल कर उस पर आवश्यक खानापूरी कर डाली। फिर मेरे चैक तथा उस चालान को एकसाथ हाथ में लेकर वह सबको सम्बोधित करते हुए बोला, "दोस्तो, बुवा सरीखा श्रेष्ठ साहित्यकार हमारा घनिष्ट मित्र है, यह हम सबके लिए बड़े सौभाग्य की बात है। आज का सारा दिन भी इनके साथ बड़े मज़े में बीता है। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूं कि यदि बार-बार नहीं, तो वर्ष में कम से कम एक बार ऐसी ही दावत हम सबको इनकी ओर से मिलती रहे।"

"और वह भी पहली अप्रैल को!" जोशी ने जोड़ा।

"क्यों, ऐसा क्यों ?" मैंने पूछा।

"कारण स्पष्ट है।" अनन्त कुलकर्णी बोला, "इस शुभ दिन अपने को तीसमारखां समझने वाला व्यक्ति भी मूर्ख बना दिया जाता है।"

"इसे मूर्ख बनाना थोड़े ही कहा जा सकता है।" मैंने कहा, "तुमने तो पहले ही सब बातें बताकर मुझसे सौ रुपया देना स्वीकार करवा लिया था। मैं मूर्ख थोड़े ही बना हूं।"

"मूर्ख बने व्यक्ति को ऐसा ही लगता है। मूर्ख बनने पर भी उसे पता नहीं लगता।" चिन्तू बोला।

"तो क्या तुमने मुझे आज मूर्ख बनाया है ?" मैं घबराकर बोला।

"जय हो महाराज! क्या अब भी आपको शंका है ?" चिन्तू ने कहा।

"और अभी क्या, पिछले दो मास से तू मूर्ख बनाया जाता रहा है।" जोशी बोला।

"अरे सारी बात स्पष्ट करो न!" मैं थोड़ा-सा चिढ़ कर बोला, "इस घोटाले को अब बन्द करो।"

"अच्छा तो सुन शान्त चित्त से।" जोशी शैतान की मुद्रा में बोला, "नई दिल्ली से साहित्य-अकादमी से पत्र आने के साथ-साथ तेरा उल्लू बनना शुरू हुआ था। उस पीले कागज़ पर गन्दे अक्षरों में टाइप किया हुआ पत्र मैंने ही भेजा था। वह पत्र सरकारी प्रतीत हो, अतः अधिक से अधिक गंदा टाइप करने की सावधानी बरती गयी थी और साथ ही इस्तैमाल किए हुए लिफाफे पर तेरे पते की 'इकनौमी स्लिप' की लंगोटी चढ़ा दी गयी थी। उसके बाद तू सब कुछ भूल कर प्रबन्ध लिखने में रात-दिन लगा रहा और प्रबन्ध तैयार होने पर तूने उसे 'नई दिल्ली' भेजने के लिए चिन्तू के डाकखाने में उसे पोस्ट किया, पर चिन्तू उसे अपने घर ले आया।"

"क्यों बे चिन्तू ?" मैं चिढ़कर बोला।

"हां भाई ! ठीक कहता है यह।" चिन्तू ने स्वीकार किया।

"फिर यह दो हजार का चैक किसने दिया ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"यह सत्कार्य मैंने किया था" अनन्त कुलकर्णी बोला।

"बड़ा उदार हो गया दिखता है रे ! कहीं बैंक में ग़बन तो नहीं किया ?" मैंने पूछा।

"अरे ग़बन की क्या ज़रूरत थी ? वह तो कैन्सल हुआ चैक था।" अनन्त ने स्पष्टीकरण किया।

"अरे, पर चैक पर तो स्पष्ट मेरा नाम था।" मैंने कहा।

"अपना नाम देखकर ही तू बौरा गया न ! चैक पर लिखी शेष बातें तूने देखी ही नहीं।" अनन्त बोला और उसने मुझे वह चैक दिखाया। उस चैक पर ऊपर ही 'कैन्सल्ड' की मुहर लगी थी और 'कैन्सल्ड' के पहले 'टु बी' तथा उसके बाद 'आफ्टर थर्टी फर्स्ट मे १९६०' ये शब्द हाथ से लिखे हुए थे।

"अच्छा, मानो इस वाक्य के बल पर यदि मैंने कल बैंक से पैसा मांगा होता, तो क्या होता ?" मैं बोला।

"तो-तो कुछ नहीं होता। कुछ चैक मुद्रण टैकनीकल दोषों के कारण बैंक द्वारा कैन्सल कर दिए जाते हैं। उनका रिकार्ड हमारे पास रहता है। दूसरे काउंटर पर तो मैं ही होता। अतः चैक भुनने का डर ही न था। तुझे 'चैक' के सम्बन्ध में तनिक भी शंका न हो, अतः मैंने ही 'कैन्सल्ड' शब्द के आगे-पीछे हाथ से 'टु बी' तथा 'आफ्टर थर्टी फर्स्ट में १९६०' लिख दिया था। यह तुझे उल्लू बनाने का प्रचंड नाटक था और इसमें हमें आशातीत सफलता भी मिली, यह

बताते हुए मुझे सखेद परमानन्द हो रहा है।"

"बड़े पक्के गुरु हो!" मैंने सबको कुहनियों तक हाथ जोड़कर नमस्कार किया "क्या तुम्हें मेरे अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं मिला? भला मुझे ही 'उल्लू' बनाने का यह षड्यंत्र क्यों रचा?"

"उसका कारण यह है दोस्त" जोशी बोला, "कि साधारण व्यक्ति को उल्लू बनाने में अधिक श्रम नहीं करना पड़ता और न उसमें उल्लू बनाने की बुद्धिमत्ता की ही ठीक से परीक्षा हो पाती है। तुझ सरीखे व्यक्ति को मूर्ख बनाने में हमें भी अक्ल लगानी पड़ती है। तुम विनोद-लेखक बड़े निष्ठुर होते हो न? सदा काक-दृष्टि तथा काक-वृत्ति से दूसरों के दोष ढूंढ़कर उन पर व्यंग करना या उनका मज़ाक उड़ाना ही तुम लोगों का धंधा रहता है। अतः हमने यह देखा था कि ऐसे निष्ठुर चालाक लोगों को भी मूर्ख बनाया जा सकता है या नहीं। सारा नाटक सोलहों आने जम गया और उसके लिए तुझे १००) खर्च करने पड़े। मित्रों के लिए इतना कुछ सहन करने की उदारता तो तुझ में होनी ही चाहिए।"

"पर अब घर में पत्नी को क्या जवाब दूंगा?" मैंने पूछा।

"कुछ जवाब देने की जरूरत नहीं।" चिन्तू बोला, "सदा की तरह जूता खाए जैसे व्यक्ति का सा चेहरा बनाकर, गर्दन नीची कर खड़े रहना और दर्द-भरी आवाज़ में कहना, "प्रिये! मैं आज अप्रैल-फूल बन गया।"

मेरी पहली चोरी

द० मा० मिरासदार

नई पीढ़ी के विनोदकारों में श्री मिरासदार का नाम उल्लेखनीय है। अनेक मराठी साहित्यकारों के समान आपने भी पत्रकार के रूप में जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया। आजकल आप औरंगाबाद में मराठी साहित्य के प्राध्यापक हैं। आप मुख्य रूप से कहानी-लेखक हैं, यद्यपि अंग्रेजी के दो उपन्यासों का मराठी में अनुवाद भी कर चुके हैं। अबतक आपके ८ कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'बापाची पेंड', 'भुताचा जन्म', 'चुटक्याच्या गोष्टी' और 'विरंगुळा' अधिक लोकप्रिय हैं। आपका विनोद यदि प्रसंगनिष्ठ है तो भाषा-शैली व्यंगपूर्ण। आपके विनोद का लक्ष्य समाज-सुधार अथवा कुरीतियों पर प्रहार न होकर प्रसन्न हास्य की सृष्टि करना है। प्रस्तुत कहानी आपकी विनोदवृत्ति एवं भाषा-शैली दोनों की दृष्टि से प्रतिनिधि कहानी कही जा सकती है।

अब मैं पक्का चोर हो गया हूं। लोगों के घर में कूमल लगाना, तिजोरी तोड़ना, डाका डालना, इन सब कार्यों में अत्यन्त चतुर हो गया हूं। पर मैं सदा का चोर नहीं हूं। एक समय था कि मैं चोरी का नाम तक न जानता था। आप लोगों के समान ही एक प्रतिष्ठित सद्‌गृहस्थ था। दूसरों से उधार लेकर वापिस न करना, दूसरों से मांगी हुई पुस्तकों को खो देना, घर आए अतिथि को यथाशीघ्र विदा करने की व्यवस्था करना, अनुपस्थित व्यक्ति की निंदा करना—सद्‌गृहस्थ के ये सब गुण मेरे में थे। संक्षेप में मैं एक अत्यंत सम्मानित और सज्जन गृहस्थ था।

फिर मैं चोर कैसे हो गया ?

वही रहस्य अब बताने जा रहा हूं।

उस रात खाना खाकर जब हम सोए, तब सब ठीकठाक था। पर अगले दिन उठते ही सब कुछ बिगड़ गया था। हमारी अटारी की दीवार में किसी ने कूमल लगा दी थी और ट्रंक तथा पेटी बिखरी पड़ी थीं। स्पष्ट था कि मेरे घर में चोरी हो गई थी।

फिर मैंने वही किया जो ऐसे अवसर पर समझदार व्यक्ति करते हैं—ट्रंक ढूंढ़े, अलमारियां छान डालीं, पोटरी खोल-खोल कर देखीं और हिसाब लगाया कि क्या-क्या चोरी गया है। अंत में पता लगा कि घर की सब स्वर्ण मुद्राएं, चांदी के बरतन और सुन्दर वस्त्र लापता हैं। कुल मिलाकर २००० रु० की चोरी हुई थी। दिन-रात खून पसीना एक कर जो कमाया था और संचित किया था, वह एक रात में ही गायब हो गया था। यह देख मैं पागल-सा हो रहा था और उसी आवेश में मैंने एक पागल जैसी बात की।

तुरन्त मैंने पुलिस को सूचना दी। इस पर दो-चार सिपाही, इन्सपैक्टर आदि मंडली घंटे-डेढ़ घंटे में ही वहां आ पहुंची।

इन्सपैक्टर लम्बे डील-डौल वाला था। उसका सिर छोटा था। मूंछें ऐंठदार थीं। अपनी मोटी-मोटी अंगुलियों से उन्हें मरोड़ते हुए वह कुर्सी पर बैठ गए। चोरी के विषय में उन्होंने मुझसे सारी बातें पूछीं। जो कुछ हुआ था, वह मैंने सब बताया, जिसे एक सिपाही ने लिख लिया। पंचनामा हुआ। दीवार में सेंध का निरीक्षण किया गया और उसके बाद मुझसे लिखित शिकायत ली गई। उस पर मैंने हस्ताक्षर किए और फिर तहकीकात शुरू हुई। बैल की पूंछ जिस प्रकार मरोड़ते हैं, उसी प्रकार मूंछें मरोड़ते हुए इन्सपैक्टर ने प्रश्न किया,

"यह चोरी हुई कैसे ?"

यदि मुझे यही पता होता तो चोरी ही क्यों होती ? पर दुर्भाग्य से चोरी हो चुकी थी और वह कैसे हुई, इसका मुझे बिल्कुल पता न था। मैंने यही बात जब इन्सपैक्टर साहब से कही तब उन्होंने अपना चेहरा गंभीर बनाये हुए कहा, "यही-यही तो तुम लोगों की गलती है, पुलिस को तो सब बातें साफ-साफ बतानी चाहिएं।"

"पर वह बताएं कैसे ?"

"कैसे का क्या मतलब ? आप कब सोए, चोर कब आया, उन्होंने सेंध कब लगाई, वे कब लौट कर गए —ये सब बातें स्पष्ट और ठीक-ठीक बतानी चाहिएं।"

"और यदि ये बातें मालूम न हों, तब ?"

"तो हम ही क्या करें, चोर का पता कैसे लगावें ? ऐसा मामला अपने-आप फाइल हो जायगा।"

उनका यह कथन सच ही था। उन्हें यदि चोर की कार्यवाही न बताई तो वे बेचारे क्या करें ? चोरी का पता कैसे लगावें ? वस्तुतः मालिक और पुलिस की इस अड़चन का ध्यान तो चोर को ही रखना चाहिए। वह यह सब, चाहे पहले चाहे बाद में बतादे, तो उसका क्या बिगड़ जाय ! पर नहीं। उनमें यदि इतनी ही मनुष्यता होती तो फिर क्या था···

इस प्रकार के कितने ही उद्वेगपूर्ण विचार मेरे मन में आए और मैं मौन हो

बैठ गया, अपराधी का सा चेहरा बनाकर।

उसके बाद इन्सपैक्टर ने कुछ देर तक विचारमग्न होने की सी मुद्रा बनाई और फिर बोले "ठीक, पर तुम्हारा किसी पर सन्देह है ?"

"बहुत सोचने पर भी संशय का पात्र मुझे स्मरण न आया। अतः मैंने गर्दन हिला दी। नहीं भाई।"

"यह कैसे हो सकता है।" इन्सपैक्टर बिगड़ते हुए बोले, "किसी पर तो संशय होना ही चाहिए।"

"क्या सचमुच ?"

"अवश्य," वह निश्चयपूर्ण स्वर में बोले, "उसके बिना हम छानबीन कैसे कर सकते हैं ?"

"ठीक" यह कहकर मैं पुनः सोचने लगा और किस पर संशय प्रकट करूं, इसके लिए सिर खुजाने लगा। मैं बोला, "वैसे किसी पड़ौसी पर तो मुझे सन्देह है नहीं।"

"ठीक, फिर ?"

"मुहल्ले के लोगों पर भीं नहीं है।"

"हां।"

"केवल मेरी पत्नी को जेब में से पैसे निकालने की आदत है।"

"अच्छा, यह बात तो बड़े महत्त्व की बताई आपने।"

यह कहकर इन्सपैक्टर ने वह बात अपनी डायरी में लिख ली। इधर-उधर की पूछ-ताछ की और फिर शाम को दफ्तर में आना, कहकर वे पुलिस के सिपाहियों के साथ चले गए।

इस समय तक हमारे यहां पुलिस आने की बात चारों ओर फैल गई थी। अतः बहुत से लोग बाहर जमा हो गये थे और मेरे खाली होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इन्सपैक्टर के जाते ही ये लोग धड़ाधड़ अन्दर घुस आए और मेरे चारों ओर घिर आए। उस मंडली में जिस प्रकार नानासाहब, अप्पा साहब, भाऊसाहब आदि प्रतिष्ठित लोग थे, वैसे ही रमा चाची, गंगू बुआ, गोदू मौसी, सखू भाभी आदि सभ्य स्त्रियां भी थीं।

"क्यों अण्णासाहब, तुम्हारे यहां चोरी हो गई !" नानासाहब ने पूछा। मैंने गर्दन हिलाकर स्वीकृति दी।

"अरे, कैसे यह सब हुआ ?"

मैंने संक्षेप में उन्हें बताया कि क्या हुआ, तब भाऊसाहब सहानुभूतिपूर्ण स्वर में बोले, "अरेरे। यही तो तुम्हारी गल्ती है, अण्णासाहब। सामान ऊपर और आप नीचे, यह ठीक नहीं। आप जहां सोयें, वहीं सारा सामान रखना चाहिए।"

भाऊसाहब की बात ठीक थी और वह मुझे अक्षरशः मान्य थी। पर अब

उसका कोई उपयोग न था। पर यही बात जब मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की, तो वह उबल पड़े और चिल्ला-चिल्ला कर अपनी बात का औचित्य समझाने लगे। इस पर अप्पासाहब चिढ़ गए और असंख्य उदाहरणों द्वारा उन्होंने समझाना शुरू कर दिया कि किस प्रकार तकिए के नीचे रखने पर भी सामान किस-किस सफाई से चोरी हो जाता है। कुछ समय तक किसी की बात किसी की समझ में ही न आई। मैं बिल्कुल घबरा गया। अंतः में जब नम्रतापूर्वक स्वीकार किया कि दोनों का ही कथन सत्य है, तब जाकर कहीं वह झगड़ा शांत हुआ।

"खैर, यह बताओ, गया क्या क्या ?" रमा चाची ने पूछा।

मैं स्मरण कर-कर के बताने लगा

"चांदी के सारे बर्तन गए और सब सुन्दर कपड़े गए।"

"हुं।"

"जेवर भी चले गए।"

"क्या-क्या जेवर थे?" सखू भाभी का कुतूहल जाग्रत हुआ।

"कंगन चार तोले के।"

"हां।"

"जालीदार चूड़ियां थीं चार तोले की।"

"ठीक।"

"चपलाहार था पांच तोले का।"

यह सुन गंगू बुआ बीच में ही बोलीं,

"अरे क्या वही जो तुम्हारी पत्नी पहनती थी ?"

"हां, वही।"

"पर वह चपलहार थोड़े ही था।"

"तो ?"

"अरे, उसे शकुन्तलाहार कहते हैं।"

"वही कहा होगे" मैंने कहा।

"तो वह पांच तोले का कहां था, अधिक से अधिक चार तोले का होगा। मैंने तो देखा था।"

"होगा, चार तोले का ही होगा, मुझे कुछ अधिक ध्यान नहीं" विवाद बंद करने के लिए मैं जल्दी-जल्दी बोला। "ठीक है, दीवार का वह छेद देखना है न ? चलो ऊपर अटारी पर।"

अटारी पर ले जाकर चोर द्वारा किए गए दीवार के छेद को दिखाने में आधा घंटा बीत गया क्योंकि आए लोगों ने सभी दृष्टियों से उसको देखा, उसकी चर्चा की। कुछ ने तो उस छिद्र में से आ जाकर यह देखा कि उसमें से निकला जा सकता है अथवा नहीं और अंत में निर्णय दिया कि हां चोर निकल सकता था।

कुछ ने उसकी लम्बाई-चौड़ाई नापी और यह निश्चय किया कि इतने लम्ले-चौड़े छिद्र को फोड़ने में कम से कम डेढ़ घंटा लगा होगा। और उस डेढ़ घंटे में हम लोग एक बार भी नहीं जगे, इससे या तो हम कुंमकर्ण के अवतार हैं अथवा बहरे हैं, यह विचार बहुमत से प्रकट किया गया।

इन सब लोगों के घर से बाहर जाने तक मुझे अपने सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात हुई जिनका सारांश यह है—कि सामान ऊपर रखकर नीचे सोना मेरे लिए उचित न था, यदि ऐसा करना ही था तो रात में एक-दो चक्कर अटारी के लगा लेने चाहिए थे, कम से कम जिस दिन चोरी हुई थी, उस दिन तो एकाध बार जागना ही चाहिए था। मैंने उनमें से एक भी बात नहीं की थी, अतः मैं पूरा बुद्धू और नालायक था और मेरे यहां चोरी होना ठीक ही था।

इतना ज्ञानामृत पिलाकर यह मंडली धीरे-धीरे चली गई और घर में शांति छा गई। अब दोपहर के बारह बजने को थे। पेट में चूहे दौड़ रहे थे, अतः मैंने कौआ-स्नान किया और जल्दी-जल्दी चार गस्से खाए। दो मिनट आराम करने के विचार से आंखें बन्द ही की थीं कि आवाज़ आई 'अण्णा साहब'। अण्णा साहब को झक मारकर उठना पड़ा।

"कौन है ?"

"अरे मैं—तुम्हारा शामराव हूं।"

"कौन भाई शामराव ?"

ऐसा कहकर मैंने चादर से सिर निकालकर बाहर झांका। बाहर एक शिथिल शरीर और चपटी नाक का व्यक्ति दिखाई दिया। मुझे उठा देख कर वह दांत निपोरता हुआ बोला, "मैं दूसरे मुहल्ले में रहता हूं।"

"तो फिर ?"

"कुछ नहीं, आपके यहां चोरी की बात ज्ञात हुई, अतः आपसे पूछने चला आया।"

"ठीक। चोरी मेरे यहां हुई है, उससे आपको क्या ?" मैं बिगड़ते हुए बोला।

"हमें क्या, पर यह हुई कैसे ?"

"हुई ऐसे कि सौ चोर आए थे, उन्होंने तोप लगाकर दीवार गिरा दी और चोरी कर ली। आपका काम हो गया न ? जाइए अब, अपने रास्ते लगिए।"

"हां, हो गया —" यह कह वह व्यक्ति जाते-जाते भी अटारी पर गया और नीचे आया।

"कुछ नहीं, केवल दीवार देखकर आया हूं" यह कह कर दरवाज़े से ओझल हो गया।

"हुश्श" कर मैंने आँखें बन्द कर लीं, पर तभी पुनः एक आवाज सुनाई दी।

"अण्णा, अरे अण्णा।"

यह आवाज तो मेरे परम स्नेही बाला साहब की थी।

"अभी आया" यह कह मैं तुरन्त उठकर उनके सामने जा पहुंचा।

"चोरी कैसे हुई, यही पूछने आए हैं न आप ?"

"चोरी ? नहीं, मैं तो वैसे ही आया था। मुझे तो चोरी का पता भी न था। पर यह चोरी हुई, कब ?" बाला साहब जीभ निकालते हुए आश्चर्य से बोले।

"कल रात हुई।"

"अच्छा और हुई कैसे ?"

अब बिना बताए मेरी मुक्ति नहीं थी। अतः कल रात हुआ सम्पूर्ण रोमहर्षक प्रसंग मुझे बाला साहब को समझाना पड़ा और वह ऐतिहासिक दीवार भी उन्हें दिखाई। चाय पिलाई, पान तम्बाकू दिया और उन्हें विदा किया। तभी मेरे ध्यान में आया कि एक बड़ी भीड़ मेरे घर के सामने जमी हुई है। "क्या बात है ?" मैंने पूछा, तो पता चला कि घर में हुई चोरी के सम्बन्ध में पूछताछ करने के लिए ही वह मंडली वहां एकत्र हुई है।

यह देखते ही मेरे होश उड़ गए। इन लोगों को ठीक-ठीक उत्तर दिए बिना गति नहीं थी। अब क्या करूं, यह सोचते-सोचते मैं दाढ़ी खुजाने लगा। दोपहर तक मेरे घर की चोरी की बात सारे गांव में फैल गई और मनुष्यों के झुंड के झुंड मेरे घर की ओर बढ़े चले आ रहे थे। लोगों की इस निरन्तर बढ़ती हुई भीड़ का नियन्त्रण करने के लिए मुझे पुलिस बुलानी पड़ी। पुलिस आने तक घर के चारों ओर मेले का सादृश्य उपस्थित हो गया था। प्रबन्ध के लिए आई पुलिस ने अपना काम कुशलतापूर्वक किया। समुपस्थित व्यक्तियों के दो वर्ग—एक पुरुषों का, दूसरा स्त्रियों का किया गया और उनकी दो पंक्तियां बनाई गई। पुरुषों की पंक्ति को मैं, तथा स्त्रियों की पंक्ति को मेरी पत्नी क्रम से सारी घटना बताने लगे। अटारी पर दीवार के निकट अपने लड़के को खड़ा कर दिया था। चोरी का वृत्तान्त समाप्त होते ही वे लोग पंक्तिबद्ध हो अटारी पर जाते, उन्हें दीवार दिखाई जाती, उसके छिद्र में से वे आर-पार होते तथा अन्त में उन्हें रास्ते पर लाया जाता। सब कार्यक्रम समाप्त होने पर कुछ लोग मेरी बैठक में आ बैठते जिससे उनके चाय-पानी का प्रबन्ध करना पड़ता। अब काम करनेवाली बेचारी अकेली पत्नी, उससे यह सारा काम हो सकना कठिन था। अतः उसकी सहायता के लिए एक रसोइया रखना पड़ा।

रात के बारह बजे तक भी जब मार्ग की भीड़ न हटी, तो मैंने उनसे अगले दिन प्रातः आने को कहा और द्वार बन्द कर लिया। प्रबन्ध के लिए आए पुलिसवालों को पुनः प्रातः से पंक्ति बनाने का काम करना था और रात में लौट जाना उन्हें जंचता न था। अतः वे दोनों मेरे ही यहां सोये और वहीं खाना

खाया। रात्रि में जिनकी बारी न आ पाई थी, वे लोग भी घर नहीं गए। सुबह अपनी बारी जल्दी आ जाय, अतः वे मार्ग पर ही बिछावन बिछाकर सो गए। अतः प्रातःकाल शीघ्र उठकर मुझे उनकी प्रातर्विधि, मुंह धोने तथा चाय-पानी का प्रबन्ध करना पड़ा।

फिर अगले दिन तक यह कार्यक्रम अखंड रूप से चलता रहा। तीसरे दिन बोलते-बोलते मेरा मुंह दुखने लगा। जब गला बिल्कुल बैठ गया, तो मैंने कागज पर चोरी का वृत्तान्त अथ से अन्त तक लिख डाला, संभाव्य शंकाओं के उत्तर भी लिख दिए और उसे पट्ठे पर चिपकाकर एक खुंटी पर टांग दिया। जो आता, उसी को पढ़ने को दे देता और फिर संकेत से गर्दन हिलाकर उसे अटारी पर जाने को कह देता।

बीच में इन्सपैक्टर के यहां मैं एक बार हो आया था। वह सदा की तरह अपनी लाड़ली मूंछों को सहलाते हुए कुर्सी पर बैठे हुए थे। उनकी मूंछे इतनी गुछ्छेदार व शानदार थीं कि देखते ही डर लगता था। मेरे मन में एक धूर्त विचार आया कि यदि उन मूंछों को किसी के घर में रख दिया जाय, तो वहां चोरी नहीं हो सकेगी।

मुझे आया देख वह बोले, "हूं, क्या है ? कुछ आगे पता लगा ?" इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए कठिन था, क्योंकि वही प्रश्न तो मुझे करना था। पर जब वही प्रश्न उन्होंने मुझसे किया तो मुझसे कुछ बोला नहीं गया। मैंने चुपचाप गर्दन हिला दी। यह देख वह विचारमग्न हो गए और बोले, "अरे यह क्या ? कुछ भी पता नहीं लगा ? फिर हम ही क्या करें ?"

उनका कथन सत्य था। झमेले में पड़ने वाले व्यक्ति को स्वयं खोज करनी चाहिए। उसमें पुलिस का क्या काम ? उनका काम तो सिर्फ अपराधी को दंड दिलाना भर है। उल्टे-सीधे हर काम में यदि वह ध्यान देने लगे, तो बस हो चुका। फिर उनका यह रोज का ही काम हो जायगा। सरकारी आदमी यदि बेमत-लब के काम करने लगें, तो काम कैसे चले ? ···यह विचार आते ही मैं बोला, "साहब, मेरी गल्ती थी, मुझे स्वयं ही खोज करनी चाहिए थी—"

"यह क्या कहते हो ?"

"मैंने व्यर्थ ही सोचा···"

"क्या ?"

"कि आप चोर का पता लगाएंगे।"

"छिः"

"अब मैं स्वयं इस काम को करूंगा"

"शाबास। इसे कहते हैं हिम्मत।"

"पता लग गया, तो आपके पास आऊंगा।"

"जरूर-जरूर, साले चोर को पकड़कर इधर थाने में ले आना। फिर आगे मैं देख लूंगा।"

"ठीक है।"

यह कह मैंने उन्हें नमस्कार किया और घर आ गया। देखा तो घर के सामने की भीड़ कम होने की बजाय और बढ़ गई थी।

"यह क्या, यह क्या हुआ" मैंने पत्नी से पूछा।

"क्या मतलब ?"

"पुनः यह भीड़ कैसे एकत्र हो गई ?"

"चोरी हुए दो दिन हो गए हैं न और फिर तुम इन्सपैक्टर के यहां से अभी-अभी लौटे हो।" पत्नी ने कहा।

"फिर ?"

"आगे क्या हुआ, यह पूछने के लिए लोग पुनः आने लगे हैं।"

"तो उनकी अलग पंक्ति बनाओ" मैंने कहा, 'और खोज जारी है, अभी कुछ विशेष पता नहीं लगा है' यह लिखकर दीवार पर टांग दो। घर के बाहर भी 'हाउस फुल' का बोर्ड लगा दो।"

यह कह मैं अन्दर के कमरे में गया। मेरे बाहर न रहने पर भी लोगों को कुछ अड़चन न होती थी, उनका काम सुव्यवस्थित चलता रहता था। वे क्रम से अन्दर आते, तख्ती पर लिखा लेख पढ़ते और अटारी पर जाकर लौट आते। मेरी बातें सुन-सुन कर पुलिस वाले भी समझाने के कार्य में प्रवीण हो गए थे। अतः लोगों के शंका-समाधान का कार्य वे भी बड़ी कुशलता से कर रहे थे।

मैंने अन्दर जाकर डाक देखी, समाचारपत्र पढ़े। समाचारपत्रों में हमारे घर की चोरी का समाचार छपा था। डाक में अनेक रिश्तेदारों के पत्र थे। सभी में लिखा था "तुम्हारे घर चोरी होने का समाचार पढ़ा, शीघ्र ही आ रहे हैं, चिन्ता मत करना" पत्रों के अतिरिक्त दो-चार तार भी थे। "शीघ्र ही आ रहे हैं, दीवार का छेद बन्द मत कराना" यह सूचना उनमें दी गई थी।

आश्वासन के अनुसार अगले दिन प्रातःकाल तक सभी सम्बन्धी और जान-पहचान के लोग आ गए। चचेरे भाई, चाचा के चाचा के भाई, मौसेरे भाई, फुफेरे भाई, ममेरे भाई, मौसी की बुआ के भाई, मां-बाप, सास-श्वसुर, जमाई, बहनोई, साढ़ू इत्यादि सारे निकट सम्बन्धी तो आए ही, पर उनके भी निकट सम्बन्धी मेरी कुशल पूछने आए थे। अतः मेरा घर विवाह-समारम्भ का सा घर बन गया था।

प्रत्येक ने मुझसे दर्द-भरे, चिन्तापूर्ण स्वरमें पूछा, "कोई विशेष वस्तु तो नहीं गई ?" "कुछ विशेष नहीं" मैंने शान्तस्वर में उत्तर दिया, "केवल सोने के जेवर और मुद्रा, चांदी के बरतन और सुन्दर कपड़े।"

"तो कोई बात नहीं, पर मारपीट तो नहीं हुई न ?"

"अधिक नहीं।"

"तो भी कितनी हुई ?"

'सौ-डेढ़ सौ चोर आए थे। हरेक ने मेरे तमाचा तथा पत्नी के सिर पर एक एक चपत मारी। बस इतनी ही मारपीट हुई। अधिक नहीं।"

"तो कोई बात नहीं।"

इस प्रेमपूर्ण संवाद के बाद अतिथि-मंडली घूमने बाहर निकल पड़ी और मैं उनकी भोजन-व्यवस्था में लग गया। कुछ नहीं तो ५०-७० व्यक्ति थे। अतः घर में भीड़ हो गई थी। व्यर्थ ही खर्च हो रहा है, अतः एक बार सोचा ऐसे में लड़के का जनेऊ ही क्यों न करा लिया जाय। पर जब यह विचार औरों के सामने रखा, तो सबने उसका विरोध करते हुए कहा कि यह दुख का प्रसंग है, वे लोग सान्त्वना के लिए आए हैं, ऐसे अवसर पर जनेऊ जैसा मांगलिक कृत्य करना उचित नहीं।

पर मुझे सान्त्वना देने को आई यह मंडली आठ दिन बीत जाने पर भी जब टस से मस न हुई, तो मुझे लगा कि वस्तुतः अब मुझे सान्त्वना की आवश्यकता पड़ जायगी। आठ दिन में ही मेरे चार-पांच सौ रुपये खर्च हो चुके थे। यदि यह मंडली आठ दिन और रुक गई, तो खर्च के आंकड़े चोरी के आंकड़ों से भी अधिक हो जाएंगे, यह शंका मुझे सताने लगी। उधार लेने के लिए यदि मैं बाहर गया तो लोग मुझे घेर कर बड़ी सहानुभूति से पूछने लगेंगे, "और क्या हुआ ?" इसका मुझे पूर्ण विश्वास था और फिर दो-चार घंटे तक मेरी मुक्ति न होगी। अभी तक हमारे घर के सामने की भीड़ भी पूरी तरह हटी न थी। लोग आते जाते रहते थे और अटारी पर चढ़ते-उतरने के कारण जीना भी गिरने को हो रहा था। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए, इसी की चिंता चौबीस घंटे लगी रहती थी, जिसके कारण मैं दिन-प्रतिदिन सूखता जाता था। मैं सोचता रहता था कि मेरा शांत जीवन मुझे पुनः कब प्राप्त होगा।

दिन पर दिन बीतते गए, पर कोई उपाय मुझे न सूझता था। अंत में एक दिन एक साहसपूर्ण विचार मेरे मन में कौंध गया। इस झंझट से मुक्त होने का एक ही मार्ग दिखने लगा। खूब विचार किया और अंत में मैंने वही मार्ग अपना लिया।

एक दिन आधी रात को धीरे से उठा, हाथ में कुदाल ले ली और पड़ोसी की दीवार में एक बड़ी सेंध लगा डाली—और फिर उस घर में निर्भय होकर चोरी कर डाली।

तभी जाकर हमारे अतिथि टले। हमारे द्वार पर एकत्र भीड़ अब पड़ोसी के घर की ओर मुड़ी और मेरा घर पहिले की तरह शांत हो गया।

यही मेरे जीवन की पहली चोरी थी।

हमारी सहकारी भैंस

श्री पद्माकर डावरे

४ अक्टूबर, १६२८ को अहमदनगर में पैदा हुए श्री डावरे ने प्राध्यापक रूप में जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया था, पर आजकल वे भारत सरकार के चित्रपट-विभाग में मराठी विभाग के अध्यक्ष हैं। मराठी की विभिन्न पत्रिकाओं 'वसंत', 'मोहिनी' आदि द्वारा आयोजित कथा-स्पर्धाओं में पारितोषिक प्राप्त तरुण साहित्यकार श्री डावरे कथाकार एवं विनोदी लेखक ही नहीं, नाटककार भी हैं। उन्होंने नाटकों के अतिरिक्त एकांकी भी लिखे हैं। अब तक प्रकाशित उनकी पुस्तकों की संख्या एक दर्जन से भी अधिक है। शाब्दिक विनोद की अपेक्षा वह प्रसंगनिष्ठ और घटना-प्रधान विनोद-निर्मिति पर अधिक बल देते हैं, तथा कभी-कभी व्यंग कसने से भी नहीं चूकते। 'काप्रेटिव्ह भैंस' में उन्होंने वर्तमान सहकारिता पर कसकर व्यंग कसा है। इसी प्रकार का लेख है 'ब्रेबोर्न स्टैडियम।' पर उनका प्रधान लक्ष्य सुधार न होकर मनोरंजन ही है।

चाल में कुल मिलाकर बारह परिवार हैं, परन्तु जितनी दांत-काटी रोटी मेरे, मोरु अण्णा पलशीकर, दामाप्पा गोडबोले और शामराव डिगरे के परिवारों में है, उतनी अन्य किसी की नहीं। यही कारण है कि सारी चाल को हमसे ईर्ष्या है। यदि मेरे यहां सेंवई बनती है, तो ऐसा कभी नहीं होता कि तीन कटोरियों में वह सेंवई मोरु अण्णा, दामाप्पा और शामराव के यहां न पहुंचे। मोरुअण्णा के घर बने पापड़ या बड़ी शेप तीनों के यहां अवश्य आती हैं। और यही बात दामाप्पा के घर की पाकिट अथवा शामराव के यहां की सतनजा आटे की नमकीन रोटी की भी है। चाल के अन्य व्यक्तियों को ज्योंही हमारे घरों में बनी इन वस्तुओं के परस्पर भेजे जाने की सूचना मिलती है, त्योंही भगवान जाने क्या उनके पेट में शूल होने लगता है, पर हम इसकी तनिक भी परवाह नहीं करते।

केवल इसी विषय में नहीं, अन्य अनेक बातों में भी हमारे ये चारों परिवार मिलजुलकर भाईचारे से रहते हैं। मोरुअण्णा बम्बई जाने पर कमीज और कोट

के कपड़े के दो थान अवश्य लाते हैं और उसी कपड़े में से हमारे बाल-बच्चों के कोट-कमीज़ सिलते हैं। दामाप्पा की सौभाग्यवती को यदि बाजार में कोई नवीन वस्तु दिखलाई देती है, तो वह उसके चार नग हम सबके लिए लाए बिना नहीं रहतीं। ("उसमें उसने कमीशन अवश्य खाया होगा" यह आशंका हममें से किसी को भी पड़ोस की काशीताई के कहने से पहले नहीं होती।)

शामराव की पत्नी गंगूबाई ने अपने पितृग्रह से लौनी का कनस्तर मंगाया था। उसमें से कुछ लौनी उसने हम सबको बड़े आग्रह के साथ और बाजार-भाव से चार आना (पच्चीस नये पैसे) कम में दी। ("वह लौनी खट्टी हो गई थी और फिर इतनी अधिक लौनी का घी बनाकर वह अकेली उसे सिर में थोड़े ही डालती ? इसीलिए कम दामों में बेच दिया है" देशपांडे की पत्नी कबूताई के इस उद्गार के पीछे छिपे व्यंग्य की ओर ध्यान न देकर हमने वह खट्टी लौनी मुक्त मन से, पर नाक दबाकर जैसे-तैसे खत्म की)। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर (अर्थात् हमारे गांव में) ऐसा मित्र-भाव एवं स्नेह कहीं नहीं दिखाई देता था।

मोरुअण्णा हम सबमें बड़े थे, अतः उनकी आज्ञा हम सबके लिए ईश्वरादेश से कम नहीं थी। यदि वह कुएं में गिरने के लिए भी कहते तो भी हम निस्संकोच उसमें कूद जाते, ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा उनके प्रति हमारे मन में थी। (क्योंकि हममें से प्रत्येक को तैरना आता था)।

अतः एक दिन जब मोरु अण्णा ने सहकारी डेअरी की योजना हमारे सामने रखी, तो क्षण भर भी बिना सोचे हमने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया। मोरुअण्णा गद्‌गद हो उठे और बोले, "मित्रो, वैसे तो मुझे 'सहकारिता' पर बहुत कुछ कहना था, पर तुम्हारे तुरन्त स्वीकार करने के कारण अब जरा उलझन में पड़ गया हूं। खैर कोई बात नहीं। आज मैं 'सहकारिता' पर बहुत-कुछ पढ़कर आया हूं और उसपर एक भाषण भी मैंने तैयार किया है। अतः आप सब उस भाषण को उगल देने की स्वीकृति दें, ऐसी मेरी आपसे विनम्र प्रार्थना है। मुझे आशा है कि आप इस कार्य में भी मुझे सहकारिता प्रदान करेंगे।"

हमारी अस्पष्ट स्वीकृति मिलते ही मोरु अण्णा ने ठीक चालीस मिनट तक 'सहकारिता' पर हमें ज्ञानामृत पिलाया और हमने भी (एक बार भी जंभाई न लेते हुए) उसका पान किया।

दूसरे दिन संध्याकाल के समय पुनः एकत्र होकर हम 'डेअरी' की योजना का प्रारूप तैयार करने लगे। 'डेअरी' का नाम क्या होना चाहिए, पहले यह प्रश्न दामाप्पा द्वारा प्रस्तुत किया गया। दामाप्पा को नामकरण का बड़ा शौक है। कहा जाता है कि जब वह स्वयं मैट्रिक में पढ़ते थे, तभी उन्होंने अपने भावी चारों बच्चों के नाम सोच लिए थे। अतः यह प्रश्न उठते ही हमने यह कार्य उन्हीं

को सौंप दिया। फिर क्या था, तुरन्त उन्होंने हर्षोत्फुल्ल हो जेब से एक गुड़मुड़ कागज निकाला जिसमें पच्चीस-तीस नाम लिखे हुए थे। (आज दिन-भर कार्यालय के काम की जगह उन्होंने यही उद्योग कर माईबाप सरकार की महान् सेवा की थी)। उन्होंने कागज पर लिखा 'दुग्धसंभव दुग्धालय' यह पहला नाम पढ़ा।

'दामाप्पा, भाई इसका अर्थ क्या है? यह तो बिल्कुल 'शिवसंभव' सरीखा लगता है।" मैं बोला।

"हां बिल्कुल वही अर्थ है उसका। फिर एक और भी अर्थ उससे ध्वनित होता है। गर्मी में यदि किसी भैंस का दूध सूख गया, तो तुरन्त "दूध पूरा करने की संभावना तनिक कम है" ऐसा नोटिस भी हम लगा सकेंगे।"

"हां, यह तो सुविधा है इस नाम में। ठीक है, दूसरा नाम पढ़िए।" मोरु अण्णा ने कहा।

"नीर क्षीर दुग्ध केन्द्र।"

"अर्थात् ?"

"अर्थात् हंस जिस प्रकार नीर-क्षीर विवेक द्वारा दूध से पानी को अलग करता है, उसी प्रकार—"

"ठीक, पर हम दूध में पानी मिलायेंगे ही क्यों? जब दूध में पानी ही नहीं, तो हंस को आमंत्रण कैसा?"

"ठीक है, पर थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए 'नीर विरहित क्षीर-केन्द्र' यह नाम रखा जा सकता है"—दामाप्पा ने कहा।

"ओह, पर यह कलाबाजी किस लिए? और दामाप्पा, तुम्हें मालूम है न, कि भैंस के दूध में निसर्ग से साठ प्रतिशत पानी तो स्वयं ही रहता है, और जो पानी ऊपर से डाला जाता है सो अलग। अब यह साठ प्रतिशत जल कैसे हम लोग दूर कर पाएंगे? अतः हमें ऐसा उल्टा-सीधा नाम रखने की अपेक्षा कोई सरल, सीधा, आसान-सा नाम रखना चाहिए।" मोरु अण्णा बोले।

"हम लोग 'यू टू' यह नाम क्यों न रखें?" शामराव ने पूछा।

"पर शामराव। यह तो वायुयान का नाम है, भाई।"

"तो क्या हुआ? जैसे वह वायुयान का लेटेस्ट मॉडल है, वैसे ही हमारी डेअरी भी तो लेटेस्ट मॉडल की होने वाली है। और फिर उसे यू टू की तरह लिखेंगे जिसका अर्थ हो जायगा कि इस डेयरी से आप भी दूध लीजिए।"

यह कल्पना किसी को अच्छी लगी हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता था। दामाप्पा की सूची में अभी बहुत से नाम बचे थे। यदि प्रत्येक नाम पर चर्चा हुई तो मूल उद्देश्य पर चर्चा न हो सकेगी, इस भय से हमने सब नामों की चिट बनाई और उनमें से किसी एक को उठाने के लिए शामराव के सबसे छोटे चिरंजीव (अर्थात्

नम्बर सात) को कहा। जो चिट उसने उठाई, उस पर लिखा था "डैअरिंग डेअरी"। हम सब उस क्षेत्र में नवीन साहसपूर्ण चरण रख रहे थे, अतः वह नाम हम सबको अत्यन्त उपयुक्त लगा और सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

नाम के उपरान्त मुख्य समस्या थी 'महिषी देवी' की। उसकी प्राप्ति के लिए पूंजी की आवश्यकता थी। मोरु अण्णा का सुझाव था कि आरम्भ में कम से कम चार भैंस तो होनी ही चाहिएं और उन्होंने बताया कि उनका मूल्य लगभग बारह सौ रुपया होगा।

"बारहसौ रुपया" आश्चर्य के कारण मेरी तो चीख ही निकल गई। "अर्थात् प्रत्येक का मूल्य तीन सौ रुपये।"

"अच्छा तो तुम्हारा क्या अनुमान था?" उन्होंने मुझसे पूछा।

"क्षमा कीजिए, मोरु अण्णा। मुझे खर्च की तो कुछ कल्पना ही न थी। मेरा विचार था कि पचास-साठ रुपये में एक भैंस मिल जाएगी।" मैं बोला।

"बाबूराव। तुम्हें भी कमाल है भाई। भैंस क्या कोई सैकिंड हैंड साइकिल है कि पचास-साठ में मिल जायगी।" मोरु अण्णा ने कहा।

"यदि ऐसा है, तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि हममें से प्रत्येक को तीन सौ देने पड़ेंगे।" मैंने कहा।

"और क्या। उसके बिना डेअरी कैसे शुरु हो सकती है?"

"अच्छी डेअरी रही भाई यह! क्यों दामाप्पा" मैंने दामाप्पा का समर्थन पाने के लिए कहा।

"हां भाई। मेरा यही विचार था कि एक भैंस पचास-साठ रुपये में पड़ेगी।" दामाप्पा बोले।

"हां पड़ेगी।" मोरु अण्णा चिढ़कर बोले, "पड़ेगी पर वह सदा के लिए, फिर कभी उठेगी नहीं। कमाल करते हो तुम लोग। दुनियादारी की सीधी-सादी बात भी तुम नहीं जानते।"

"मोरु अण्णा, तुम कुछ भी कहो, पर है भाई यह बात ठीक। हम दुनियादारी के मामलों में कच्चे हैं, तभी तो सदा तुम्हारा परामर्श लेते हैं। कदाचित् तुम विश्वास न करो पर सच कहता हूं, बीस वर्ष की आयु तक में यही समझता था कि बूंदी के लड्डू साबूदाने से बनाए जाते हैं।"

कपाल पीटते हुए मोरु अण्णा बोले, "यह क्या कम है कि तुमने यह नहीं सोचा कि गुलाब जामुन गुलाब या गुलकंद से बनती है।"

"पर तीन सौ रुपये तो वस्तुतः बड़ी मोटी रक़म है।" शामराव ने कहा।

"पर शामराव भाई, इन तीन सौ को हजार बनने में कुछ अधिक समय भी तो नहीं लगेगा।"

"वह तो ठीक है, पर सवाल तो यह है, कि इस समय तीन सौ रुपये कहां से आएं !"

दामाप्पा सिर खुजाते हुए बोले, "मोरु अण्णा, पहले ऐसा करें···कि पहले एक सहकारी बैंक खोलें और जब एक बार उसमें रुपया जमा हो जाए···"

"तुम्हारे कहने का अर्थ तो यह हुआ दामाप्पा" मोरुअण्णा चिढ़कर बोले "कि चिड़िया पकड़ने का सरल उपाय यह है कि पहले एक चिड़िया पकड़ें और उसके सिरपर लौनी थोप दें। जब वह धूप में उड़ेगी तो लौनी पिघलेगी, पिघलकर उसकी आंखों में पड़ेगी जिससे उसे दिखना बन्द हो जाएगा और वह नीचे गिर पड़ेगी और तब उसे पकड़ लिया जायेगा। अरे बैंक के लिए पैसा मिल सकता होता, तो फिर डेअरी के लिए भी तो मिल सकता था।"

"छि:, डेअरी में कोई पैसा फंसाएगा, ऐसा मुझे नहीं लगता। अत: ऐसा करें कि अब तो प्रत्येक से ७५ रु० लेकर केवल एक भैंस खरीदी जाय और बाद में जैसे-जैसे लाभ होता चले, वैसे-वैसे और भैंसें खरीद ली जाएं।"—मैंने कहा।

मेरा यह प्रस्ताव सबको भा गया, क्योंकि पचास-पचहत्तर से अधिक रुपया खर्च करने की किसी की क्षमता न थी। अत: अन्त में डेअरी से एक भैंस पर हमें उतरना पड़ा, पर करते भी क्या ?

भैंस लाने का कार्य मोरुअण्णा को सौंप उस दिन की बैठक समाप्त कर दी गई। मोरुअण्णा की ससुराल 'रेडेगांव' भैंसों के लिए विख्यतात थी। अण्णा ने अपने श्वसुर को पत्र लिख दिया कि एक बढ़िया-सी भैंस शीघ्रातिशीघ्र भेज दें।

पत्र भेजने के बाद हम प्रतिदिन बड़ी आतुरता से भैंस की प्रतीक्षा करने लगे। अब तक सारी चाल को मालूम हो गया था कि हम चारों मिलकर भैंस खरीद रहे हैं। अन्त में वह सुदिन भी आ पहुंचा। एक दिन प्रात:काल के समय मोरुअण्णा की ससुराल का एक नौकर भैंस लेकर चाल में आ पहुंचा। हम चारों सपरिवार उधर दौड़े और हमारे अड़ौसी-पड़ौसी अपने-अपने दरवाज़ों व खिड़कियों पर खड़े होकर हमारे उस 'चतुष्पाद-वैभव' को बड़ी ईर्ष्या से देखने लगे।

सर्वप्रथम मोरुअण्णा की सौभाग्यवती आगे आईं और उन्होंने अपने पति के स्नान के लिए रखे गर्म पानी से भैंस के चरणों का प्रक्षालन किया। दामाप्पा की पत्नी को जब और कुछ नहीं सूझा तो वह तुरन्त भीतर से 'हमाम' की बट्टी ले आईं और उसे भैंस के पैरों पर रगड़ने लगीं।

"इश्श, बनु बहन। वह क्या तुम्हारी बहन है जो साबुन से उसके पैर धो रही हो" काशीताई गैलरी से चिल्लाई। इस पर बनु बहन उसकी ओर मरखनी भैंस की तरह देखने लगीं।

हमारी 'इन' ने धोबी के धुले तौलिये से भैंस के पैर साफ किए। इस बीच शामराव की सौभाग्यवती ने थाल में नीरांजन, हरदी-कुंकुम, पुष्प इत्यादि सजाकर

भैंस की विधिपूर्वक पूजा की और बड़ी श्रद्धा से उसकी आरती उतारी। हमारी बहिन मथी तो उनसे भी एक कदम आगे बढ़ गई। उन्होंने भैंस के साथ आए नौकर के मस्तक पर टीका लगाया और उसकी भी आरती उतारी। बच्चों ने सोचा कि पूरे ठाठ से आरती होनी चाहिए, अतः दामाप्पा का सुपुत्र घंटा और मोरुअण्णा का सुपुत्र झांज ले आया, पर भैंस की आरती ठाकुर जी की तरह भजन-कीर्तन के साथ न हुई और अपने-अपने वाद्य बजाने का अवसर न मिलने से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

इस प्रकार भैंस का ठाठदार स्वागत-समारम्भ समाप्त होने पर हम सब चाल के पीछे पहिले से ही तैयार किए गए गोठ में पहुंचे। वहां रखे हुए चारे पर भैंस टूट पड़ी। उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए मोरुअण्णा बोले, "बाबूराव। क्या मस्त जानवर है। यदि सूंड़ होती, तो बिल्कुल हथिनी लगती।" मोरुअण्णा अतियोक्ति कर रहे थे यह जानते हुए भी "अपना तो हाथी, दूसरे का भैंसा" इस न्याय से हमने अपनी भैंस की निकली हड्डियों की ओर ध्यान न दिया और बड़ी प्रशंसात्मक दृष्टि से उसे देखते रहे। उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए दामाप्पा चिन्तापूर्ण स्वर में बोले, "पर कुछ दुबला गई है न थोड़ी-सी ?"

"अरे, इतनी दूर से चलकर आई है।" मोरुअण्णा ने कहा "पचास-पचपन मील की दूरी कुछ कम थोड़े ही है" और फिर भैंस के साथ आए नौकर से पूछा, "क्यों भाई, रास्ते में कुछ दिक्कत तो नहीं हुई ?"

"छिः, कष्ट कैसा ? ऐसी-वैसी भैंस नहीं है, सरकार। सारे रास्ते दौड़ती आई है।"

"पर दूध कितना देती है यह ?"

"दोनों वक्त में पांच सेर देती है।"

"बस—इतना ही ?"

"जनाब, अभी ग्याभिन है, ब्याने के बाद मजे में पांच सेर एक टैम काढ़ लीजिएगा।"

"इसकी डिलीवरी कब होगी।" ब्याने शब्द का उच्चारण करने में संकोच अनुभव करते हुए शामराव ने पूछा। नौकर की समझ में न आया, पर जब दामाप्पा ने मतलब समझाया तो बोला, "अभी चार महीने लगेंगे। उसके बाद देखिएगा, दो मुठ्ठी चारे से भी काम चल जायेगा।" नौकर के स्पष्टीकरण से हमारा तात्कलिक समाधान हो गया और उस समय सवासेर दूध देने वाली उस भैंस को पुनः एक बार सहलाकर तथा उसे गोठ में बंदकर हम लोग अपने-अपने घर आगए। उस दिन तमाम दिन हममें से किसी का दफतर में मन नहीं लगा। दफतर में किसी फेलोशिप की अर्जी टाइप करते हुए दामाप्पा को "आई स्ट्रांगली रेकमेंड दट दि कैंडिडेट शुड बी अवार्डेड दि बफेलोशिप" लिखने के कारण साहब की खूब

उल्टी-सीधी बातें सुननी पड़ीं। टेंडरफार्म पर भैंस का चित्र अंकित करने के कारण मेरे साहब भी मुझ पर भैंस की तरह झपट पड़े। खैर, संध्या समय पुनः सब गोठ में गए। अब तक भैंस की थकान मिट गई होगी और वह तरोताज़ा दिखलाई देगी, ऐसा हमारा (व्यर्थ का) अनुमान था। थोड़ी देर बाद नौकर ने दूध दुहना आरम्भ किया। पहली चरीभरने पर दूसरी तैयार रहे, यह सोचकर हम अर्थात् मैं और शामराव दो बड़ी-बड़ी चरी (पीतल का बर्तन) ले आए थे। परन्तु दुर्भाग्य-वश पहली दुंघाडी भी जैसे-तैसे आधी ही भर पाई। हम सबके चेहरे उतर गए।

मोरुअण्णा ने तनिक रोषपूर्ण स्वर में पूछा, "क्यों बे धोंड़ीबा, यह क्या है? भैंस दूध पी तो नहीं जाती?"

"नहीं जी, थकी हुई होने से कम दिया है। कल आप देखिएगा।" धोंडीबा की बात हमें जच गई। "वस्तुतः थकी भैंस का दूध काढ़ना ही अमानुषिकता है।" शामराव ने भय व्यक्त किया, "हमें आज उसे आराम देना चाहिए था।" उनके इस कथन से हमने समझा आज के निकले दूध को वह नहीं लेंगे, पर वह बोले, "आज मुझे तनिक ज्यादा दूध चाहिए। मेरी साली तथा उसके बच्चे आए हुए हैं न।" अतः मजबूरन मुझे अपने बांटे का दूध उन्हें देना पड़ा और फलस्वरूप कभी रुष्ट न होने वाली पत्नी की फटकार सुननी पड़ी। दूसरे दिन प्रातःकाल ही धोंडिबा अपने गांव चला गया।

अब सबके सम्मुख समस्या थी कि दूध निकालने को किससे कहा जाय। बहुत सोचने विचारने के बाद शामराव ने अपने परिचित एक ग्वाले को बुला लाने का निश्चय किया। उसके आने तक साढ़े आठ बज गए। भैंस आने के कारण हम अपने-अपने दूध वालों से मना कर चुके थे, अतः हम चारों के घर चाय नहीं बन सकी थी और बच्चों ने रो-रो कर घर सिर पर उठा लिया था। चाल में किसी के यहां से दूध मांगने की भी सुविधा न थी क्योंकि भय था कि कुत्सित उद्गार सुनने को मिलेंगे "अरे कल ही तो भैंस ली थी? क्या आज ही उसका दूध सूख गया।" अतः उस बात को सुनने से होने वाले सरदर्द से चाय न पीने के कारण होने वाले सरदर्द को सहना ही हमें अधिक ठीक लगा।

साढ़े आठ, पौने नौ के लगभग शामराव ग्वाले महाराज को लेकर आया। उसने भैंस का 'आपुच्छमस्तक' निरीक्षण किया और उसके मुख पर तुच्छभाव की स्पष्ट छाप अंकित हो गई। तभी उसने तीव्र स्वर में पूछा, "कितने रुपये में खरीदी है यह सरमाड?" उसके इस शब्द पर हम सबको बड़ा क्रोध आया, पर उस समय तो उसे रुष्ट करना व्यावहारिक न था। "अभी कीमत तै नहीं हुई है।" मैंने साफ झूठ बोल दिया। इस पर वह बोला, "साहब, डेढ़ सौ से एक नया पैसा भी ज्यादा मत देना।" यह सुनकर हमें ऐसा लगा मानों गोबर से लिथड़ी भैंस की पूंछ ही सड़ाक से हमारी पीठ पर लगी हो और हम दैन्य-भरी दृष्टि से एक दूसरे की ओर

देखने लगे। मोरुअण्णा ने जरा कड़वे स्वर में कहा, "ग्वाले महाराज, बातें रहने दो, पहले जरा दूध दुह लो।"

ग्वाला दूध दुहने बैठ गया। कल की तरह फिर हम दोनों अर्थात् मैं और शामराव खाली चरी हाथ में लिए खड़े रहे, पर हमारी भैंस पूर्व जन्म में कदाचित् किसी मारवाड़ी की किराने की दुकान पर काम करने वाली मुनीम थी। उसने बिल्कुल कल जितना ही दूध दिया (न एक कटोरी कम, न ज्यादा) और चुपचाप निश्चित खाती रही। अब मोरु अण्णा से न रहा गया। वह क्रोधपूर्वक बोले, "क्यों भई, क्या इतना ही दूध है इसके नीचे?"

ग्वाला बोला, "और कितना होता। मैंने कोई यूंही इसे सरमाड थोड़े ही कहा था। अरे साहब यह जात ही ऐसी है। दो रुपये का चारा खाती है और दो आने का दूध देगी।"

हमारे चेहरे देखने योग्य थे। उस दिन संध्या समय दामाप्पा मेरे पास आए और दबे स्वर में बोले, "बाबूराव, कुछ गड़बड़ जरूर है। कहीं भैंस बदल तो नहीं गई, बीच मार्ग में ही धोंडीबा ने कुछ···?" मैं एकदम चौंक पड़ा, "हां, यह संभव तो है। वर्ना तीन सौ रुपये की भैंस और तीन सेर भी दूध न दे। जरूर कोई गड़बड़ है।"

हम दोनों उसी समय उठकर शामराव के पास गए। अपनी शंका प्रकट करते ही वह तुरन्त बोले, "हां, यह संभव है।" अन्त में हम तीनों ने सकुचाते-सकुचाते अपनी शंका मोरु अण्णा पर प्रकट की। पर वह हमें नितान्त मूर्ख बताते हुए आश्वासन के स्वर में बोले, "घोंडीबा उनका बड़ा पुराना नौकर है, वह ऐसा कभी नहीं कर सकता। पर जब तुम्हारे मन में शंका है, तब उसका पूर्ण परिहार होना ही चहिए। अच्छा, तो अब ऐसा करूं कि इस भैंस का फोटू लेकर अपनी ससुराल भेज दूं और उनसे पूंछ लूं कि यह फोटू उन्हीं की भेजी हुई भैंस का है या किसी अन्य का? उनका उत्तर आने पर तो तुम्हारा विश्वास हो जायगा न?" अब हम लोग क्या कहते। मोरु अण्णा ने दूसरे दिन ही एक फोटोग्राफर बुला लिया। उसने कैमरा ठीक करना शुरू किया ही था कि तभी शामराव के मन में एक विचार आया और वह सबको सम्बोधन करते हुए बोला, "अरे, भैंस का फोटू तो खिच ही रहा है, यदि हम भी बैक-ग्राउंड में खड़े हो जायं तो क्या हर्ज है। थोड़े ही खर्च में काम चल जायगा। बहुत दिन से मैंने फोटू खिचवाया भी नहीं है।" शामराव का यह विचार हम सब को तुरन्त पसन्द आ गया। दामाप्पा तो बोले, "भैंस के साथ अपना फोटू होने से मोरु अण्णा के ससुराल वालों को यह भी विश्वास हो जायगा कि भैंस ही नहीं, हम भी कुशलपूर्वक हैं।"

फोटोग्राफर की सहमति ले हम चारों भैंस के पीछे जा खड़े हुए। इतने में हमारे चतुर चिरंजीव ने यह सूचना घर-भर को दे दी और हम चारों के बच्चे

दौड़े-दौड़े वहां आ पहुंचे, "हमारा भी फोटू खींचो, हम भी फोटू में खड़े होंगे" यह शोरगुल आरम्भ हो गया। इतने में अन्त:पुर से सूचना आई "हमने क्या किसी का घोड़ा मारा है ? हम भी फोटू में खड़े होंगे।" उनका प्रस्ताव अस्वीकार करना शक्य न था। अतः भैंस के आगे-पीछे, दाएं-बाएं, जहां भी जगह मिली वहीं पलशीकर, डिगरे, गोडबोले और पिटके इन चारों कुटुम्बों के वंश-वृक्ष की चालू पीढ़ी के वृक्ष और उनके फल खड़े हो गए और पर्याप्त कोलाहल के बाद जैसे-तैसे फोटू खिचा। पर जब फोटोग्राफर ने अगले दिन फोटू लाकर दिया, तो उसमें भैंस का पता भी न था। दामाप्पा और उनकी सौभाग्यवती के सिर पर एक-एक सींग निकलता सा तथा शामराव के बड़े लड़के की कमर की बाईं ओर पूंछ निकलती प्रतीत होती थी। भैंस के केवल यही दो चिह्न फोटू में दिखते थे। यह फोटू भेजकर भला क्या लाभ होना था। हम हताश हो गए। फोटू के पन्द्रह रुपये के लिए फिर चन्दा करना होगा, इस भय से फोटू की बात हमने रद्द कर दी। उधर हमारी नई महिषी देवी का दूध दिन-प्रति दिन कम होता जा रहा था। ऐसा क्यों हो रहा है, इस पर हमने बहुत समय तक विचार किया। अपने कार्यालय में बंडोपन्त से जब मैंने यह बात कही, तो वे बोले, "अरे आजकल गर्मी का मौसम है। भैंस गर्मी मानती है, अत: वह इन दिनों कभी भरपूर दूध नहीं देती। तुम ऐसा करो कि सुबह-शाम उसे ठण्डे पानी से स्नान कराया करो। तुरन्त अन्तर देखोगे।"

बंडोपन्त का विचार मुझे जच गया और मैंने वह प्रस्ताव सबके सामने रखा। उन्हें भी बात ठीक लगी। दामाप्पा बोले, "अच्छा तो ऐसा करें, बारी-बारी से हम चारों यह कार्य करें जिससे किसी एक को अधिक त्रास न हो।"

शामराव बोले, "उसकी बजाय मेरा प्रस्ताव है कि एक-एक की बजाय हम चारों मिलकर प्रतिदिन यह कार्य करें। ऐसा करने से उकताएंगे भी नहीं और पारस्परिक सहयोग से यह कार्य और अधिक व्यवस्थित रूप से भी हो जाएगा।"

"वह कैसे ?"

"हम लोग भैंस का विभाजन कर लें।"

"कैसा विभाजन ?"

"प्रैक्टिकल नहीं भाई, केवल थ्योरैटिकल। हम भैंस के शरीर के चार विभाग कर लें और आपस में बांट लें। उदाहरण के लिए, पिछला बांया पैर और उसके ऊपर का कमर का हिस्सा मैं ले लूंगा। इसी प्रकार आगे का बांया भाग मोरु अण्णा के पास रहेगा। आगे का दांया भाग बाबूराव का और पिछला दांया भाग दामाप्पा का। अपने-अपने पैर सब धोएं।"

"अपने-अपने पैर।"

"अर्थात् अपने-अपने भाग के भैंस के पैर।"

"अरे, है तो बड़ा बढ़िया विचार।" दामाप्पा खुश होकर बोले "तब तो सच्चे अर्थ में कोओपरेटिव बेसिस पर काम होगा।"

"अबे कोओपरेटिव वाले, भैंस के चारों पैरों और उसके ऊपर नीचे के पेट और पीठ के भागों का बटवारा तो हो गया। पर पूंछ का क्या होगा? पूंछ कौन धोवेगा?" मोरु अण्णा क्रोध में बोले।

"अरे हां, यह बात तो ध्यान में नहीं आई किसी के···।" मैं बोला, "सच ही पूंछ का क्या होगा, भाइयो?"

कोई कुछ न बोला। पूंछ का उत्तरादायित्व लेने को कोई तैयार न था। इस पर शामराव बोले, "मुझे लगता है, पूंछ के भी चार भाग करने होंगे।"

"अरे तो भैंस के कितने टुकड़े करोगे, तुम लोग?"

"बस ये ही चार और"

"और फिर मुंह का क्या करोगे?"

हरे राम। यह तो बड़ी आफत आई। अन्त में काफी देर तक वाद-विवाद के उपरान्त निर्णय हुआ कि पिछले दो पैर जिनके हिस्से में आए हैं, वे पूंछ पर भी दो बाल्टी पानी डालें और आगे के पैर वाले मुंह पर दो-चार बाल्टी डाल दें।

इस प्रकार एक महान और उलझी हुई समस्या का समाधान पाने की सन्तोष-भावना के साथ हम घर लौटे (सहकारी-आंदोलन सफल नहीं हो सकता, ऐसा ढिंढोरा पीटने वाले हमारे इस 'मूर्तिमंत' उदाहरण को देखें)।

परंतु इस सम्पूर्ण योजना-बद्ध कार्य-पद्धति के स्वीकृत हो जाने पर भी श्रीमती महिषी देवी प्रसन्न नहीं हुईं। उन्होंने दूध क्यों चुरा रखा था, यह पता नहीं चलता था। उसे ठण्डे पानी से सर्वांग स्नान कराते-कराते मुझे और शामराव दोनों को ठण्ड लग गई। हमारी आंख-नाक से बेतहाशा पानी बहने लगा, पर वह महामाया द्रवित न हुई। 'मुफलिसी में आटा गीला' की कहावत को चरितार्थ करते हुए एक दिन प्रातःकाल के समय ग्वाला महाराज नहीं आए। अब हम सब परेशान थे कि दूध कौन काढ़े? हम में से किसी को दूध दुहना न आता था, तथापि चूंकि भैंस मोरु अण्णा की ससुराल की है, अतः उन्हें ही सर्वप्रथम प्रयत्न करना चाहिए, यह निश्चित हुआ। मोरु अण्णा ने बड़ी मेहनत के बाद जैसे-तैसे एक डेढ़ कटोरी दूध काढ़ा। उसके बाद दामाप्पा की बारी थी। उनसे वह कार्य होना कठिन था। जब अंगुलियां दुखने लगीं, तो झूंझल में बोले, "यह भैंस है कि यमराज के भैंसे का अवतार?"

"दामाप्पा, यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हें दूध काढ़ना नहीं आता। नाच न जाने आंगन टेढ़ा।"

"अरे जनाब, यह मत समझो कि मैं निरा "यह" ही हूं। यह भैंस ही ससुरी बेकार है। बाबूराव! बचपन में हमारे यहां एक भैंस थी। कमाल की सीधी और

होशियार। थनों पर हाथ रखा नहीं कि स्वतः अपने पिछले पैर यथा-स्थान रख लेती थी और पांच मिनिट में कलशी लबालब भर जाती थी।"

"दामाप्पा ! क्यों गप्प मारते हो ? मुझे लगता है मैंने यह विनोद किसी अंग्रेज़ी पुस्तक में पढ़ा है।"

"अरे यह विनोद नहीं, पूर्ण सत्य है। वह वस्तुतः कुलीन भैंस थी, इसकी तरह सूअरिया न थी।"

दामाप्पा अभी अपनी बात कह भी न पाए थे कि भैंस ने उनके एक कस कर लात दी, कदाचित् अपने सम्बन्ध में कही बात उसे असह्य हो उठी थी। लात लगते ही दामाप्पा के हाथ की कलशी एक ओर और वह स्वयं दूसरी ओर जा गिरे। पांच मिनिट तक तो उनसे उठा भी न गया, पर जब जैसे-तैसे उठे तो क्रोध में दौड़े-दौड़े भैंस के पास गए और उसके भरपूर चार-पांच लात जमाई। पांचवीं लात मारते समय उनके पैर में मोच आ जाने से वह पुनः लड़खड़ा कर गिर पड़े। अब क्या था। क्रोध में बेसुध हो चिल्लाये, "बाबूराव, मोरु अण्णा, शामराव, मेरे हिस्से की बची लातें तुम्हीं मारो, साली के पेट में। हरामखोर।"

हम उन्हें समझाने लगे तो वह और भी भड़कते हुए बोले, "तुम लोग लात मारते हो कि नहीं ?"

"अरे, यह क्या चाइल्डिशपना है, दामाप्पा ?"

"चाइल्डिशपना !" वह क्रोध में बोले, "तुम्हें उसकी लात लगी होती, तो पता चलता। सहकारिता की बातें तो बड़ी बढ़-चढ़ कर करते थे। क्या यही मेरे साथ सहकारिता है ?"

सहकारिता के सिद्धान्त को आंच न आए, यह सोचकर मैंने और शामराव ने भैंस के पांच-पांच लातें और मारीं।

पर मोरु अण्णा किसी प्रकार भी ऐसा करने को तैयार न हुए। उनका यह आचरण दामाप्पा की कमर पर मानों अन्तिम प्रहार था। वह क्रोधोन्मत्त हो चिल्लाए, "तुम भला क्यों मारने लगे ? वह तुम्हारी ससुराल की जो है। हमें [illegible] सिर पर ला बिठाया है ! अब हमारी मूर्खता के बदले में हम को चार-चार लातें और मारो और हमसे जो पैसे लिए हैं, उन्हें वापिस कर दो। बस हो गया।"

इस अप्रत्याशित प्रसंग से मोरु अण्णा भी क्रोधाभिभूत हो डपटते हुए बोले, "[illegible] दामाप्पा। तुम्हारे पैसे इसी क्षण तुम्हारे मुंह पर [illegible] मारता हूं। तुम्हारे पैसों के पीछे-पीछे मैं कोई नंगा नहीं फिरा था।"

"अगर यही बात है, तो चुपचाप हमारे पैसे वापिस कर दो। हमें इससे क्या लेना-देना है [illegible]।"

"ठीक है, ठीक है, अभी देता हूं, मुझे क्या लफंगा समझ रखा है।"

"जो समझेंगे सो समझेंगे, पहले अपना बचन पूरा करो।"

यह वाद-विवाद और अधिक न बढ़े, इसलिए मैंने और शामराव ने दामाप्पा को उठाया और उन्हें उनके घर ले चले।

हमारे सहकारी-आयोजन (हाय रे दैव) का अन्त दुर्भाग्य से ऐसा हुआ। परन्तु मोरु अण्णा की वृत्ति और भैंस का निषेध करने तथा भैंस के लिए उन्हें दिए गए पैसे वसूल करने के लिए हम तीनों एक स्वतंत्र सहकारी-समिति की स्थापना करें, इस प्रयत्न में दामाप्पा आजकल बड़े जोर-शोर के साथ लगे हुए हैं।

अनुराधा की चोरी

रमेश मंत्री

चंद्रू का रंभा पर निस्सीम प्रेम था। वैसे उसने जीवन में नाना प्रकार के प्रेम किए थे—काव्यात्मक प्रेम, नाटक जैसा प्रेम, फिर सिनेमा का प्रेम और अन्त में सच्चा प्रेम इसलिए कि अब उसका विवाह हो गया था। "तेरे लिए मैं प्राण भी दे दूंगा" यह कहे हुए अभी आठ दिन ही हुए थे और उधर रंभा को भी निम्न शब्द कहे हुए उतने ही दिन बीते थे "तुम्हारे साथ तो मैं जंगल में भी रह लूंगी।"

विवाह के बाद का सप्ताह आनन्द से बीता। इस सप्ताह न तो पत्नी के लिए जीव देने का प्रसंग चंद्रू पर आया और न जंगल में रहने का कष्ट रंभा पर ही पड़ा। अतः दोनों बहुत खुश थे। बम्बई के उस दो कमरों वाले संसार में वे दोनों मजे से अपना जीवन-रथ हांक रहे थे। "दुनिया एक झमेला है" कहने वालों पर उन्हें अब हँसी आने लगी थी। उन दोनों के ये आठ दिन सुख से बीते थे और इस दीर्घ अवधि में एक बार भी मतभेद, झगड़ा, दोषारोपण इत्यादि जैसी दुर्घटना नहीं घटी थी। यह देखकर उनका हर्षावेग आकाश को छूने लगा था। उन्हें विश्वास हो गया था कि सुदीर्घ भविष्य में भी वे इसी प्रकार सुखी रहेंगे।

अपने विवाह का साप्ताहिक जन्मदिन उन्होंने बड़े उत्साह से मनाया और निश्चय किया कि जीवन-भर ऐसे ही उस उत्सव को प्रति सप्ताह मनाते रहेंगे। प्राण देने या जंगल में जाकर रहने की प्रतिज्ञा भी बार-बार दुहराई जाती रही। दूसरे दम्पति कितना ही झगड़ा क्यों न करें, पर हम दोनों जीवन में कभी नहीं लड़ेंगे, यह निश्चय किया। पर यह निश्चय कुल अट्ठाईस घंटे तक ही रह सका। उसके बाद जो कुछ हुआ उसे झगड़ा तो नहीं कहा जा सकता, पर एक दूसरे ने यथाशक्ति सौम्य शब्दों में अपना-अपना मतभेद अवश्य प्रकट किया।

हुआ यह कि उस इमारत में बगल के दो कमरों में एक नया परिवार आ बसा। उसे वस्तुतः न तो परिवार कहना चाहिए और न दम्पति क्योंकि आगन्तुक एक तरुण, सुन्दर कुमारी थी। वह न तो किसी की पत्नी थी और न दूसरा ही कोई रिश्तेदार उसके कमरे में दिखाई देता था। किसी सिने-अभिनेत्री के समान वह बॉबकट, लिपस्टिक, बहुमूल्य पर अंगों से सटे वस्त्र इत्यादि सौन्दर्य प्रसा-

धनों का उपयोग करती थी। वस्तुत: वे दो कमरे उसकी शान-शौकत के उपयुक्त नहीं थे। पर पता नहीं क्यों, वह एक दिन अचानक वहां रहने आगई थी।

उसे देखते ही रंभा ने पड़ौस-धर्म निभाते हुए अपनी पड़ौसिन मंदा से जाकर कहा था, "अरी रेखा, यह तो बिल्कुल सिनेमा की सी लगती है।"

ये शब्द रंभा ने बहुत धीमे स्वर में कहे थे, पर उस युवती के कान बड़े तेज़ थे। द्वार खोलने के लिए निकली वह एकदम रुक गई और मुस्कराती हुई रंभा से बोली, "हां, मैं सिनेमा में ही काम करती हूं और मेरा नाम अनुराधा है, पर आप को यह कैसे पता लग गया?"

और बस उसी क्षण रंभा के जीवन पर बज्रपात हुआ। अनुराधा के चमकते कंठहार और बहुमूल्य साड़ी ने उसकी दृष्टि को मुग्ध कर लिया। "मुझे भी क्या ऐसी वस्तुएं कभी मिल सकेंगी?" यह विचार उसके मन में घुमड़ने लगा। अनुराधा एक-दो औपचारिक वाक्य कह कर जब अपनी कोठरी में चली गई, तो मानो रंभा के जख्म पर नमक छिड़कती हुई मंदा बोली, "अरी, हमें तो इस जन्म में ऐसी साड़ी और ऐसा घर मिलना नहीं।"

इस पर रंभा को तैश आगया। वह बोली, "तुम्हें मेरे पति के विषय में अभी पता नहीं, मंदा बाई। मेरे लिए वह सब कुछ कर सकते हैं। आठ दिन के अन्दर ही तुम्हें ऐसा घर और साड़ी न दिखाई, तो मेरा नाम रंभा नहीं।" वह प्रतिज्ञा जिस आत्मविश्वास के साथ की गयी उसे देखकर मंदा भी आश्चर्यचकित हुए बिना न रह सकी।

उस दिन संध्या समय जब चंदू काम से लौटा, तो रंभा ने बड़े प्रेम से उसे हलुआ और चाय परोसे। यद्यपि चंदू ने उस दिन कार्यालय में किसी के विदाई-समारोह में पेड़ों और आलू की टिकियों पर भरपूर हाथ साफ किया था, परन्तु प्रिय पत्नी द्वारा बनाए हलुआ को अस्वीकार करने का स्वामीद्रोह—किंवा स्वामिनी-द्रोह-उसके वंश का नहीं था। चाय समाप्त होने पर रंभा बड़े स्नेहपूर्ण स्वर में बोली, "तुम मुझे बड़े अच्छे लगते हो। प्रियतम!"

प्रेम के इस अनपेक्षित उद्रेक से चंदू जरा सावधान हुआ और बोला, "क्यों जी?"

"क्यों क्या? मेरी सब इच्छाएं जो पूरी कर देते हो।"

"हाँ, पर तुम कुछ मांगती नहीं हो, तभी तो शक्य होता है।"

"पर आज मैं आपसे कुछ मांगूंगी।"

"हां, हां, मांगो ना।" चंदू आत्मविश्वास के स्वर में बोला। उसका अनुमान था कि उसकी मांग वेणी, जूड़ा अथवा पाउडर से सम्बन्धित होगी।

"प्रियतम! मुझे पड़ौसिन मिस अनुराधा की सी दिल्ली की स्पेशल साड़ी

और चन्द्रहार चाहिए।" रंभा और भी लाड़ से बोली।

"ऐं, पर···कौन अनुराधा ? मैंने तो उसे देखा भी नहीं।"

"अरे वही जो हमारे पड़ौस के कमरे में आई है, कहते हैं वह सिने-अभिनेत्री है।"

"अच्छा ? पर यदि सिने-नटी के से हल्के दर्जे के कपड़े और आभूषण पहनोगी, तो क्या हमारी इज्जत को बट्टा नहीं लगेगा ?" रंभा को उस मांग से परावृत्त करने का प्रयत्न करते हुए चंदू बोला।

"कुछ बट्टा नहीं लगता। आजकल तो बड़े-बड़े नेता अभिनेताओं का अनुकरण करते हैं। मैं तुम्हारी एक नहीं सुनने की। तुम तो कहते थे 'तेरे लिए प्राण तक दे दुंगा ?"

"हां, हां, अब क्या नहीं कहता ? पर यह हार और दिल्ली की साड़ी—" चंदू को विश्वास था कि प्राण नहीं देने पड़ेंगे, पर चंद्रहार और साड़ी लाने की स्वीकृति देने का अर्थ था —वर्ष-दो वर्ष का वेतन खपा देना।

"जाओ, मैं तुमसे अब नहीं बोलूंगी। तुम्हें तो मुझसे भी अधिक मरा चंद्रहार और मरी साड़ी···?" और रंभा सिसक-सिसक कर रोने लगी।

यह प्रसंग चंदू के लिए अनपेक्षित था। उसने घबराकर तुरन्त खिड़की बंद कर दी और बोला, "अरे कोई क्या कहेगा कि विवाह को अभी आठ दिन भी नहीं हुए कि मियां-बीवी में झगड़ा होने लगा।"

"आठ दिन यदि नहीं हुआ तो वह मेरे कारण।"

रंभा ने रोते-रोते झगड़ा बढ़ाया। अन्त में उसकी आशा के अनुरूप चंदू को हथियार डालकर कहना पड़ा, "अच्छा, अच्छा! ला दूंगा, अब तो बस करो। पर इससे पूर्व उस अनुराधा से मिलना ज़रूरी है। ठीक है न ?"

"अच्छा, तो अब हार और साड़ी के बहाने उस नटी से प्रेमालाप करने की सूझी है क्या ?" अभी भी रंभा लड़ने के मूड में थी। पर चंदू ने उसे समझा दिया कि यदि उसे ये चीज़ें चाहिएं तो उसका अनुराधा से मिलना क्यों आवश्यक है। अंत में रंभा को उसकी बात माननी पड़ी।

इसके बाद अगले रविवार को दस बजते ही चंदू ने अनुराधा का द्वार खटखटाया और उसे पुकारने की चेष्टा की। पर बहुत देर तक द्वार न खुला। लगभग पन्द्रह मिनिट बाद अनुराधा आंखे मलती हुई आई। अपना परिचय देते हुए चंदू बोला, "मैं आपका चंदू, नहीं, आय एम सारी—आपके पड़ौस का चंदू।"

"ठीक है, आइए न, 'आपका चंदू' कहने में ही क्या बिगड़ गया" अनुराधा मुस्कराते हुए बोली। "क्षमा कीजिए, कल रात स्टूडियों में काम था, जागना पड़ा, अतः अब तक सो रही थी।" यह कह कर अनुराधा भीतर के कक्ष में चली

गई और चंदू एक कुर्सी पर बैठ गया। उसके अन्दर जाने पर चंदू ने इधर-उधर निगाह दौड़ाई, तो देखा कि रात की साड़ी यों ही अस्त-व्यस्त एक कुर्सी पर पड़ी थी, मेज पर की प्रसाधन-सामग्री भी उसी प्रकार पड़ी थी। सिनेमा-सम्बन्धी दो-तीन हिन्दी तथा तीन-चार अंग्रेजी पत्रिकाएँ भी इधर-उधर पड़ी थीं। कुल मिलाकर कमरा ऐश्वर्यपूर्ण पर अस्त-व्यस्त दशा में पड़ा था। उस समय भी बहु-मूल्य इत्र की मन्द-मन्द गन्ध से कमरे का वातावरण भरा हुआ था।

थोड़ी देर बाद अनुराधा केशों में कंघी कर आई और बोली, "अब कहिए पड़ौसी महाशय ?"

"कहना, अरे हमें क्या कहना है···पड़ौस में नया परिवार आया है, सोचा परिचय ही कर लें···" चंदू ने अटकते-अटकते कहा।

"अय्या ! अरे मेरा कोई परिवार नहीं। मैं तो केवल दो महीने के लिए आई हूं, फिर लौट जाऊँगी। हमारे स्टूडियो के सहायक कैमरामैन की यह जगह खाली थी, अतः थोड़े दिन के लिए आगई थी।"

"केवल दो महीने ? पर जब तक आप यहां हैं, कृपया बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण न पहना करें।'

"क्यों जी ?"

'मेरा मतलब यह था कि विनोबा कहते हैं···विनोबा अर्थात् हमारे वह आचार्य विनोबा भावे—राष्ट्रपति, प्रधान मंत्री तक उनकी बात मानते हैं। हां, तो विनोबा जी का कथन है कि मानव को सीधा-सादा रहना चाहिए।"

"पर क्या आपका अभिप्राय यह है कि मैं उसकी तरह लंगोट बांध कर रहने लगूं ?" अनुराधा हंसती हुई बोली।

"नहीं, केवल लंगोट नहीं पहनना है···और यदि आपने लंगोट पहनना शुरू कर दिया, तो इस इमारत में भारी अनर्थ हो जायगा। हमारी पत्नियां हमें कमरों से भी न निकलने देंगी।"

"फिर आपके शिष्टमंडल का क्या निवेदन है ?"

चंदू बोला, "मेरा कहना सिर्फ यह है कि आप 'सरल जीवन और उच्च विचार' के सिद्धान्त का अनुगमन करें।"

"पर मैं तो 'सरल विचार, उच्च जीवन' का सिद्धान्त मानने का प्रयत्न करती हूं।"

अपना एक प्रयत्न असफल होते देख चंदू ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया और बोला, "फिर यह भी भय है कि कहीं आपकी मूल्यवान वस्तुओं की यहाँ चोरी न हो जाय ! वह भी तो हम लोगों का उत्तरदायित्व है न ?"

"हां, है भी और नहीं भी है।"

"अच्छा तो आपको शायद अभी भी विश्वास नहीं है ? जब चोरी होने

लगेगी, तभी आपको समझ आएगी।" यह कहते-कहते चंदू के मन में एक विचार कौंध गया। इस सुन्दरी के मन पर चोरी का आतंक बिठाने के लिए यदि मैं स्वयं ही इसकी कुछ वस्तुएं उड़ा दूं तो !

"पर ऐसी मूल्यवान वस्तुएं मेरे पास हैं ही कहाँ ?" अनुराधा ने कहा।

"सो क्यों ? आपके गले का हार है। वह दिल्ली की बनी स्पेशल रेशमी साड़ी है। और भी···और भी इसी तरह की वस्तुएं होंगी। पर ज़रा मुझे अपनी वह साड़ी और हार दिखा सकेंगी क्या ?"

"किसलिए ?"

"कुछ बिशेष कारण नहीं; बस यों समझ लीजिए कि यदि कल को इन वस्तुओं की चोरी हो जाय और फिर वह चोरी पकड़ी जाय और फिर पुलिस पड़ौसी होने के नाते मुझे शनाख्त करने के लिए बुलाए; अतः पहले से ही देख लेना चाहिए।"

"भई, मुझे तो तुम्हारी बातें कुछ अजीब लगती हैं। फिर भी यदि आप देखना चाहते हैं, तो···" यह कहकर अनुराधा ने अल्मारी से हार और साड़ी निकाल कर दिखाए।

"इनकी क्या कीमत होगी ?" चंदू ने मुख्य विषय की ओर मुड़ते हुए पूछा।

"साड़ी तो मैंने एक सौ अस्सी रुपये की खरीदी थी और हार मुझे डायरैक्टर दास ने भेंट में दिया था, पता नहीं उसका क्या मूल्य है !" अनुराधा बोली।

इस तरह चंदू के लिए यह प्रश्न और अधिक जटिल बन गया। वैसा हार लाना बड़ा कठिन था। यदि कहता कि वैसी साड़ी ला देगा, तो अड़चन यह थी कि बम्बई में वैसी साड़ी मिलनी ही कठिन थी। यद्यपि एक सौ अस्सी रुपये की रकम भी ज्यादा थी, पर रंभा के रोष को दूर करने के लिए वह उतनी बड़ी रकम खर्च करने को भी तैयार था।

अन्त में अनुराधा से विदा ले वह घर आया, अर्थात् बगल के कमरे में लौटा, तो रंभा ने उत्सुकता से पूछा, "क्यों, देख आए साड़ी और हार ? कितना मूल्य है उनका ? कब लाओगे मेरे लिए ?"

इस पर गंभीर चेहरा करते हुए चंदू बोला, "अनुराधा कहती थी कि सद्-गृहिणियों को ऐसी वस्तुएं न पहननी चाहिएं।"

"फिर वह क्यों पहनती है ?" रंभा के इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन था।

"और वह यह भी कह रही थी कि दिल्ली में तो वह साड़ी आठ-दस रुपये में मिलती है। और हार भी डेढ़-दो रुपये का होगा।"

"अच्छा ? तब तो मैं तुम्हें अभी दस-बारह रुपये लाए देती हूँ। उसी से खरीद लो।"

"छः छिः, किसी और की उतरन पहननी चाहिए क्या ?"

"मैं तुम्हारा एक बहाना नहीं सुनने की। यदि तुम वैसा हार और साड़ी नहीं लाए, तो मां के यहां चली जाऊँगी।"

अब तो चंदू वस्तुतः घबरा गया। "मैं तुम्हें जीवन-भर नहीं छोडूंगी" का बचन देने वाली रंभा मां के यहाँ चली जाय, यह विचार तक उसे असह्य था। उसी समय उसने निर्णय किया कि कुछ भी हो, वह अनुराधा के घर चोरी करेगा और उसका वह हार और साड़ी चुराएगा — अर्थात् अनुराधा के लौटने पर स्टेशन जाकर वे दोनों वस्तुएं याद करके लौटा आएगा। पर आप पूछेंगे फिर इस चोरी का प्रयोजन क्या था ? प्रयोजन यह था कि अनुराधा की उन वस्तुओं की चोरी के बाद रंभा वैसी चीज़ों के प्रयोग का हठ नहीं करेगी क्योंकि उससे चोरी का माल खरीदने और चोरी को प्रोत्साहन देने का आरोप लगने का भय था।

अगले दिन ही शूटिंग के लिए अनुराधा को रात-भर स्टूडियो में रहना होगा, यह सूचना पा चंदू बड़ा खुश हुआ। उसे विश्वास होगया कि अब चोरी करने का सुअवसर मिल गया। वस्तुतः उसने पहले कभी चोरी नहीं की थी। काम से उसने एकाध बार जी अवश्य चुराया था, पर जिसे न्यायालय में चोरी कहते हैं, उसका उसे अनुभव न था। सभ्य (समझे जाने वाले) व्यक्ति को चोरी करनी चाहिए या नहीं, यह प्रश्न ही उसके सम्मुख न था, क्योंकि उसके जीवन की सुख-शांति उस चोरी पर ही अबलम्बित थी। आज उसका चौर्य-कर्म सफल होगा या नहीं, इसके लिए उसने उस दिन के अखबार में छपा अपना राशि-फल देखा। परन्तु मित्र से भेंट, घर-खर्च बढ़ेगा, अनपेक्षित प्रसंग, अंगूठे की चोट यही बातें उसमें मिलीं। उनमें से पहली बात तो सदा ही सत्य प्रमाणित होती थी। पर अंगूठे की चोट क्यों लगेगी, यह उसकी समझ में न आया।

चोरी करने के लिए उसे अनुराधा के कमरे के ताले की दूसरी कुंजी बनवानी पड़ी, पर वह खर्च चंद्रहार तथा साड़ी के खर्च से कम ही था। रात को पुनः एक बार उसने रंभा का मन बदलने की चेष्टा की। वह बोला, "देखो, यदि मैंने तुम्हारे लिए चंद्रहार और साड़ी खरीदे भी और फिर वे चोरी चले गये—"

"देखो जी, मैंने कह दिया, मैं तुम्हारी एक न सुनूंगी। मुझे हार और साड़ी लाकर दीजिए फिर देखूं कैसे चोरी होती है।" रंभा ठमकते हुए बोली और चंदू को यह विषय वहीं छोड़ देना पड़ा। रात के दो बजे तक वह जगता रहा। दो-ढाई बजे के लगभग उठा। अनुराधा के कमरे की वनावटी कुंजी ली और धीमे से

अपने कमरे के बाहर निकल गया। अंधेरे में टटोलते-टटोलते उसने अनुराधा के कमरे के ताले पर हाथ लगाया पर यह क्या ! कमरे में ताला लगा ही नहीं था ! शायद अनुराधा लौट आई है, यह सोच वह क्षण-भर रुका। तभी उसके पैर में ज़मीन पर पड़े ताले की ठोकर लगी। उसने उसे उठाकर देखा, वह टूटा हुआ था। अब उसे शंका हुई कि सचमुच कोई चोर अनुराधा के घर में घुसा हुआ है। उसने खिड़की की किवाड़ों की दरार में से झांका। कोई व्यक्ति टॉर्च के प्रकाश में कुछ ढूंढ रहा था।

अनुराधा के यहाँ चोरी हो रही है, यह देख चंदू को बड़ा आनन्द हुआ। अब वह परमेश्वर से प्रार्थना करने लगा कि वह चोर चाहे कुछ और ले या न ले, पर चंद्रहार और साड़ी अवश्य ले जाय। इनके चुराये जाने पर एक तो वह स्वयं चोरी के कलंक से बच जाता, दूसरे उसका हेतु भी पूरा हो जाता। एक बार तो उसके मन में आया कि खिड़की में से चिल्लाकर चोर से कह भी दे "मिस्टर चोर, उस अलमारी में से चंद्रहार और साड़ी ले लो। प्लीज़, जरूर ले जाओ।"

चोर को अपने शुभ कार्य में सफलता मिले, यह प्रार्थना करते हुए चंदू गैलरी में खड़ा रहा और उधर चोर ने अपना काम खत्म किया। उसने इकट्ठी की हुई वस्तुओं की गठरी बांधी और चलता बना। तुरन्त चंदू भी अपने कमरे में लौट आया और दयालु परमेश्वर का आभार मानता हुआ सो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही उस इमारत में गड़बड़ और शोरगुल हुआ। सिने-तारिका मिस अनुराधा के कमरे में चोरी होने की बात सुनते ही सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। एकमात्र चंदू ही अपवाद था। पर उसने भी आश्चर्यभाव दिखाने का भरसक प्रयत्न किया। पड़ौसी के नाते वह अनुराधा के पास गया भी और बड़ी सहानुभूति के साथ पूछते हुए अधीरता से प्रश्न किया, "क्या वह चंद्रहार और दिल्ली की साड़ी भी चोरी चले गए ?"

"हां, सभी मूल्यवान वस्तुएं गईं।" अनुराधा ने रुदन-भरे स्वर में कहा। पर यह सुनकर चंदू को आनन्द क्यों हुआ, यह वह न जान सकी।

चंदू बोला, "देखा ? मैंने आपसे पहले ही कहा था न कि सावधानी से रहना।"

"आपका कहना ठीक है, अब तो मैं इस जगह बिल्कुल नहीं रहूंगी। नहीं तो किसी होटल में ही चली जाऊँगी।"

"अरेरे, आपका कितना बड़ा सहारा था हम लोगों को। पर ईश्वरीय इच्छा !" चंदू नक्राश्रु बहाते हुए बोला।

अनुराधा से विदा हो चंदू जब अपने कमरे में आया तो उसका हर्ष समा नहीं रहा था। नए जीवन की एक बड़ी भारी समस्या उस चोरी के कारण हल हो

गई, यह देख उसे बड़ा संतोष हुआ। पर दिखाने को बोला, "रंभा, अब मैं तुम्हारे लिए हार और दिल्ली की साड़ी लाने वाला हूं। पर उन्हें सावधानी से रखना।"

"मुझे ? छिः छिः मुझे नहीं चाहिए ! अरे तुम्हें यह भी नहीं सूझता ? यदि मैंने वैसा हार और साड़ी पहनी, तो लोग यह नहीं कहेंगे कि यह चोरी का माल है ! अब लाओगे, तो भी नहीं पहनूंगी। और सुन लो, अब उस नटी के पास किसी बहाने नहीं जाने दूंगी वर्ना वही बात हो जायगी कि 'हार मिला और पति हाथ से गया' रंभा ने चंदू से विनती की और चंदू ने उसे तुरन्त स्वीकार कर लिया।

पांडूतात्या की निर्जली एकादशी

श्री कृष्ण कोल्हटकर

मराठी साहित्य के विनोदाचार्य नाम से प्रसिद्ध श्री कृष्ण कोल्हटकर ने सामाजिक सुधार के उद्देश्य से विनोद का प्रयोग किया है। आपने नाटक तथा स्वतंत्र लेखों में विनोद द्वारा जहां एक ओर दर्शक-पाठक वर्ग को हँसाया वहां दूसरी ओर पुरातन-पंथियों की अंध रूढ़ि तथा परम्परागत विश्वासों पर कटु प्रहार कर अज्ञान में ग्रस्त जनता को जाग्रत किया। उनके १९०२ ई० से १९२२ ई० तक के विनोदपूर्ण लेखों का संग्रह 'सुदाम्याचे पोहे' नाम से प्रकाशित हुआ जिसका सुदामा नामक सनातनी व्यक्ति तथा उसके मित्र पांडूतात्या और बंडू मराठी के अमर पात्र हैं तथा इस त्रिकूट के भोले-भाले, सनकी एवं वावलेपन से भरे कृत्यों द्वारा हास्य का कल्लोल उत्पन्न किया गया है। श्लेष, यमक, अतिशयोक्ति, विरोधाभास उनके प्रमुख अस्त्र हैं। पर उनके विनोद में काव्य-कल्पना तथा जीवन के विविध अनुभव भी हैं जिनसे वह अत्यन्त आकर्षक हो उठा है। उनके विनोद में यदि कोई दोष है तो वह है भाषा की क्लिष्टता। पांडित्य-प्रदर्शन के लोभ में वह अपनी भाषा को उतना सहज, सुन्दर, लचीला एवं प्रमादपूर्ण नहीं बना पाये हैं जो विनोद-साहित्य के लिए आवश्यक है।

युवावस्था में तीव्र गति से प्रवाहित होने वाले रक्त की गति ज्यों ही मंद पड़ने लगती है, शरीर की अन्य क्रियाओं के समान जठराग्नि की क्रिया भी शिथिल होने लगती है और प्याज सरीखे बादी करने वाले पदार्थ अपने आप छूट जाते हैं। चतुर्मास का व्रत रखने की इच्छा स्वतः होने लगती है और एक वक्त भोजन करना सहज प्रतीत होने लगता है। जवानी में दृढ़दांतों के होते हुए भी जल्दी-जल्दी सटकने वाला व्यक्ति बुढ़ापे में हिलते दांतों को भी चबा-चबा कर खाने की सख्त सज़ा देता है। तरुणावस्था में बीमारी के अतिरिक्त साबूदाने तथा सोंठ की सुध भी न लेने वाले व्यक्ति को वृद्धावस्था में स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये उन्हीं का आश्रय लेना पड़ता है।

जैसे-जैसे मुक्त जीवन के दिन बढ़ते तथा भोग्य जीवन के कम होते जाते हैं, तैसे-तैसे धर्म के प्रति श्रद्धा भी बढ़ती जाती है। तरुणावस्था में विषयोपभोग अपने नवीन आकर्षण के कारण प्रिय लगते हैं और हम सोचते हैं कि धर्म-कर्म करने के लिये तो अभी बहुत दिन हैं। अतः उस उम्र में यदि मनुष्य नास्तिक न भी हुआ, तो भी वह धर्म के प्रति उदासीन रहता है। पर भोग के कारण विषयों के प्रति आसक्ति जैसे-जैसे कम होने लगती है और पकी उम्र का पुष्प कुम्हलाने लगता है, ईश्वर का स्मरण अधिकाधिक होने लगता है। 'अब तक हमने परलोक की उपेक्षा ही की है, पर चूंकि उसका अस्तित्व है अवश्य, अतः आज तक के आचरण के कारण या तो हमें नरक में ढकेला जायगा अथवा गर्म कढ़ाई में उबाला जायगा। देवता को अर्पित यदि एक फूल द्वारा नरक की दुर्गन्ध और उस पर छिड़के चंदन के छींटों से कढ़ाई की उष्णता से बचा जा सकता है, तो केवल आलस्य के कारण उस कार्य को टालने से क्या लाभ?' इस प्रकार के विचार बार-बार आने लगते हैं। और एक बार आने के बाद ये विचार सदा के लिये हमें जकड़ लेते हैं। जवानी में हमारा आचरण जितना ही उच्छृंखलतापूर्ण होता है, उतनी ही तीव्रता इन विचारों में होती है। भर-जवानी में जो गाली के सिवाय भगवान का नाम भी न लेता था, वही नास्तिक राम नाम सत्य होने का समय निकट जानकर उठते-बैठते राम नाम जपने लगता है, धर्म का मज़ाक उड़ानेवाला ही, उसका सबसे बड़ा समर्थक नेता बन जाता है, और तो और, मूर्तिपूजा का तीव्र विरोधी भी स्वयं सगुण उपासना की मूर्ति बन सब समय देवपूजा में निमग्न दिखाई देने लगता है। देवाज्ञा आने के समय से पूर्व ही देवता की काल्पनिक छाया मनुष्य के हृदय पर छा जाती है।

उतरती आयु में खाने-पीने के प्रति अनासक्ति और देवधर्म के ऊपर अधिकाधिक श्रद्धा होने के कारण ही कदाचित् चातुर्मास्य, एकादशी, शिवरात्रि सरीखे व्रत उत्पन्न हुए हैं। चातुर्मास्य में केवल प्याज आदि वे पदार्थ निषिद्ध माने गए हैं जो गरिष्ठ होते हैं। परन्तु एकादशी, शिवरात्रि सरीखे व्रत के दिनों में अन्नसेवन का ही नहीं अपितु व्रत को अत्यन्त कठोर बनाने के लिये जल-सेवन का भी निषेध किया गया है। पर धीरे-धीरे ये व्रत बूढ़ों के साथ-साथ जवान पट्ठों के गले भी मढ़ गए, अतः उनका मूल उद्देश्य लुप्त हो गया। कंद तथा फूलों के आहार को निराहार तथा हल्दी से पीले बने माल और मखानों की खीर को फलाहार कहा जाने लगा। अब निराहार और फलाहार इन शब्दों का अर्थ बदल जाने से उनकी विसंगति ही समाप्त हो गई। वृद्धों के उपवास तरुणों द्वारा अपना लिये जाने के बाद उन्होंने उनमें अपनी आयु के अनुरूप अनेक परिवर्तन कर डाले। पहले जो बंधन थे, वे ही अब सुविधा बन गए। पहिले व्रत रखने वाले व्यक्ति को एकाध फल खाते हुए भी लज्जा आती थी, पर अब केलों की केरी की केरी

खुल्लमखुल्ला खा डाली जाती है। रतालू, आलू, अमरूद इत्यादि फल बड़े तीव्र वेग से उदरस्थ होने लगे हैं। उन्हें खाते समय चबाने या चूसने का शिष्टाचार तो कम से कम करना पड़ता है परन्तु दूध, साबूदाने की खीर में यह कष्ट भी नहीं करना पड़ता। अतः उसके कटोरे के कटोरे क्षण भर में उड़ जाते हैं। कटोरों का आकार गले के आकार से बड़ा होता है। अतः लाचार हैं, अन्यथा हमारे उदार-हृदय नवयुवकों ने उन्हें भी उदरस्थ करने में संकोच न किया होता। पहिले वृद्ध उपवास के दिन जिन पदार्थों को शत्रुवत् समझते थे, उनको उनके तरुण वंशज शत्रु समझकर ही नहीं रह जाते, क्षण भर में ही उनका संहार कर डालते हैं। नये-नये भोजन खाने के लिए उत्सुक जिह्वा की दोहदेच्छा पूर्ण करने के लिये प्रत्येक उपवास के समय नये-नये व्यंजन बनाए जाते हैं। समा के चावल, मूंगफली के दानों की आमटी, रतालुओं का भुर्ता और सिंगाड़ी के आटे की रोटी से तो प्राचीन लोग भी परिचित थे। परन्तु साबूदाने की खिचड़ी, सिंगाड़ी व साबूदाने का हलुवा, आलू व कच्चे केले की पूरियां, आलू व सिंगाड़े की पकौड़ी, साबूदाने के पापड़, कचरी, चिवड़ा, रतालु की टिकिया, श्रीखंड और गोले की बर्फी, बेसन का हलवा, मूंगफली, सिंगाड़ी की पिट्ठी, बेसन व साबूदाने के लड्डू, तवाशीर (अरारोट की तरह का पदार्थ) व सिंगाड़े की जलेबियां, शकरकंद की फैनी आदि नये-नये चोंचलों की सन्तान हैं। जिस प्रकार पंच महाभूतों से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार बेसन, साबूदाने, सिंगाड़े, शकरकंद, मूंगफली के दानों व आलू सरीखे गिने-चुने पदार्थों से फलाहार के नाना प्रकार के व्यंजन तैयार होने लगे हैं। इधर तो उपवास के दिन वृद्धा स्त्रियां भी चाय काफी के बिना नहीं रह पाती हैं। ये पेय विदेशी हैं, इस आक्षेप की भी वे चिन्ता नहीं करतीं क्योंकि आलू भी तो विदेश की देन है और उसे फलाहार में प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है। इसके अतिरिक्त उन पेयों को पवित्र बनाने के लिये उनमें गोमाता के रक्त से बना दूध डाला जाता है तथा उन्हें शुद्ध बनाने के हेतु अस्थि-चूर्ण से परिष्कृत परदेशी चीनी का प्रयोग किया जाता है। अतः उसमें आक्षेप के लिए कुछ नहीं रहता। पहले मुख-शुद्धि के लिये सुपारी से काम चल जाता था, पर अब लौंग, इलायची की आवश्यकता पड़ती है। पहले शिवरात्रि के दिन शंभु को अत्यन्त प्रिय भंग केवल प्रसादमें ग्रहण की जाती थी, पर जब से उपवास, व्रत तरुणों ने करने आरम्भ कर दिये हैं, तब से भंग पीना उपवास का प्रमुख अंग बन गया है और भंग घोटने में उनके प्रहर पर प्रहर खर्च हो जाते हैं। भंग पीकर लाल लाल नेत्रों को वृत्ताकार घुमाता हुआ धर्माभिमानी तरुणों का समूह प्राचीन प्रथा के अनुसार जब शंकर भगवान के दर्शन के हेतु विभिन्न मंदिरों में जाता है और भक्ति-भावना से ओत-प्रोत तरुणी भक्तिनों को देखकर जगह-जगह रुक जाता है, तब वे तरुण बालाएं भयभीत हो 'जटा नेयं वेणी' भी कहना भूल जाती हैं।

शिवरात्रि को पी जानेवाली भांग एकादशी के दिन पीने के लिये कट्टर वैष्णव भी शिवभक्त बन जाता है। पहले रात-भर ईश्वर का नाम कीर्तन हो सके, अतः रात्रि-जागरण की प्रथा थी और यदि एकाध बार मनोरंजन के हेतु कोई खेल खेला भी जाता था तो वह मोक्ष इत्यादि का नाटक हुआ करता था, परन्तु आज-कल उस जागरण के हेतु चौपड़ खेलते-खेलते मारपीट होने लगती है अथवा ताश खेलते-खेलते राजा-रानी का विवाह कराने में सहायता मिलती है। सारांश यह कि जिस प्रकार छोटे बच्चे जिस आतुरता से फाल्गुन मास की प्रतीक्षा करते हैं, उसी आतुरता के साथ तरुण धर्माभिमानी उपवास का इंतज़ार करते रहते हैं।

मेरी, बंडूनाना और पांडुतात्या की मित्रता बचपन में भी उतनी ही घनिष्ट थी जितनी बड़े होकर। हम तीनों के पिता बड़े धर्म-निष्ठ थे। उन्होंने जनेऊ से पूर्व ही हमें संध्योपासना, पुरुषसूक्त, सूर्य, पवन, रुद्र-पूजा, वैश्वदेव आदि के मंत्रों का अभ्यास करा दिया था। मेरी अक्ल तनिक मोटी थी, अतः जब तक मेरी चुटिया पकड़ कर हिलायी नहीं जाती थी, तब तक उसमें स्फूर्ति नहीं आती थी। पांडूतात्या की अक्ल मुझसे मोटी तो थी ही, साथ ही उन्हें नींद भी बहुत आती थी। हमारा मंत्र-अभ्यास ब्राह्म-मुहूर्त में होता था। और वही समय पांडूतात्या का मीठी-मीठी झपकियां लेने का होता था। अतः बिना चुटिया खींचे भी उसका सिर बार-बार नीचे की ओर झुकता रहता था। पर यह देखकर कि उनके मुख से मंत्रोच्चारण नहीं हो रहा है, हमें चुटिया जोर से खींचनी पड़ती थी। पर इस अभ्यास का प्रभाव मस्तिष्क पर कुछ नहीं होता था। इस अत्याचार के कारण जो थोड़े-बहुत शब्द हमारे मस्तिष्क में न चाहते हुए भी प्रविष्ट हो जाते, वे अभ्यास समाप्त होते ही हमारी आज्ञा की प्रतीक्षा किए बिना अपने-आप बाहर निकल जाते। याद किए हुए मंत्र अब भी हमारे जिह्वाग्र पर हैं, यह दिखाने के लिये हम स्नान के बाद भी बहुत देर तक बड़बड़ाते रहते और वह बड़बड़ाहट सच्ची प्रतीत हो, अतः आचमन, मार्जन, चुटकी बजाना, ताली बजाना आदि करने में भी कोई गल्ती नहीं करते थे। इस कवायद का भले ही हमारे धार्मिक शिक्षण और संयम पर कोई प्रभाव न पड़ा हो, तथापि उससे एक लाभ अवश्य हुआ। हमारे पिताओं के मन में हमारे दुराचरण के सम्बन्ध में जो अनेक संशय उत्पन्न हो गए थे, उसकी सेना को भागना पड़ गया। इस जबर्दस्ती की पूजा का परिणाम यह हुआ कि हमारी प्रवृत्ति ऐसे धर्म-विरुद्ध आचरण की ओर हो गई जिसे हमारे पिता बिलकुल भी पसंद नहीं करते थे। उनका ध्यान छुआछूत पर बहुत रहता। पूजा के रेशमी वस्त्र पहने हुए, जब तक उनकी दृष्टि हम पर रहती तब तक सूत पर भी पैर न पड़े, इसलिए कूद-फांदकर चलते पर उनकी पीठ फिरते ही बैठक में ऊधम मचाते, रसोईघर में सब चीज़ों को छूते और सारे घर की वस्तुओं को छूकर अपवित्र बना डालते। संध्या करते समय जब तक बड़ों

की दृष्टि हम पर रहती, तब तक हम अपने चेहरे यथाशक्य गंभीर बनाये रहते पर ज्यों ही वे जप के लिए नेत्र मूंदते, हम अपने छोटे भाई-बहिनों को मुंह बिचकाते। जब तक थाली परोसी जाती, तब तक उसकी ओर न देखकर शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देखते हुए तन्द्रिल अवस्था में बैठे रहते, पर पिता के नेत्र नैवेद्य-अर्पण के निमित्त ज्योंही बंद होते, त्योंही हम या तो दूसरे की थाली के व्यंजन अथवा अपनी ही थाली का भोजन मुंह में डालने लगते। हमारे पिता को प्याज से सख्त अरुचि थी, अतः उन्होंने घर में कह रखा था कि प्याज की कोई चीज़ न बने। परन्तु हममें से प्रत्येक, प्रति दो-चार महीने बाद जब कभी पिता बाहर जाते, मौका देखकर अपनी मां के पीछे पड़कर उससे प्याज की नमकीन रोटी, सब्जी अथवा पकौड़ी बनवा लेते और घर में प्याज की तनिक भी दुर्गन्ध न रहे, इसके लिए चारों ओर अगरबत्ती जलाते, मुंह से दुर्गन्ध न आए अतः इलायची खाते और पिता के आने के समय के लगभग पुस्तक पढ़ने बैठ जाते। संध्या समय लौटने पर घर-भर में सुगन्धि पाकर वे समझते कि उनके सुपुत्रों ने दिन भर देवपूजा की होगी। अतः हमारी धर्मभावना की प्रशंसा करते। उनके निकट मुख ले जाने पर मुख की वास से हमारा पाप प्रकट हो जाएगा, इस भय से बच्चे उनके पास न जाकर अदब के साथ दूर ही खड़े रहते जिस पर उन्हें बड़ा सन्तोष होता।

एकादशी अथवा शिवरात्रि के दिन हमारे घर में तीन प्रकार का भोजन बनता—छोटे बच्चों के लिए प्रतिदिन का सीधा-साधा भोजन, रोगियों के लिए धान्य, फलाहार और अन्यों के लिए फलाहार। हम तीनों पंक्तियों में बैठकर तीनों प्रकार के भोजन पर यथाशक्ति हाथ साफ करते। हमारे पिता न तो अन्न का कण खाते न जल की बूंद ही उनके गले से उतरती। उनका उपवास अत्यन्त कठोर होता। उनके निकट जाने तक की सुविधा न होती, क्योंकि उन दिन उनका पित्त भड़का हुआ होता और वे क्रोध प्रकट करने के लिए अवसर खोजते रहते। ऐसी स्थिति में उनके निकट जाना भूखे सिंह की गुफा में जाने के समान होता था। एक बार एकादशी के दिन मैं पिताजी के पास गया और अनायास ही मुझे डकार आ गई। अपने पेट में चूहे दौड़ रहे हैं और पट्ठा मजे में डकार ले रहा है, यह देखकर उन्हें इतना क्रोध आया कि उन्होंने क्रोधावेश में हाथ का पंचपात्र ही मुझ पर फेंक मारा। वह तो कहिए जरा सा चूक गया, यदि कहीं वह मेरे सिर से जा टकराता, तो उसी दिन मेरी कपाल-क्रिया हो गई होती और एकादशी के दिन के मरने के कारण इच्छा के विरुद्ध उसी दिन मुझे बैकुंठ जाना पड़ता। और जिस समय मेरे ऊपर यह गुजरी, उसी समय पांडुतात्या के घर उस पर भी वैसी ही आपत्ति आई। तात्या के पिता पूजा पर बैठे हुए थे, उपवास-जन्य क्षीणता के कारण भरसक प्रयत्न करने पर भी कपूर की डिबिया उनसे नहीं खुल पाई। दांतों से खोलने की चेष्टा की, डिबिया को ज़मीन पर पटक-पटक कर खोला, पर वह खुली नहीं। यह देखकर

तात्या को हँसी आ गई। बस फिर क्या था, तात्या के पिता की क्रोधाग्नि भड़क उठी। उन्होंने वह डिबिया तात्या के सिर पर दे मारी जिससे उसका ढक्कन खुल गया और कपूर चारों ओर बिखर गया। इतना ही नहीं, तात्या के सिर से टकराने के कारण वह डिबिया पिचक भी गई। तब से उसके पिता ने सोचा कि इस प्रकार क्रोधावेश में घर की चीजें फेंकने से या तो वे फूट जाती हैं अथवा खराब हो जाती है। अतः तब से उन्होंने घर की चीज़ों पर क्रोध उतारना छोड़ दिया। क्रोधावेश में यदि कभी उन्होंने कोई चीज़ फेंक कर मारी भी, तो वह पड़ौसी के घर से मांग कर लाई हुई होती थी। सुविचार से क्रोध में बाधा पड़ती है तो इसी प्रकार।

उस एकादशी के बाद आनेवाली प्रत्येक एकादशी का मुझे स्मरण हो रहा है। उसकी स्मृति होते ही कंठ गद्‌गद्‌ हो जाता है, शरीर रोमांचित हो उठता है और यह सोचकर कि उस दिन मैं बैकुंठ-सुख के कितना निकट पहुंच गया था, नेत्रों में अश्रु डबडबा आते हैं।

बंडूनाना के पिता भी क्रोधी स्वभाव के थे। पर उनका क्रोध कुछ भिन्न प्रकार का था। वह क्रोधावेश में स्वयं को ही त्रास देते थे। किसी से झगड़ा होने पर वह खाना-पीना छोड़ देते और अपना सिर पीटने लगते थे। क्रोध की अवस्था में उन्हें सजीव-निर्जीव का भी ज्ञान न रहता। एक उपवास के दिन जीना उतरते समय शारीरिक क्षीणता के कारण उन्हें चक्कर आ गया और वह गिर पड़े। इस पर उन्हें सीढ़ियों पर इतना क्रोध आया कि वे आठ-दस बार उन पर चढ़े और उतनी ही बार गिर पड़े। प्रति बार गिरते समय वह जीने को सम्बोधन करते, "देखूं, तू मुझे कितनी बार गिराता है।" इस उच्छृंखल व्यवहार से जीने को कितनी क्षति पहुंची, यह तो बताना कठिन है। पर हां, नाना के पिता की हड्डियों का कचूमर निकल जाने से उन्हें एक मास तक खाट पर सिकते रहना पड़ा।

हम तीनों के पिता जिस दिन निर्जली एकादशी का व्रत रखते, उस दिन उनके घर के सब लोगों का मुख सफेद पड़ जाता। उन तीनों को उस एकादशी का भले ही कुछ पुण्य मिलता हो, पर घर के लोगों के तो मानों पिछले जन्म के सम्पूर्ण पाप उदय हो जाते थे और यह दारुण स्थिति अगले दिन द्वादशी में व्रत-मोचन की घड़ी तक बनी रहती थी। पेट में पूरी और खीर पहुंचते ही उन्हें अपने विगत क्रोध के कारण पश्चाताप होता। मधुर शब्दों से भी अधिक मधुर खाद्यान्न में क्रोध को उपशमित करने की शक्ति होती है, इसका दूसरा अधिक सशक्त प्रमाण क्या हो सकता है। उनका यह पश्चाताप अगली एकादशी तक टिका रहता (यदि बीच में कोई उपवास न पड़ता तो।)

इस प्रकार बचपन में निर्जली एकादशी का भय हमारे मन में इतना समा गया था कि यदि हमने बड़े होकर उसका नाम भी न लिया, तो इसमें आश्चर्य

क्या। एकादशी का त्याज्य अंग छोड़कर उसकी शेष सभी बातों का हम बड़ी श्रद्धा के साथ पालन करते। मुझे मीठे व्यंजन तथा बंडूनाना को नमक-मिर्च की चीजें अत्यन्त प्रिय थीं। मुझे लपसी खाकर तथा उसे मूंगफली की आमटी पीने के बाद सहज ही समझ में आ जाता था कि एकादशी का बैकुंठ-सुख से कितना निकट का सम्बन्ध है। वस्तुत: हमारे धर्म में ऐसे मधुर व्रत हैं, इसीलिए भक्त उसका पालन बड़ी श्रद्धा से करते हैं। साबूदाने की बजाय कुनैन की लपसी का अथवा गोले और मूंगफली की बजाय यदि चिरायते की आमटी का विधान आदि शंकराचार्य ने किया होता तो निस्सन्देह अनेक भक्त बैकुंठ को लात मारने के लिये तैयार हो जाते। एकादशी, शिवरात्रि के व्रतों के समान ही मधुर व्रत सत्यनारायण का है। साधु बनिये के बन्दी होने तथा उसके जामाता के डूबने की कथा भले ही मैंने सैकड़ों बार सुनी हो, पर मैं उससे कभी ऊबा नहीं हूं। थोड़ा-सा प्रसाद पाने के लिये मैं साधु बनिये को अनेक बार बन्दीगृह में भेजने तथा उसके जामाता को जल-समाधि देने के लिए एक पैर पर खड़ा रहने के लिये प्रस्तुत हूं। गांव में कहीं भी सत्यानारायण की कथा होती, मैं पुरोहित जी के आने से पूर्व ही वहां जा बैठना तथा अंत में सबके चले जाने पर भी रुक जाता। सत्यानारायण पर मेरी इतनी अधिक भक्ति थी कि ताज़ा घी और केले से धर्मोक्त विधि से बने हुए प्रसाद को देखकर मेरा मन करता कि कितना खा जाऊं ? अन्य व्रतों से सत्यनारायण के व्रत में एक यह भी विशेषता है कि उसके लिये निमंत्रण की आवश्यकता नहीं होती और फिर एकादशी की तरह द्वादशी को भी इसमें स्वादिष्ट भोजन करने को मिलता है।

पांडूतात्या की रुचि हमारी तरह मर्यादित नहीं थी। खाद्य पदार्थ मीठा हो चाहे नमकीन, कच्चा हो चाहे भुना हुआ, खाद्य हो चाहे पेय, उसे उसके उदर में जगह न मिली हो, ऐसा कभी नहीं हुआ। प्रारम्भ में वह अपने भक्तिभाव की पूर्ति छिले हुए आलू, केले और शकरकंदी, भुनी हुई मूंगफली के दानों आदि कच्चे माल से करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी पत्नी सुग्रहिणी नहीं है। पाकशास्त्र में उसकी बराबरी करने वाली स्त्री तो गांव-भर में नहीं थी। पर पांडुतात्या उपवास के दिन प्रातःकाल से ही रसोईघर के चक्कर काटने लगते और कच्चे माल से पक्वान्न बनाने का अवसर ही उस बेचारी को नहीं देते, अतः वह क्या करती ? अंत में उसने एक तरकीब निकाली। सब तरह का कच्चा माल एक बड़ी डलिया में रखकर वह प्रातःकाल ही तात्या की बैठक में लाकर रख देतीं। तात्या वैसे ही आलसी थे। अत: ऐसा होने पर जनाब फलाहार बनने तक रसोई की ओर झांकते तक नहीं। प्रतिदिन आठ बजे उठने वाले पांडूतात्या उपवास के दिन प्रातःकाल पांच बजे ही उठकर तैयार हो जाते। स्पष्ट है कि उस दिन के नैमित्तिक कर्मों के प्रति उनकी अपार श्रद्धा थी। उनका स्वभाव कितना संतोषी था, इसका

अनुमान इसी बात से लग सकता है कि कच्चे माल की डलिया में से वह गड़ेरियां, मूंगफली आदि पदार्थ उनके छिल्कों सहित नहीं खाते थे। भोजन में इतना संयम और नियंत्रण रखने के कारण फलाहार के समय यदि उन्हें तीव्र भूख सताने लगे, तो इसमें आश्चर्य क्या। उनकी कुशल पत्नी आलू, सिंगाड़े आदि साधारण चीज़ों से जो स्वादिष्ट व्यंजन तैयार करतीं, उनमें से किसी एक का भी अनादर तात्या ने कभी नहीं किया। उन्हें कभी इतनी फुरसत नहीं मिली कि प्रत्येक व्यंजन का अलग-अलग स्वाद लेने के लिये वह इतमीनान से फलाहार करें। चावल, आमटी, पकौड़ी, हलुआ, लड्डू, मिर्च, चटनी, दही, दूध इन सब का एक ही गस्सा कर वे सबको एक साथ मुक्ति दे देते। पेट में जाकर तो वे सब पदार्थ एक हो ही जाते हैं, अतः पहिले से ही यदि उन्हें एक कर दिया जाय तो इसमें कोई बुराई नहीं, यह उनका विचार था। उनके फलाहार करते समय यदि मैं उनके पास बैठा होता, तो उनका खाना देखकर ही मेरी तृप्ति हो जाती और मुझे डकार आने लगतीं। फलाहार के समय तात्या का ध्यान केवल अपनी थाली की ओर ही हो, ऐसी बात नहीं थी। उनमें पेटूपन की गंध तक नहीं थी। उनके पास ही जब उनके बच्चे दाल-भात खाते होते, तो उनकी थाली पर भी पिता का लक्ष्य होता। और उनके हृदय में वात्सल्य-भाव इतना उमड़ता कि वे चावल के दानों तथा रोटी के कणों से सने बच्चों के मुख का चुम्बन बड़े प्रेम से लेते, भले ही कुछ कुत्सित वृत्ति के लोग कहें कि वह यह सारा ढकोसला केवल भात व रोटी का स्वाद लेने के लिये ही करते थे। इस बात का खंडन तो इसी से हो जाता कि तात्या के पेट में उस समय चावल के एक दाने की भी जगह नहीं होती थी। हमारे पिताओं की उपवास के कारण जो प्राणांतक अवस्था हो जाती थी, पांडुतात्या की फलाहार के कारण हो जाती थी। उनके पेट में भी थी दर्द होने लगता। यह निश्चय है कि वह एकादशी अथवा शिवरात्रि सरीखे उपवास के दिन ही मरेंगे, अतः इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उन्हें बैकुंठ अथवा कैलाश की प्राप्ति होगी। इतनी निष्ठा से परलोक-साधन करने वाला कदाचित् ही कोई दूसरा सत्पुरुष होगा। तात्या फलाहार तो अवश्य बहुत-सा खा जाते हैं, परन्तु (रुढ़ अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में) उनका उद्देश्य निर्जल उपवास का होने के कारण वह एक बूंद भी पानी का सेवन नहीं करते। पानी पीने का मोह ही न हो, अतः वे अपने पेट को इतना ठूंसठास कर भर लेते हैं कि उसमें पानी की बूंद की जगह नहीं रहती। और तो और, फलाहार के उपरान्त हाजमे के लिए जो चूर्ण वह लेते हैं, वह भी कठिनाई से ही गले से उतरता है। पर उस चूर्ण का यह लाभ अवश्य होता है कि उनका पेट पुनः जल्दी ही खाली हो जाता है। उसके खाली होते ही कहीं पानी का घूंट पीने की इच्छा न होने लगे, अतः वह पेट के गढ़े को पुनः पहले की तरह खाद्यान्न से भरना शुरू कर देते हैं। दिन-भर उनका इसी तरह चलता रहता है। अगले दिन

उपवास तोड़ने की चहल-पहल दूसरे घरों में प्रातःकाल से ही आरम्भ हो जाती है, पर हमारे विरक्त तात्या जब तक प्रातः खाए हुए लड्डू पच नहीं जाते तब तक पारण के लिए तैयार रबड़ी-पूरी छूते तक नहीं। स्वयं उनकी पत्नी व्रत-समाप्ति के लिए अधीर हो जाती हैं क्योंकि पहले दिन तात्या द्वारा फलाहार का एक भी कण उनके लिए न छोड़े जाने के कारण तथा खाली पेट पानी न पीने का स्वयं उनका नियम होने के फलस्वरूप उन्हें निर्जल उपवास करना पड़ता था। इसीलिये वह आतुरता से प्रतीक्षा करती रहती थीं कि तात्या भोजन के लिये कब उठते हैं। इस प्रकार स्वयं को तथा अर्धांगिनी को निर्जल उपवास कराने वाले पुण्यशाली तात्या का अंतकाल जब उपवास के दिन पेट फूटने के कारण आ पहुंचेगा और उनको सदेह बैकुंठ ले जाने के लिये विमान उतरेगा, उस समय उनके विपुल शरीर को देखकर उनको सदेह बैकुंठ ले जाने का विष्णु-दूतों का विचार यदि न डगमगा जाय तो तात्या अपने मित्रों को भूल जायं यह संभव नहीं। यदि उनके विमान के एक कोने को मैं और दूसरे कोने को बंडूनाना पकड़-कर लटकते हुए उनके साथ जाने लगे, तो भी वह हमारा निषेध नहीं करेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

विवाह-युद्ध की पूर्व-तैयारी

राम गणेश गडकरी

कोल्हटकर के पट्ट शिष्य तथा उन्हीं की विनोद-परम्परा को आगे बढ़ाने वाले रा० ग० गडकरी कवि, नाटककार एवं विनोदी लेखक थे। इन तीनों ही क्षेत्रों में उनका कृतित्व अपने गुरू से अधिक महत्वपूर्ण था। विनोदकार के रूप में उनकी प्रतिभा कोल्हटकर की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण एवं कल्पनाप्रवण थी। उनके विनोद-सृष्टि के उपकरण थे—उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति और उद्देश्य था सामाजिक दोषों एवं कुरीतियों पर प्रहार। हास्यविनोद के लिए जिन दो विषयों को चुना, वे थे 'विवाह-पद्धति' तथा 'नकली कविता'। इनको उन्होंने क्रमशः 'रिकामपणाची कामगिरी' तथा 'कवीचा कारखाना' नामक लेखमाला में प्रतिपादित किया। शाब्दिक चमत्कार तथा अतिशयोक्ति का अतिरेक उनके हास्य के दो दोष हैं, तो व्यंग्य और विसंगति द्वारा उत्पन्न हास्य अत्यन्त सुन्दर है।

"वर खोजने से पूर्व कितना समारम्भ करना पड़े"···बालकराम

किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को करने से पूर्व क्या-क्या तैयारी करनी पड़ती है, इसका चटकदार वर्णन कवि ने ऊपर लिखी अर्धाली में किया है। परीक्षा में तीन घंटे में ही झट परीक्षा-पुस्तक भर देने वाले परीक्षार्थी को पहिले वर्ष-भर परिश्रम तथा तैयारी करनी पड़ती है। किसी दिन प्रातःकाल बैंक के द्वार पर दिवाला निकलने का नोटिस चिपकाने वाले बैंक के भागीदारों को भी चार-चार महीने पहिले से खटपट करनी पड़ती है। उसी प्रकार अपने मित्र तिंबूनाना की पुत्री ठकी के लिए वर खोजने के हेतु पूना जाने से पूर्व हमें बड़ी तैयारी करनी पड़ी।

सौन्दर्य-परीक्षण की अनेक दृष्टियों में सबसे तीक्ष्ण जो स्त्री-दृष्टि है, उसकी कसौटी पर भी ठकी का सौन्दर्य अद्‌भुत था, यह हमें ईमानदारी से स्वीकार करना पड़ेगा। ठकी की शरीर-कांति स्वर्ण रंग की है; केवल यह पता नहीं चलता कि वह स्वर्णिम कांति सुनहरी अथवा लाल स्याही से रची गई है। इस

रंग के कारण ही प्रायः अनुपस्थित भौंहों का अभाव अथवा नेत्रों से जबर्दस्ती बाहर निकलकर आसपास के प्रदेश को कालिमामय बनाने वाले काजल की अधिकता, ये दोनों ही बातें निरपेक्ष दर्शक के ध्यान में तुरन्त नहीं आतीं। महाकवि कालिदास ने शंकुतला के सौन्दर्य की उपमा लता से की है, वह ठकी के सम्बन्ध में भी, सत्य का आधार त्यागे बिना, सार्थक कही जा सकती है। इतना ही नहीं, लता से पूर्ण सादृश्य न होने के कारण शकुन्तला में जो एक बड़ी त्रुटि रह गई थी, वह भी ठकी में नहीं रह गई है। शकुन्तला के समान ठकी की भुजाएं लता को भी आच्छन्न करने वाली तथा उसके कर पल्लव सदृश तो हैं ही; लता के समान ही उसके एक नेत्र में फूल (फूली) भी है। सुन्दर स्त्री की तुलना अप्सरा अथवा देवांगना से कर उसे 'देवी' कहने की भी पद्धति है। इस दृष्टि से भी ठकी का सौन्दर्य कसौटी पर पूरा उतरता है। उसके मुख की ओर देखने मात्र से सहस्रों देवियों के दर्शन करने का अनुभव तो होता ही है, पंढरपुर के नियमित भक्त को आलंदी (स्थान विशेष) के वक्र-तुंड विठोबा का भी स्मरण हो उठता है क्योंकि ठकी की गर्दन निसर्ग से कुछ-कुछ दाहिनी ओर मुड़ी हुई है। अतः उसके सीधी खड़े रहने पर भी सामने से देखने वाले को ऐसा लगता है जैसे वह परेड में 'आइज़ राइट' की मुद्रा में खड़ी हो। यदि कभी आप उसे कमर-कसे सैनिक के समान डट कर खड़ा हुआ देखें, तो आपको उसके प्रति वही अपूर्व कौतूहल होगा जो दांई ओर को मुड़ी सूंड़ वाले दुर्मिल गणपति को अथवा बांई ओर को मुख फेरे मारुति को देखकर होता है।

सौन्दर्य की ओर देखने की अनेक दृष्टियां होने के कारण कविता के समान सौन्दर्य की भी पूर्ण व्याख्या संभव नहीं है, यह कोई भी समझदार व्यक्ति मान लेगा। काशी के अयोध्याप्रसाद की अर्धांगिनी को यदि अपने पति के दाढ़ी-मूंछों के घने जंगल में सृष्टि-सौन्दर्य दिखाई देता है, तो रामेश्वर के विजरंगी की पत्नी अपने पति के कंधे पर चौबीस घंटे निकले हुए नारियल के खोखे के सदृश कूबड़ में ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा पाती है। हिन्दुस्तान के पूर्व में चीनी स्त्री यदि लिहंगचंग की गज-भर की चोटी के पाश में उलझ जाती है, तो भारत के पश्चिम में हब्शिन अपने हब्शी के सिर पर चिउटों के सदृश थोड़े-थोड़े उगे हुए बालों पर मुग्ध होती है। महाराष्ट्रनिवासी जिस कुंदकली सदृश शुभ्र दंतपंक्ति पर गर्व करते हैं, उसे देखकर अपनी रंगी हुई बत्तीसी दिखाकर बर्मा की स्त्री उपहास किये बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार यदि पीतवर्ण चीनी पुरुष अपनी सहधर्मचारिणी के लोहे के जूतों के प्रयोग से छोटे बने चरणों को देखकर प्रसन्न होता है, यदि श्वेतवर्ण यूरोपियन चमड़े की पट्टियों की सहायता से पत्नी के कटिप्रदेश की मोटाई रोकने में आनन्दानुभव करता है, तो कृष्णवर्ण हिन्दू अज्ञान

की पट्टियों द्वारा अपनी गृहदेवी के बुद्धि-विकास को रोकने में अपने को धन्य समझता है।

सौन्दर्य-निरीक्षण की पद्धति देश-देश के समान ही व्यक्ति-व्यक्ति में भी भिन्न-भिन्न होती है। ऊंट की तरह अठारह स्थानों पर वक्रता प्रदर्शित करने वाली तथा विश्व-सौन्दर्य का दिठौना कहलाने वाली कुब्जा को देखकर, करोड़ों गोपियों के साथ विहार करने वाले कृष्ण की चंचल दृष्टि, मानों जादू की शक्ति से, वहीं केन्द्रित हो गई थी; नीली स्याही के समान राम के नीले रंग पर सीता माता मुग्ध हो गई थीं; यथानाम तथागुण वाले अष्टावक्र की पत्नी ने अथवा सूप की तरह बड़े-बड़े नखों वाली शूर्पणखा के पति ने अपने-अपने प्रेम-पात्र के प्रति कभी चखचख की हो, ऐसा पुराणों में कोई प्रमाण नहीं मिलता। नागकन्या उलूपी द्वारा कण्ठालिंगन करते समय अर्जुन ने उसकी पूंछ की ओर देखकर कभी यह नहीं सोचा कि यह बला कहां से सिर पड़ गई अथवा श्रीमती सौभाग्यवती हिडिंबा के ताड़-सरीखे नुकीले दांत व विकराल दाढ़ों को देखकर युवराज भीम, कपोलों पर दंतव्रण कर देगी, इस आशंका से सूतभर भी पीछे नहीं हटे। अधिक क्या, अपनी रूपगुण सम्पन्न पत्नियों को परदेश में रखनेवाले तथा उच्छिष्ट जोबनरस का उपभोग करनेवाले पिछली पीढ़ी के रंगीले नरश्रेष्ठ हमारे बालिश्त-भर के महाराष्ट्र जन-समुद्र की कीचड़ में इतने मिलेंगे कि उनकी अच्छी खासी सेना बनाई जा सकती है। सारांश यह है कि सौन्दर्य की परिभाषा अस्पष्ट व लचकीली होने के कारण काले-कलूटे, नकटे तथा कुब्जा के वंशज भी घंटों दर्पण के सम्मुख खड़े-खड़े बन्दर की सी चेष्टाएं करते दिखाई देते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य के सम्बन्ध में भी 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' लागू होने के कारण कुछ पाठकों को ठकी का सौन्दर्य संभवतः अरुचिकर ही नहीं हास्यास्पद भी लग सकता है और वे यह तर्क भी प्रस्तुत कर सकते हैं कि इतने प्रयत्न करने पर भी उसके विवाह न होने का कारण उसकी कुरूपता ही है। परन्तु धर्म-राज हरिश्चन्द्र सरीखे पौराणिक पुरुषों की सत्यप्रियता का स्मरण कर मैं पहिले ही पाठकों को बताए देता हूं कि भले ही ठकी के विवाह में और सत्रह विघ्न पड़े हों, पर मुझे स्मरण नहीं कि किसी ने सौन्दर्य के कारण उसे अस्वीकार किया हो। अड़चन पड़ने के मुख्य कारण सदा दहेज, वस्त्र, लग्न-पत्रिका सरीखे महत्त्वपूर्ण विषय रहे। हां, एक तरुण, नटखट सुधारक ने कुंडली मिलने पर भी केवल यह कहकर कि लड़की पसन्द नहीं है, हमारा प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था। उसके इस कार्य से स्पष्ट है कि आजकल विवाह-सरीखे धार्मिक कृत्यों में भी सुधार के नाम पर बड़े-बूढ़ों की अवज्ञा करने का जो उपद्रव तरुणों ने मचा रखा है, उसी पर लीपापोती करने के लिए उस युवक ने यह बचकना कारण हमारे सामने रखा था।

हे भगवान, अच्छे-बुरे का विवेक होने से पूर्व ही विवाह की शृंखला में अपने को जकड़ कर मुक्त हो जानेवाले अथवा दहेज की बात तै होते ही पिता से तार द्वारा तिथि निश्चित होने की सूचना पाते ही वीर सेनानी के समान विवाह-मंडप में सुमुहूर्त में आ धमकने वाले हमारे पितृ-भक्तिपारायण आर्य वर आज कहां चले गए ?

सुधारकों को कन्या देने की गल्ती हमारे हाथों नहीं हुई, यह सोचकर हमें बड़ा संतोष हुआ, क्योंकि एकदिन एक सुधारक हमें मुसलमानी होटल में खुल्लम-खुल्ला चाय पीते हुआ दिखाई दिया। जाति का हिन्दू, पर संस्कारों से अहिन्दू। उस दिन जनाब की दृष्टि हम पर नहीं पड़ी क्योंकि हम एक कोने में दुबके हुए थे। प्याली की गर्म चाय पर फूंक मारने के बहाने तिबूनाना उस भ्रष्ट सुधारक के प्रति निराशा की दीर्घ निश्वास छोड़ने लगे थे। नाना के मनोभाव को शाब्दिक स्वरूप देने के लिए मैं बोला, "नाना, अच्छा हुआ। इस नष्टकर्म के गले में हमने अपनी ठकी नहीं बांधी। मेरे विचार में तो सुधारक को लड़की देना उसके पुन-र्विवाह के समान ही है। ऐसा करने की अपेक्षा लड़की को शराबघर में ले जाकर वहां शराब के पीपे में ढकेल देना क्या बुरा है ? (सुधारक शब्द सुनते ही नाना को केवल दो बातों का बोध होता है—शराब और पुनर्विवाह) देखो, अपने को कहता हिन्दू है और चाय पीता है मुसलमान की दुकान में। नाना, इन महाशय जी की अक्ल अभी ठीक करता हूं। (जोर से) अरे महोदय। तुम्हारे पिता तो हिन्दू ही थे न ?"

प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही जनाब वहां से भाग खड़े हुए। प्रश्न में थोड़ा व्यंग था न, अतः जनाब खिसिया गये होंगे, और क्या ? हमारे निकट की मेज पर बैठे दो-चार मुसलमान हँसने लगे थे। स्पष्ट है कि वे हमारी धार्मिकवृत्ति पर हँसते होंगे। उनकी हँसी से बेचारे तिबुनाना अवश्य लज्जित से हो उठे। ठीक ही है। अपने सनातन समाज के जातिबंधनों को इस प्रकार तड़ातड़ टूटते हुए देखकर किसका हृदय नहीं टूटेगा ? हमारे धर्म-संरक्षकों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। प्राचीन समय में द्वैतमत का खंडन कर अद्वैत की स्थापना करनेवाले आद्य शंकराचार्य ने अपनी अकेली सामर्थ्य से भगवान द्वारा निर्मित चार वर्णों की एकदम अठारह जातियां कर डाली थीं, आज भी तो सौ डेढ़ सौ-रुपया वसूल करने के लिये वर्ष-भर में लगभग पांच-दस शंकराचार्य आते ही हैं। क्या वे सब मिलकर अठारह तरह की पगड़ी पहनने वाली जाति, (महाराष्ट्र में भिन्न-भिन्न वर्ग के भिन्न-भिन्न तरह की पगड़ी पहनते थे) की अठारह सौ उप-जातियों को छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते ? उधर सुधारक-लोग कोंकणी तथा देशी के बीच का भेद केवल प्रांतिक कहकर समाप्त करने की खटपट में हैं, तो इधर हम कोंकणी, रत्नगिरी, कुलाबा, देशी, सोलापुरी आदि ज़िलेवार भेद उत्पन्न

कर तथा कुटुम्बों पर आधारित जातियां निर्माण कर और सबमें रोटी-बेटी के व्यवहार पर कड़े प्रतिबंध लगाकर सनातन धर्म को क्यों न दृढ़ बनाएं ? ऐसे प्रयत्नों से सुधारकों का अवश्य पराभव होगा। पर ध्यान कौन देता है ? एक आधुनिक कवि का यह कथन "धर्म गुरू ते निःसत्व रंडधारी" तनिक भी असत्य नहीं है।

धर्म-विषयक इस विषयांतर के लिए पाठकों से क्षमा मांगते हुए तथा उन्हें पुनः यह बताते हुए कि सुधारक के अतिरिक्त किसी अन्य ने ठकी के सौन्दर्य की निन्दा नहीं की, मैं आगे की बात कहता हूं।

पहिले दो-तीन वर्ष तक तो पूना के वरों पर हमारी वैवाहिक चढ़ाई उसी प्रकार होती रही, जिस प्रकार महमूद गजनवी भारत पर लगातार सत्रह वार आक्रमण करता रहा था, पर फिर भी असन्तुष्ट रहा। हम लोग उस बड़े शहर में चार-छः दिन बाद चक्कर काटते। पर इस बार हमने अपनी पुरानी नीति बदल कर मुहम्मद गौरी की चिर साम्राज्य-स्थापन की नीति का अबलम्ब ग्रहण कर पूना में चार-छः महीने निरन्तर रहने का निश्चय किया। वर्षा के चार मास हमने अपने गांव में ही रहकर विवाह-विषयक वाङ्मय पढ़ने में बिताए। उसमें हमारा हेतु यह था कि हम पहिले से ही गोत्र, कुंडली, जाति, कुल आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लें जिससे आगे चलकर समय नष्ट न हो। अतः हमने 'मनुस्मृति', 'विवाहविधि', 'वरवधू की जोड़ी,' 'पाराशरस्मृति', 'मेन्स हिन्दू लॉ', 'मिताक्षरी टीका', 'बलपूर्वक विवाह', 'लग्न संस्था' आदि विवाह-विषय पर लिखी भिन्न-भिन्न पुस्तकें पढ़ डालीं। और मैंने तो पुनर्विवाह पर भी एक दो पुस्तकें पढ़ीं। इस प्रकार विवाह की खटपट करते हुए हमें जिन अड़चनों का सामना पहले करना पड़ा था, उनका निराकरण अबकी बार पहिले से ही करने का निश्चय था। विषयारंभ में ही गोत्र तथा कुलनाम के कारण 'प्रथमग्रासे माक्षिकापातः' न हो, अतः पहिले से ही हम दोनों ने अपने वास्तविक कुल-नाम बदलकर क्रम से देशपांडे व कुलकर्णी जैसे संदिग्ध स्वरूप के सामान्य नाम धारण कर लिये और ठकी के मामा को, उन्हें बिना बताये, जोशी बना दिया। ज्येष्ठ मास में ज्येष्ठ लड़के का विवाह करने की रीति नहीं है, ऐसा ज्ञात होने पर, ज्येष्ठ पुत्र के पिता से हमने ज्येष्ठ मास में बातचीत करने में भी समय नष्ट न करने का निश्चय किया। इतना ही नहीं, यदि किसी के आवश्यकता से अधिक बच्चे होते, तो हमने यह निश्चय किया कि उसके पास अधिक नहीं जाएंगे। एक बार हमारे कपड़ों से हमारे दारिद्रय तथा दहेज का अनुमान लगाकर एक श्रीमंत ने हमें अपनी ड्योढ़ी से ही विदा कर दिया था। अतः इस बार पूना जाने के लिये अच्छे वस्त्रों के लिये हम दोनों ने 'बजेट' मंजूर कर दिया। तिबूनाना की पत्नी चार वर्ष में ही मर गई थीं और इस वजह से भी एक स्थान पर विवाह में

अड़चन पड़ी थी। सारी बातें तय हो जाने पर भी विवाह केवल इस कारण नहीं हो सका था कि लड़की के मां नहीं है। उसकी पुनरावृत्ति न हो, अतः नाना ने पहिले ही मुहूर्त में अपने को चतुर्भुज कर डाला था तथा 'प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या' इस सिद्धान्त के अनुरूप निश्चय कर लिया था कि अबकी बार विवाह की बात-चीत के समय वह अपनी नयी पत्नी को साथ ले जायेंगे। यह सर्वविदित है कि कुछ पुराने विचारों के लोग लड़की की उम्र अधिक देखकर 'कां-कूं' करते हैं। इस अड़चन को दूर करने के लिये हमने पूर्व-अवसरों पर चित्रगुप्त की बही पर डाका डालकर ठकी की वय चुराने का अभ्यास कर रखा था। पर एक बार इस प्रवंचना के प्रकट हो जाने के कारण हमारे हाथ लगा एक वर हमें गंवाना पड़ा था। अतः इस बार हमने नई ही तरकीब सोची थी। ठकी की वय बतलाने में नमक-मिर्च लगाने के स्थान पर हमने ठकी से नमक खाना बिल्कुल छुड़वाकर तथा उसे केवल एक बार खाना देकर उसकी वय में पर्याप्त काटछांट कर दी थी और अपने मित्र चितोपंत के सुझाव के अनुसार बैल की तरह ठकी को भी गर्म पानी का रातब देना शुरू कर दिया था।

इसी प्रकार का भ्रम एक बार विवाह-कुंडली के विषय में हो गया था। ठकी मंगली है या नहीं, इस विषय में मैं उतना ही परिचित था जितना गेगिरा-मीस रानी की पहिली मंगलगौर किस वर्ष हुई थी, उस विषय में। विवाह-कुंडली को देखकर मुझे उस सम्बन्ध में उतना ही बोध होता, जितना डाक्टर द्वारा लिखे नुस्खे को देखकर उसके बारे में। मेरी अस्पष्ट-सी धारणा थी कि वही सन्तान मंगली होती है जो मंगल के दिन जन्म लेती है। एक जगह जब सब बातें बिना किसी झगड़े के तै हो गईं और यह निश्चय हो गया कि लड़का अमंगली है और लड़की भी मंगली नहीं है, तो उसके पिता ने विवाह की तिथि निश्चित करना स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन हम ठकी की एक जाली जन्म-पत्री तैयार कर, उसमें से मंगल को पूरा अर्धचन्द्र देकर, वर के पिता के पास पहुंचे और पत्री उन्हें दे दी। पत्री की ओर बहुत देर तक देखने के बाद तथा उसमें मंगल-सम्बन्धी उल्लेख न होने के कारण जब उन्होंने अपनी शंका व्यक्त की तो मैं भोले-भाले बालक की निर्दोष हास्यमुद्रा में बोला, "भूल से नहीं रहा है। जब लड़की को मंगल है ही नहीं, तो पत्री में वह कहां से आता ?"

यह उत्तर सुनते ही उन सज्जन ने पत्री जमीन पर फेंक दी और उनके लाल नेत्रों में एक की बजाय दो-दो मंगल दिखने लगे। उनके इस प्रकार मंगल-दृष्टि से देखने के कारण हम भी शनि सरीखे काले ठिक्कर पड़ गए और फिर जो दशा हमने जन्म-पत्री में से मंगल की की थी, वही उन्होंने हमारी की। इस अनुभव के कारण यह निश्चय हो जाने पर कि बनावटी मृत्यु-पत्र की तरह बनावटी जन्म-पत्री बनाने के लिये भी एक निष्णात जालसाज चाहिये, इस वर्ष हम अपने साथ

अपने आबाभट जी को ले गए। इस बार विवाह-सम्बन्ध तै किये बिना हम वापिस नहीं लौटेंगे, इस प्रतिज्ञा के कारण चतुर्मास में ही निश्चित कार्य को पूर्ण करने के लिये हमने आगे लिखी दूरदर्शिता और सावधानी बरती। व्यंकट गिरि जाकर अथवा कृष्णा-नर्मदा के मध्यवर्ती प्रदेश को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी यहां तक कि सिंह-स्थान में भी विवाह करने में चतुर्मास कोई आपत्ति नहीं है, यह बात हमने पुराने-धुराने कागज पर हल्की स्याही से लिखकर, उसे तनिक और पुरातन रूप देने के लिये मंद-मंद आग से थोड़ा-सा तवे पर तपाया, तदुपरान्त उसे पुरातन धार्मिक आज्ञापत्र का पूर्ण रूप देने के हेतु उसके नीचे ऐसे काल्पनिक वेदोनारायण के नाम लिख दिये जिनकी जन्मपत्री भृगुसंहिता में भी नहीं है और अन्त में माहुली के रामशास्त्री प्रभुणे और काशीकर गागा भट्ट के हस्ताक्षर भी उस पर करा लिये।

गतवर्ष पूना के तांगे वालों से भाड़ा निश्चित करने में हमारी आधी से अधिक शक्ति नष्ट हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप लड़कों के पिता से दहेज विषयक मोलतोल करने की शक्ति ही हममें नहीं रह गई थी। अतः इस बार हमने नाना की बड़े बांसों की गाड़ी पूना ले जाने का निश्चय किया। एक शुभ मुहूर्त देखकर तिंब्रूनाना, नई भाभी, ठकी, नाना की लड़की चिमणी, आवा भट्ट जी, रंगू गाड़ीवान, दो बैल और मैं अपने-अपने सामान के साथ गाड़ी लेकर चल पड़े। हमारे साथ सामान काफी था। ठकी और नई भाभी के कपड़ों का बक्सा, शृंगार-दान, पेटी, हमारी पोटरी, दो-चार बिस्तर, आबा का औषधियों का झोला, तम्बाखू का बटुवा, कीर्तन के लिये पखावज, और खूंटी रहित टूटे तारों का सितार, चिमणी की स्लेट-पैन्सिल, रंगू की गुदड़ी और कम्बल, हमारे बर्तन, चार मास के लिये नाज आदि सब प्रकार के सामान से हमारी गाड़ी एक छोटी सी प्रदर्शनी ही बन गई थी।

पूना आते ही सर्वप्रथम हम पोशाक का 'एस्टिमेट' करने लगे। उद्धारक अथवा सुधारक किसी के भी घर में प्रवेश करने में कठिनाई न हो, अतः नाना ने पुरानी चाल के तथा मैंने नये फैशन के कपड़े सिलवाना निश्चित किया। साधारणतः हम दोनों के 'कम्पलीट आउटफिट' में लगभग पांच सौ रुपया खर्च हो जायगा, यह सुनते ही खुले मैदान में होते हुए भी तिम्बूनाना का दम घुटने लगा। नाना की चुटकी लेने के उद्देश्य से मैं हंसते-हंसते बोला "नाना, इस समय पांच सौ रुपये के कपड़े बनवाते हुए हिचक रहे हो, कल को जामाता के लिये कपड़े बनवाते समय क्या करोगे ?"

नाना ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया, "पगले बालकराम, व्यर्थ पैसा पानी में डालने से क्या लाभ ? तेरे कपड़ों पर किया खर्च शुद्ध धन-नाश है। क्या तू भूल गया कि जामाता तो वस्त्रों के साथ-साथ ठकी को भी गृहण करेगा। अतः उसके

लिये तो खर्च करना ही चाहिये। चल, तू ठकी को गृहण कर और···फिर चार दिन बाद मुझे होश आया।

एक अस्पताल की दुग्ध-धवल चादर के ऊपर मुझे लिटाया हुआ था। मेरे लोहे के पलंग के सिरहाने तिबूनाना बैठे हुए थे। मेरे शरीर में व्याप्त ज्वर-ताप बालिश्त-भर के थर्मामीटर में नहीं समा सकता था। अतः डाक्टरों ने ताप की डिग्री नापने के लिये सात-आठ फीट लम्बे तीन-चार बैरोमीटर ला रखे थे। पास ही दस-बीस लोगों का झुंड बैठा था। उनकी ओर जिज्ञासापूर्ण दृष्टि करते ही नाना ने निम्नलिखित बातें बताईं।

ठकी के विवाह के चक्कर में मुझे नाना के साथ इतने अधिक चक्कर लगाने पड़े थे कि उपर्युक्त प्रसंग के समान विनोद-चर्चा भी मेरे हृदय को गहरा आघात पहुंचाने लगी थी। इससे काम में बार-बार बाधा उपस्थित होने की आशंका थी। अतः नाना ने मेरा कोमल हृदय निकालकर उसके स्थान पर ऐसे प्रसंगों से सहज ही टक्कर लेने योग्य दृढ़ हृदय बिठाने के लिये चार साधारण डाक्टरों, तीन देशी वैद्यों, एक पशु-डाक्टर, दो बढ़ई, एक खटीक, एक चमार, इन सबकी एक कमेटी बिठा दी थी। उस समय वह कमेटी उस विषय की ऊहापोह कर रही थी और बीच-बीच में मेरी ओर देखती जाती थी। उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उपचार बता रहा था। मेरे जन्मकालीन हृदय-पिंड को निकालने के विषय में सभी एकमत थे। वादविवाद केवल नये हृदय के सम्बन्ध में था। डाक्टरों का सुझाव था कि किसी मृत व्यक्ति का अच्छा-सा हृदय देखकर वह बिठा दिया जाय, खटिक बकरे के कलेजे के पक्ष में था, वैद्यमंडली चाहती थी कि हृदय-स्थान में एक हाथ लम्बी कुरंदा की शलाखा रख दी जाय। बढ़ई का कथन था कि साल और सफेदा की बराबर-बराबर लकड़ी लेकर, उसकी पोटली गीदड़ की खाल में लपेटकर हृदय-स्थान पर रखी जाय। पशु-डाक्टर की सिफारिश थी कि पागल कुत्ते की जीभ का टुकड़ा प्रयुक्त किया जाय और चमार छाती पर हाथ ठोक कर कह रहा था कि मेरे नाजुक हृदय के दोनों ओर दो पुराने जूतों का सूखा तला जोड़ देने से फिर दो वर्ष तक इलाज की आवश्यकता नहीं होगी। अन्त में डाक्टरों की विजय हुई और कमेटी ने अपना निर्णय नाना को बता दिया।

उस दिन अस्पताल में एक मारवाड़ी, एक तरुण सुधारक एवं एक डाकू के शव आए थे। मारवाड़ी जी के घर में उनकी तीन विधवा पुत्री, दो तरुण विधवा बहिन, तथा वृद्धावस्था में किए विवाह के कारण दो बच्ची जैसी पत्नियां थीं। इस प्रकार घर में स्त्रियां ही स्त्रियां होने से श्मशान-यात्रा की व्यवस्था करना कठिन होगा, यह समझकर वह दूरदर्शिता पूर्वक मरने के लिये अस्पताल आ गए थे। जीवन भर सुधार की लम्बी चौड़ी बातें करने के बाद एकाएक पत्नी के परलोक-वासी होने के कारण अपने ऊपर आए पुनर्विवाह के प्रसंग को टालने के लिये

सुधारक जी ने अफीम खाकर प्राण-त्याग किया था। और दिन-दहाड़े एक स्थान पर डाका डालते समय चोरी का पता लग जाने के कारण डाकू महाशय को चौथी मंजिल से कूदने के परिणामस्वरूप प्राण त्यागने पड़े थे। तीनों शवों की चीर-फाड़ करने पर पता चला कि सुधारक जी का हृदय तो मेरे हृदय से भी दुर्बल था, सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर भी शास्त्री जी के हृदय का पता ही न लगा। अतः यह समझा गया कि उनके हृदय था ही नहीं; और डाकू का हृदय कलेजा सहित उल्टा लटका हुआ दिखाई दिया। अन्त में सर्वसम्मति से उसी को चुना गया। तत्पश्चात् दो दिन तक मुझे कोकीन के पीपे में डालकर मेरा हृदय काटा गया और उसके स्थान पर उस डाकू के उल्टे हृदय को सीधा कर मेरे शरीर में चिपका दिया गया और वह निरन्तर चलता रहे, इसके लिए एक रास्कोप सिस्टम लिव्हर वाच हमेशा के लिए चाभी भरकर उसपर रख दी गई। इस प्रकार यह आपरेशन सफल हुआ और हम अपने काम में लगे।

उपर्युक्त विवरण पढ़ते हुए पाठकों को एक-दो बातें अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होंगी, पर मैं ईश्वर का स्मरण कर कसम खाता हूं कि उपर्युक्त विवरण में यदि एक भी अक्षर असत्य हो, तो जिस कलम से मैं लिख रहा हूं उसका निब कुंठित हो जाय। (मैं नई ले आऊंगा --बालकराम)

नाना अपने लिये दक्षिणी फैशन का घुटनों से बात करने वाला मलमल का अंगरखा साथ लाये थे। उसकी बाहें चुन्नटदार थीं, अतः उनमें से हरेक की लंबाई इतनी थी कि यदि दोनों के हाथ-हाथ भर के टुकड़े कर दिये जायं तो हजार हाथों वाला सहस्रार्जुन भी सूत भर कपड़ा जोड़े विना उसका उपयोग कर सकता था। नाना ने अपनी तरुणावस्था में एक बार 'विदाउट टिकिट' यात्रा करके देखा था। उस समय उन्होंने यही नीले रंग का अंगरखा पहन रखा था। बोरीबंदर स्टेशन पर टिकिट-कलेक्टर से 'यस' कहकर जब वह सर्र से जाने लगे, तो उसने नाना का हाथ पकड़ लिया, पर नाना को यह बात गिरगांव पहुंचने तक पता ही नहीं चली, ऐसा वह एक बार कह रहे थे। कुछ देर बाद चुन्नटदार बांह को झटका देकर टिकट-कलेक्टर ने नाना से वाजिब पैसे वसूल किये। इस अंगरखे को पहनकर नाना को इंद्रायणी, मुलामुठा आदि नदियां 'हाथ भर लंबे सोते' जान पड़ते थे। नाना के दादा को विवाह के समय पोशाक में मिली डेढ़ सौ हाथ लम्बी पगड़ी, जो मूलतः तांबे के वर्ण की थी, पर अब पुरानी होने के कारण काले रंग पर भी अधिकार किये हुए थी, नाना अपने साथ शुभ समझकर लाये थे। चूंकि पूना के सारे पगड़बंदों ने मिलकर भी उसे पुनः बांधने के लिये कम से कम एक वर्ष का समय चाहा था और खडकवासला के बांध में कपड़े धोने की आज्ञा न होने के कारण धोबियों ने 'टाटा स्कीम' का तालाब तैयार होने तक उनसे धैर्य रखने के लिए कहा था, अतः नाना को वह पगड़ी अपने पुराने स्वरूप में ही पहनने का निश्चय करना

पड़ा। बीच बीच में उस पगड़ी को विश्राम देने के उद्देश्य से नाना अपने साथ एक पुराना साफा भी लाये थे। मनुष्य-सृष्टि के समान वस्त्रसृष्टि में भी परस्पर सम्बन्ध-सूत्र काल के साथ दृढ़ न होकर शिथिल पड़ते जाते हैं, अतः नाना के साफे तथा उसके जरीदार किनारे के सूत्र भी आजकल परस्पर जम नहीं रहे थे, वे एक दूसरे से इतने विच्छिन्न होते जा रहे थे कि दूर से देखने वाले को भी उनकी यह दयनीय स्थिति दृष्टिगत हो जाती थी। उनको कुछ देर के लिये सुसम्बद्ध करने के हेतु नाना को साफा बांधने के बाद उसके लटकते जरी के किनारे को गुड़मुड़ कर रखना पड़ता था। वह साफा दाब-दूब कर बांधे जाने के उपरान्त गुजराती नाटक में राजा के सिरबंद की तरह दिखता था और एकाध बार किनारे के उल्टी ओर रखे जाने के परिणामस्वरूप ऐसा लगता जैसे वह लुहार की बैडोल पगड़ी हो। नाना की पोशाक में बित्ता भर चौड़ाई के नागपुरी रेशमी किनारी के दुपट्टे का उल्लेख करने से उसका वर्णन पूरा हो जाता है। जीर्ण होते हुए पौर्वात्य कारीगरी के निदर्शन अब इस वस्त्र में अपने-आप ही नाटिंगहम के जालीदार विलायती कपड़े की पारदर्शकता का अद्भुत गुण आ गया था। अतः उसमें से दूसरी ओर के पदार्थ भी स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। पुराना होने के कारण नीले बने इस अम्बर पट के ठीक मध्य में बिलकुल नये मोटे कपड़े की थेगली पूर्ण चन्द्रबिंब की तरह चमकती थी। यह चन्द्रकला दिन में मानव शरीर पर न दिखाई दे, अतः नाना को अपना दुपट्टा ठीक से संभालकर इस प्रकार पहनना पड़ता था कि केवल उसके किनारे से उनकी कमर ही ढक पाती थी।

मेरी पोशाक कुछ अधिक सुसंस्कृत फैशन की थी, यह मैं पहिले ही बता चुका हूं। परन्तु नये फैशन में प्रकट होने की लालसा से मैंने प्राचीनता को पूर्णतः नमस्कार करने जैसा अन्धानुकरण नहीं किया था। जूतों के फीते तथा जेब के रूमाल के अतिरिक्त शेष सब वस्तुएं न केवल पुरानी थीं अपितु उनमें से अनेक पुराने कबाड़ियों के यहां से खरीदी हुई थीं, यह बताने में मैं गर्व का अनुभव करता हूं। पहिले-पहल जब पगड़ी का फैशन चला, उस समय नाना के पिता ने एक सुन्दर पीली पगड़ी खरीदी थी। नाना ने मेरे लिये उसका जीर्णोद्धार करने का निश्चय किया। शंकर की जटाओं में से निकलने वाली गंगा की धारा के सदृश ऊपर से झांकने वाली पगड़ी की कलंगी काल-पुरुष के भारी पैरों के नीचे दबकर पगड़ी के घेरे में ही समा गई थी। उसकी जरी काली पड़ जाने के कारण नारियल के रेशों अथवा जली हुई गुझिया के समान दिखने लगी थी। उच्चकुलों की असूर्यसम्पश्या कुलवधुओं के समान आज उसने भी कितने ही वर्षों से सूर्य-प्रकाश के दर्शन नहीं किये थे। कदाचित् इसीलिये उस कुलवधू की प्रवृत्ति अपने स्वामी के सिर पर बैठने की बजाय उसके चरणों में लोटने की हो गई थी। अन्त में मैंने भी आर्य-पति का पूर्ण अधिकार उपभोग करते हुए चमड़े के एक छोटे से फीते की सहायता

से उस पगड़ी को अंग्रेजी की तरह सिर पर धारण कर लिया था। मैंने अपने ताम्रवर्णी कफ को ऊपर की ओर खींच लिया था और उसके ढीले गिरते हुए कालर पर जबर्दस्ती एक नया कालर चढ़ा लिया था। कबाड़ी बाजार से एक काबुलीवाले के पास से एक खाकी रंग की पतलून और अंग्रेजी सैनिक का खाकी रंग का जीन का कोट बिल्कुल सस्ते दामों मिल जाने से मुझे नये कपड़े खरीदने की झंझट में बिल्कुल नहीं पड़ना पड़ा था। कोट की सिलाई जगह-जगह उधड़ी हुई होने के कारण उसमें यह भी सुविधा थी कि यदि कोई लड़का अनाप-शनाप दहेज मांगे, तो उसे बग़ल दिखाई जा सकें। पतलून के बायें पायचे में घुटने के नीचे जाजम के पुराने टुकड़े का जोड़ लगा होने के कारण दूर से देखने पर ऐसा लगता था जैसे मेरा एक पैर लकड़ी का हो। हमने जो घर रहने के लिये लिया, उसमें पहिले एक सेना का विदेशी पेन्शनर जमादार रहता था और वह घर छोड़ते समय अपने पुराने जूतों का एक जोड़ा छोड़ गया था। वह अनायास ही हमारे लिये उपयोगी सिद्ध हुआ। वहां एक मोज़ों का जोड़ा भी मिला जिसका तला फट चुका था। एक प्रकार से यह अच्छा ही हुआ क्योंकि पुरानी चाल न त्यागते हुए भी मैं अधिकाधिक अपटुडेट बनना चाहता था। पतलून पहिले से ही ऊंची होते हुए भी मैं उसे चार-चार अंगुल और मोड़ लेता था। इस प्रकार उन जूतों को पहनकर तथा मोजे इच्छानुसार ऊपर चढ़ाकर पिंडलियों को ढका जा सकता था। नाना के दुपट्टे के ही भाईबंद मेरे कटि-प्रदेश और कंधों पर क्रीड़ा करते थे। मेरे हृदय-प्रदेश में चूंकि घड़ी रखी हुई थी, अतः बाहर से मैंने केवल एक जंजीर ही जेब में लटका रखी थी। कहना न होगा कि मैं उस घड़ी की ओर केवल अध्यात्म-दृष्टि से ही देख सकता था। दुपट्टा अस्तव्यस्त न हो, अतः पिनों की सहायता से मैंने उसे लंबे-चौड़े गुलूबंद का रूप दे रखा था। जेब का रूमाल बार-बार न ढूंढ़ना पड़े, अतः मैंने पिन की सहायता से स्याही-सोख्ते का एक टुकड़ा एक ओर को लटका लिया था। पसीना पोंछते समय सोख्ते का प्रयोग करने के कारण रूमाल जैसे का तैसा जेब में रखा रहता था। इस प्रकार काले बूट, सफेद मोज़े, खाकी पतलून, ताम्रवर्णी कोट और पीली पगड़ी—इस प्रकार की बहुरंगी पोशाक पहनने के कारण मैं अक्षरशः पंचरंगी तोता दिखाई देता था और कभी-कभी तो दुपट्टे को गले में लपेटकर तथा गर्व से दोनों छोर गले में डालकर कंठ में रेखाएं होने का प्रमाण भी दे देता था।

'आदमी एक, पर कपड़ों के कारण अनेक' यह उक्ति असत्य नहीं, क्योंकि तिंबूनाना तो एक ही थे पर कपड़ों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर वह भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते थे। दुग्ध धवल चरणों को स्पर्श करने वाला अंगरखा, कमर के चारों ओर दुपट्टे की पट्टी तथा ऊपर लंबी-चौड़ी पगड़ी धारण करने के बाद वे कृष्णशास्त्री चिपलूणकर, सर दिनकरराव राजवाडे, केरुनाना छत्रे आदि विगत

शताब्दी के मध्याह्न के प्रचंड सूर्य जैसे लगते थे। पगड़ी उतारकर जब उसीका सफेद फेंटा अच्छी तरह बांध लेते, तो वही तिबूनाना रेलवे-स्टेशन के रिफ्रेशमेंट-रूम के द्वार पर खड़े वेटर की तरह दिखने लगते थे। और पगड़ी उतारकर नंगे सिर होने पर वह देशी मिशनरी लगते थे। पगड़ी को अस्तव्यस्त बांधकर गद्दी पर बैठते ही वह लखनऊ के नवाब अथवा मशीर-उलमुल्क बन जाते थे। उस समय मैं कमर में दुपट्टा लपेटे तथा जूता उतारे नंगे पैर ऐसा लगता था जैसे गाड़ी के पीछे खड़ा हुआ सईस हो।

मेरा आपरेशन होने तथा पोशाक बनने तक के समय में हमने अपनी तैयारी की छोटी से छोटी बातें भी पूरी कर डालीं। हमारी भीष्म-प्रतिज्ञा थी कि पूर्व-तैयारी में किसी प्रकार की कोई कमी न रहे। दहेज़ की रकम तै होने के बाद समय पर धनराशि मिल जाय, अतः हमने आबाभट जी को गांव भेजकर नाना की स्थावर-जंगम सम्पत्ति की विवरण सहित दस्तावेज़ तथा अन्य आवश्यक कानूनी पत्र मंगवा लिये थे। जन-गणना के कार्यालय में जाकर हिन्दुस्तान के छोटे-बड़े अविवाहित हिन्दू लोगों का आंकड़ा भी हम ले आये थे। भद्रेश्वर दीक्षित के पूना-स्थित सारे भाईबंदों को एकत्र कर वर ढूंढ़ने के हेतु हमने दसों दिशाएं छान मारीं। तमाम नाइयों को भाड़ा देकर इस बात पर राज़ी कर लिया कि वे हजामत बनाते समय अपने-अपने यजमानों से हमारी बात कहें तथा मोटे-मोटे अक्षरों का बड़ा-बड़ा विज्ञापन भी सारी दीवारों और बुर्जों पर चिपकवा दिया। विज्ञापन का मसौदा था—

"आएगी ! आएगी !! आएगी !!!
गत वर्ष की मंडली पुनः आएगी !!
नवीन पोशाक ! नवीन मंडली !!
ठकी के विवाह के लिये
अगले मास में
ठकी के साथ तिबूनाना,
आबाभट जी के साथ चिमणी।

जामाता को पोशाक सहित नाना की शुभ शकुनवाली पगड़ी वि० मा० ह० प० देखें।

मैनेजर, बालकराम

इस विज्ञापन के कारण पूना शहर में जिस-तिस की जिह्वा पर हमारा नाम आने लगा। साथ ही हमने उससे भी आगे एक पग बढ़कर स्थान-स्थान के समाचार-पत्रों और मासिक-पत्रों में निम्न आशय का विज्ञापन प्रकाशित करा दिया।

'विवाह के लिये तैयार वर चाहिये। वधूपक्ष की कोई शर्त नहीं। लड़की उत्तम, सुन्दर, आंख नाक से ठीक। वय में अपने छोटे भाई से कुछ बड़ी।

शरीर से सुदृढ़। बाल-मनोवृत्ति की। दहेज भरपूर। लड़की की जन्म-पत्री जैसी चाहिये। सौन्दर्य की प्रशंसा करने से कोई लाभ नहीं। जन्मान्ध भी उसके रूप से चकित होकर शून्य दृष्टि से उसकी ओर देखता रहेगा। दो लड़कियों के साथ एक साथ विवाह करने वाले को एक लड़की इनाम में। यह सुविधा तिबूनाना की छोटी चार लड़कियों के विवाह होने तक ही मिलेगी। शीघ्रता करें। तीन दिन के भीतर-भीतर विवाह करनेवाले नीचे हस्ताक्षर करनेवाले से स्वयं मिलें अथवा दिये पते पर पत्र-व्यवहार करें। डाकखर्च माफ।

तार का पता : बालकथा — बालकराम गणेश
टेलिफोन नं० : ११११ — पता—घर नम्बर, १०६
ग्रामोफोन नं० : २०३४२१७ — गुरुवार पेठ, पूना

विज्ञापन का मसौदा देखकर नाना बड़े प्रसन्न हुए पर लड़की के सौन्दर्य के सम्बन्ध में लिखे वाक्य को देखकर कुछ हतप्रभ हो गए। तब मैंने उन्हें समझाया, "नाना, यह विज्ञापन का युग है। आजकल के विज्ञापनों में अचूक गुणकारी औषधियों का जो भड़कदार वर्णन होता है, उनमें क्या औषधि जितना भी सत्य होता है? फिर हम ही लोगों की मूर्खता का लाभ क्यों न उठायें?"

इस प्रकार सब तैयारी हो जाने के बाद हमारी गाड़ी प्रतिदिन प्रातः से संध्या तक पूना शहर के बाजारों, गलियों, कूचों में फिरने लगी। पूना शहर की इस दिग्विजय में हमें कौन-कौन से अनुभव प्राप्त हुए, उनके सम्बन्ध में अगली बार (किसी की मांग न होने पर भी) बताने का वचन देकर इस समय मैं पाठकों से आज्ञा लेता हूं।

● ●

प्रतिनिधि साहित्य माला

Representative Literature Series

इस माला में राष्ट्र भाषा हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के अग्रगण्य साहित्यकारों के प्रतिनिध कहानी, नाट्य तथा काव्य साहित्य का संकलन-सम्पादन किया जा रहा है। हिन्दी में इस प्रकार का यह प्रथम प्रयास और योजना है। ये ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय वाचनालय और संस्था की शोभा बढ़ाएँगे।

हिन्दी लेखिकाओं की प्रतिनिधि कहानियाँ	:	सं० योगेन्द्रकुमार लल्ला : श्रीकृष्ण
बंगला की प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ (सचित्र)	:	सं० पृथ्वीनाथ शास्त्री : योगेन्द्रकुमार लल्ला
प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ (सचित्र)	:	सं० श्रीकृष्ण : मनमोहन सरल
पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियाँ	:	सं० डा० महीपसिंह
उर्दू की प्रतिनिधि प्रेम कविताएँ (कामरूप)	:	सं० फ़िराक गोरखपुरी
उर्दू की प्रतिनिधि हास्य कविताएँ (सचित्र)	:	सं० अर्श मलसियानी
प्रतिनिधि ऐतिहासिक कहानियाँ	:	सं० श्रीकृष्ण : मनमोहन सरल : अरुण
प्रतिनिधि हास्य एकाँकी	:	सं० श्रीकृष्ण : अरुण : सरल
प्रतिनिधि सामूहिक गान (रंगीन)	:	सं० श्रीकृष्ण : योगेन्द्रकुमार लल्ला
प्रतिनिधि बाल सामूहिक गान (रंगीन)	:	सं० श्रीकृष्ण : योगेन्द्रकुमार लल्ला
प्रतिनिधि बाल एकाँकी (सचित्र)	:	सं० श्रीकृष्ण : योगेन्द्रकुमार लल्ला
भारत की प्रतिनिधि लोक-कथाएँ	:	सं० जयप्रकाश भारती
प्रतिनिधि रंगमंचीय एकाँकी	:	सं० श्रीकृष्ण : योगेन्द्रकुमार लल्ला
प्रतिनिधि हास्य-व्यंग्य कविताएँ	:	सं० श्रीकृष्ण : योगेन्द्रकुमार लल्ला
गुजराती की प्रतिनिधि कहानियाँ	:	सं० कुन्दनिका कापड़िया : नीरज
प्रतिनिधि वैज्ञानिक कहानियाँ	:	सं० डा० नवलबिहारी मिश्र : श्रीकृष्ण : योगेन्द्रकुमार लल्ला
मराठी की प्रतिनिधि हास्य कहानियाँ	:	सं० डा० एस० एस० गुप्ता

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली